प्रलय से टकराते समाज और संस्कृति

सरदार सरोवर बांध से हुए विस्थापन के
संस्कृति पर पड़े प्रभावों का आकलन

चिन्मय मिश्र

सहयोग

सरोज मिश्र

विकास संवाद

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन	3
अपनी बात	7
प्रस्तावना	11
खापरखेड़ा अभी डूबा नहीं है	21
नर्मदाघाटी में जीवन का उद्‌भव	37
सरदार सरोवर परियोजना की कहानी	41
मध्यप्रदेश : शुरु होती है गाथा	55
महाराष्ट्र : आंतरिक विस्थापन भी विनाशकारी	103
गुजरात : वह औरत और बांध का सच	135
मध्यप्रदेश में वापसी : सीधी नदी की गोल परिक्रमा	155
निष्कर्ष	177
परिशिष्ट – 1	191
परिशिष्ट – 2	198
परिशिष्ट – 3	204
परिशिष्ट – 4	209



प्राक्कथन

विकास और विस्थापन की बहस से कई मर्तबा गुजरने के बाद हम सबके सामने यह सवाल आया कि बिजली या सड़क या कारखाने या किसी तानाशाह की मनोवृत्ति को संतृप्त करने के लिए जब विकास की परिभाषा गढ़ी जाती है, तब क्या – क्या घटता है? अक्सर बहस इस बात पर आकर टिक जाती है कि विकास के लिए विस्थापन जरूरी है और जब किसी का विस्थापन होता है तो उसका अच्छे से पुनर्वास होना चाहिए। बस यहाँ आकर विस्थापन से जुड़ी और बाकी की तमाम दुर्घटनाओं को विकास के कालीन के नीचे बुहार दिया जाता है। जो सवाल विकास के लाल मखमली कालीन के नीचे दबे हुए हैं (पर जिन्दा हैं) उनमे से एक सवाल उन समाजों की पहचान का भी है, जो विस्थापन की आंधी में इस तरह उड़ती है कि बस कुछ मत पूछिए।

हम सोचते हैं कि इस समाज में जितना विकास हो रहा है, उससे तो समाज और स्वतंत्र होना चाहिए, उसकी पहचान और साफ होना चाहिए। पर हो कुछ उल्टा रहा है। हम अब और ज्यादा संग्रहालय (म्यूजियम) बना रहे हैं। इन संग्रहालयों में हमें क्या देखने मिलता है? कुछ टूटे हुए बर्तन, कुछ घरों की प्रतिकृति आलों और ओटलों की नकल, पानी भरने वाले घडे, चटाई और खाट, अनाज रखने वाले मिट्टी के भंडार, बच्चों के खिलौने, उन चित्रों की प्रतिलिपि हैं जो घरों के दरवाजों पर उकेरे जाते रहे और भी शायद कई वस्तुएं!

कुल मिला कर समाज को हम दिखाते हैं कि देखिये। किसी जमाने में अलग–अलग समुदायों के लोग क्या करते थे, क्या पहनते थे, क्या गाते थे और कैसे रहते थे! वास्तव में संग्रहालय बताते हैं कि अब वह समुदाय या उसकी पहचान नहीं रही! जो कुछ भी इन संग्रहालयों में रख जाता है, वह उन समाजों की संस्कृति और पहचान के अवशेष होते हैं, जो किसी कारण से खत्म हो गयी। कपडों पर की गयी बुनाई से लेकर अपने घर के दरवाजे पर बने हुए चित्रों तक, रसोई के बर्तनों से लेकर शिकार के हथियार तक.....जो कुछ भी एक समाज रचता है, वह उसकी सांस्कृतिक पहचान बन जाता है।

हम सब जानते हैं कि यह पहचान बदलती रहती है और अक्सर खत्म भी हो जाती है। वास्तव में दुनिया का इतिहास समाज के बदलते चरित्र की कहानी ही तो है। कहते हैं कि हड़प्पा की संस्कृति (समुदाय) के लुप्त होने का कारण जलवायु परिवर्तन था। प्राकृतिक घटनाओं के फलस्वरूप होने वाले विनाश को तो शायद हम कभी रोक नहीं पाए और ये घटनाएं समुदायों या उनकी पहचान की विलुप्ति का कारण बनती गई। 1940 के दशक में जब बंगाल का अकाल पड़ा और तीन लाख लोग अकाल के गाल में समां गए, तब भी लोग ही मरे थे। लेकिन उनकी पहचान किसी न किसी रूप में जिन्दा रही और वक्त ने उसे फिर से स्वस्थ बना दिया।

हमारे सामने यह सवाल भी आया कि क्या पहले कभी भी इंसानी व्यवहार या कृत्यों के कारण कभी समुदायों की सांस्कृतिक पहचान खतम हुई? शायद विस्थापन समुदायों की पहचान को खत्म करता है। हमें अब तक इसका पूरा जवाब तो नहीं मिला है, पर विस्थापन की घटनाओं ने एक परीक्षण करने का अवसर जरूर दिया। कुछ विशालकाय निर्माण परियोजनाओं, जिन्हें सभ्य भाषा में विकास परियोजनाएं कहा जाता है, से प्रभावित समुदायों के मूल अधिकारों के मुद्दों पर अध्ययन करते हुए हमने अक्सर यह पाया कि इनके विषय और चुनौतियां बहुत भिन्न किस्म की हैं और यह भिन्नता विस्थापन के कारण है। बहुत आसानी से यह कह दिया जाता रहा है कि बिजली, सिंचाई या परिवहन के लिए ऐसी परियोजनाएं तो बनाना ही पड़ेंगी। और जब इस तरह की परियोजनाएं बनेंगी, तो विस्थापन तो होगा ही। जिनका विस्थापन होगा, उनका पुनर्वास कर दिया जायेगा।

अब प्रश्न यह है कि जब विस्थापन होता है, तब किसका स्थान परिवर्तन होता है; क्या कभी भी सोचा गया है? जब यह कभी सोचा ही नहीं गया, तो फिर हम विकास के नाम पर होने वाले विस्थापन में पुनर्वास किसका करते हैं? वर्ष 2012 में हम श्योपुर जिले के पालपुर – कुनो अभयारण्य गए थे। वहां भी राष्ट्रीय अभयारण्य के लिए 27 गांवों को विस्थापित किया गया था। लोगों को तो विस्थापित कर दिया गया, लेकिन उन गांवों की गायों को सरकार विस्थापित न कर पायी। लोग जाते समय अपनी गायों को भी साथ ले गए, पर कुछ समय बाद ही हजारों की संख्या में ये गायें वापस लौटकर अपने पुराने गांवों को लौट आयीं। उन्होंने उस उजाड को

महसूस किया था। वो निर्जीव नहीं थीं। विस्थापन की दुर्घटना ने इन गायों को जंगली बना दिया। अब वे हमेशा आक्रोशित रहती हैं और आक्रमण भी करती हैं। हम सोचते हैं इनका तो पुनर्वास हुआ था, परंतु ये लौट कर उन्ही उजड़े गांवों की तरफ क्यों लौट गयीं? इसका जवाब है कि जीव का सम्बन्ध संपत्ति से नहीं, प्रकृति और परिवेश से होता है। वह जमीन से जुड़ा रहता है, वह पगडंडियों से जुड़ा रहता है, वह बरगद और आम के पेड से रिश्ता बना लेता है। उसे पहाड़ और नदियों से प्रेम हो जाता है। हवा का बहाव उसे सुकून देता है। वह यह सब अपने गांव और अपने घर के आसपास जुटाता है। वह एक मजदूर, एक किसान, एक व्यापारी के रूप में दुनिया के किसी भी हिस्से में चला जाता है, पर वह सबसे सुरक्षित अपने गांव – अपनी बस्ती में ही होता है। उसे कितनी भी भौतिक सुविधाएँ या वस्तुएं किसी दूसरे शहर में मिल जाएँ, पर रिश्ते उसे हमेशा पुकारते हैं। उसके ये रिश्ते केवल माँ–बाप, भाई–बहन या पति–पत्नी होने से नहीं होते, हवा और पेड़ों से भी उसके रिश्ते होते हैं। उसे अपने माहौल की भाषा, बोलियां, मादक पेय, नृत्य और रूप–प्रदर्शन सबसे ज्यादा आत्म–विश्वास देते हैं। हर एक इंसान को पता है कि यदि जीवन की जरूरत को पूरा करने के लिए घर के आस–पास ही संसाधन उपलब्ध हों, तो इससे बेहतर उपलब्धि कोई और नहीं है। जब विकल्प खत्म हो जाएँ, तब ही घर से बाहर कदम रखना। क्योंकि जिस सामाजिक–पारिस्थितिकी से तुम्हारा रिश्ता नहीं है, वहां जीवन के सबसे सार्थक पल तुम्हे मिल न सकेंगे।

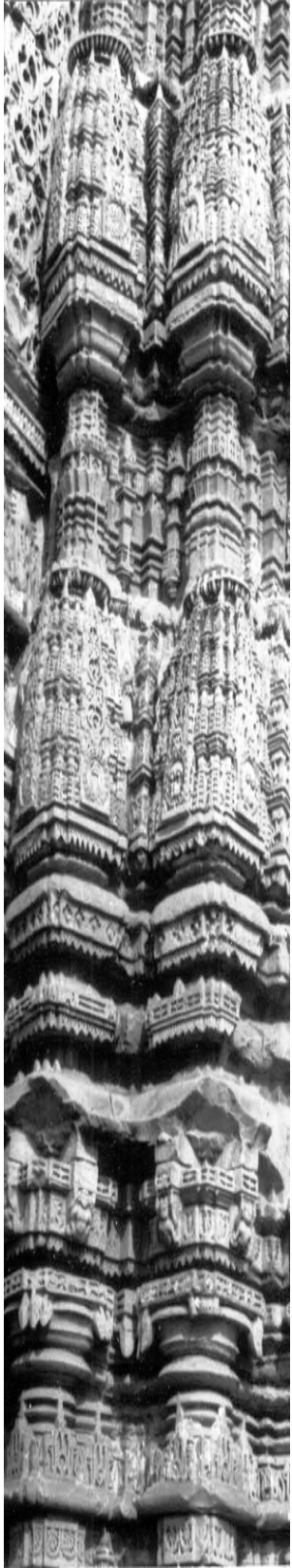
विकास के नाम पर होने वाला विस्थापन इसी भाषा–त्यौहार–उत्सव–सुरक्षा और प्रेम की संस्कृति के ताने–बाने को तोड कर रख देता है। बहुत ही बुनियादी सी बात है कि स्थानीय पारिस्थितिकी और संसाधन ही एक समुदाय को खाद्यसुरक्षा देते हैं। समुद्र के किनारे रह कर कोई गेहूं की खेती नहीं कर सकता। वहां तो समुद्र ही भोजन देता है और इसी से मछलीपालन लोगों की आजीविका जीवन का काम बन जाता है। जंगल में रहने वाले ऐसी व्यवस्था बना लेते हैं कि अनाज से लेकर फल और मादक पेय तक सब कुछ बिना किसी कारखाने के पैदा कर लेते हैं और जिंदगी जी लेते हैं। कभी भी वे आर्थिक गरीबी का रोना रोते नहीं पाए गए। इस तरह से संसाधनों पर आधारित काम–काज उन्हें सुखी करते रहे। इसीलिए तो उन्होंने जंगल, जमीन और समुद्र से अपने रिश्तों और काम–काज से जुडे गीत और धुनें रच दीं, नृत्य गढ़ लिए। जरा आप बताइये कि आज, जब पूरा जोर आर्थिक सम्पन्नता पर है, लोग अपने काम–काज से जुडाव रखते हुए क्या गीत–धुन–नृत्य रचते हैं या रच सकते हैं? विकास ने हमें शायद आर्थिक सम्पन्नता दी होगी शायद पर क्या खुद के गीत और नृत्य रचने दिए क्या?

हम सोचते हैं कि आजीविका और आय–अर्जन की गतिविधियों (लाइवलीहुड और इनकम जनेरशन एक्टिविटी) क्या एक ही मायनों वाले शब्द हैं? जंगलों और दूसरे प्राकृतिक संसाधनों से जीवन जोड़ने वाले बताते हैं कि आजीविका में जीवन्तता है और

आय–अर्जन के काम में एक निर्जीवता! यानी आजीविका का काम भी संस्कृति का ही हिस्सा है, अटूट हिस्सा। जब उनके पास बहुत मुद्रा न रही होगी, तब भी वे भूख से तो नहीं मरे, अब जबकि सबकुछ मुद्रा से मापा जा रहा है, तब विकास भूख पैदा कर रहा है। यह कैसा जाल है? विकास के लिए भीमकाय परियोजनाएं, उन परियोजनाओं के लिए विस्थापन, उस विस्थापन से भुखमरी और अस्मिता की समाप्ति, इसी विकास से असमानता में वृद्धि और टकराव भी!

संस्कृति और सांस्कृतिक विस्थापन का एक जीवंत और वास्तविक चित्र रचने के लिए शुरू हुए प्रयासों में बिना किसी दुविधा के यह तय हो गया कि चिन्मय भाई और सरोज भाभी (हम रिश्तों से ही उन्हे संबोधित कर सकते हैं) के अलावा कोई और विकल्प हो ही नहीं सकता। ये ही वे लोग हैं जो इंसानी ह्रदय और दृष्टि से विस्थापन को भी महसूस करते हैं और संस्कृति से उसके संबंधों को भी। स्वाभाविक था कि राकेश भाई (स्पष्टता के लिए "दीवान") इस पूरे काम में मार्गदर्शक रहे। हमें विश्वास है कि यह अध्ययन, जो बिलकुल तकनीकी नहीं है, पर पूरी तरह से प्रामाणिक है, अपन सबको एक नया विचार और एक नया मकसद देगा।

– सचिनकुमार जैन



अपनी बात

हदें वो खैंच रक्खी हैं हरम के पासबानो ने,
कि बिन मुजरिम बने पैगाम भी पहुंचा नहीं सकता।

– 'मजाज'

किसी विशिष्ट परिस्थिति का अध्ययन अत्यन्त जटिल कार्य है तथा हमेशा ही इसके विवादास्पद होने की संभावनाएं बनी रहती हैं। तकरीबन प्रत्येक सभ्यता किसी नदी घाटी या नदी के समानांतर ही विकसित हुई है। वहां की भौगोलिक परिस्थितियों ने एक समुदाय को अपनी पहचान, अपनी संस्कृति के निर्माण में सर्वाधिक योगदान दिया है। नर्मदा घाटी सभ्यता के साथ भी यही हुआ है। इसीलिए यहां के निवासी अपने परंपरागत निवास को छोड़ना नहीं चाहते और किसी जबरदस्ती का प्रतिकार करते हैं। ऐसा ही सरदार सरोवर बांध के मामले में भी हुआ है।

सरदार सरोवर बांध से बने जलाशय की डूब मे आए तकरीबन प्रत्येक गांव में आपको ऐसे अनेक लोग मिल जाएंगे जिनके खिलाफ विस्थापन व पुर्नवास संबंधी संघर्ष को लेकर मुकदमा दायर ना हुआ हो। विस्थापित होने वाले समुदाय जिसमें किसान, आदिवासी, कुम्हार, खेतीहर मजदूर, छोटे व्यापारी, वृद्ध, स्त्री पुरूष व बच्चे सभी शामिल हैं, के जीवन और उससे जुड़े जमीन व आजीविका जैसे मसलों की ओर सभी का ध्यान लगातार

लगा रहता है। शिक्षा और स्वास्थ्य भी ऐसे मसलें हैं, जो अपनी उपस्थिति बनाए रहते हैं। इन सबसे अलग या दूसरे शब्दों में कहें तो इन सबको आपस में समेटे एक मुद्दा है संस्कृति का। इस संस्कृति के निर्माण में उस क्षेत्र का भूगोल भी सहायता करता है, वहां की आबोहवा भी योगदान करती है, व खान–पान, रूढ़ियां, परंपराएं, भाषा, बोली, आचार–व्यवहार, त्योहार सभी कुछ ना कुछ जोड़ते हैं। दूसरे शब्दों में कहे तो एक मायने मे किसी व्यक्ति का अपने निवास से विस्थापन उसका अपनी संस्कृति और सभ्यता से विस्थापन भी है।

नर्मदाघाटी सांस्कृतिक रूप से एक समृद्ध क्षेत्र है। शहरी, ग्रामीण और आदिवासी समाज यहां शताब्दियों से मिलजुल कर रह रहे हैं। बांध के कारण आई डूब से ये सभी प्रभावित भी हैं। विकास संवाद के माध्यम से जब घाटी में विस्थापन से पैदा हुए संकट के अध्ययन का प्रस्ताव आया तो बहुत सारे विषय एक साथ दिमाग में आए। आपसी चर्चा के दौरान लम्बे समय से घाटी में सक्रिय रहे राकेश दीवान का सुझाव था कि विस्थापन के किसी एक आयाम पर इस अध्ययन को एकाग्र करना चाहिए। विकास संवाद के बाकी साथी सचिन, रोली और प्रशान्त भी इस सुझाव से सहमत थे। अंततः यह तय हुआ कि विस्थापन से ''संस्कृति'' पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन किया जाए। पहले इसका दायरा काफी व्यापक रखने की बात हुई। यानि बरगी बांध से सरदार सरोवर बांध तक। इसके बीच में इंदिरा सागर बांध, ओंकारेश्वर बांध और महेश्वर बांध आते थे। खोजबीन करने में सामने सामने आया कि यह कार्य इतना व्यापक व विशाल हो जाएगा कि इसे एक बार में कर पाना असंभव सा है। इसके बाद सरदार सरोवर बांध से संबंधित अध्ययन पर सहमति बनी। बरगी बांध की रूपरेखा सन् 1968 में बनी और सन् 1971 से इनका निर्माण कार्य प्रारंभ हो गया। यह नर्मदा नदी पर बनने वाला पहला बांध था जिसने न सिर्फ क्षेत्र को डुबोया बल्कि नर्मदा किनारे बसने वाले समुदाय के इस विश्वास को भी तोड़ा कि नर्मदा को कोई बांध नहीं सकता है! करीब 50 वर्ष पहले हुई बेदखली के शिकार आज भी भटक रहे हैं। इस अध्ययन में इस तथ्य या त्रासदी ने भी स्थितियों को समझाने में काफी मदद की। साथ ही यह बात भी सामने आई कि बरगी बांध से शुरू हुई नर्मदा की रोक धीरे–धीरे पूरी निचली नर्मदाघाटी को एक गंदे बदबूदार तालाब में बदलती गई। (परिशिष्ट 4) यह इसीलिए भी महत्वपूर्ण था कि इसमे तीन प्रदेश मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र व गुजरात प्रभावित हुए हैं। साथ ही बड़ी संख्या में लोग गुजरात व महाराष्ट्र की पुनर्वास बस्तियों में रह रहे हैं। अंततः इस पर सहमति बन गई।

अध्ययन को लेकर कोई बहुत सुनिश्चित प्रक्रिया या प्रारूप तय नहीं था। कुछ मोटी–मोटी बातें दिमाग में थीं, जिन्हें लेकर हमने इस कार्य को प्रारंभ किया। शुरुआती दौर का मार्गदर्शन तो राकेश भाई से मिल गया था। इसके बाद हमने लगातार कई लोगों से संपर्क करना प्रारंभ किया। जाहिर है इस संबंध में शुरुआत मेधा जी से बेहतर किसी और के साथ नहीं हा सकती थी। डॉ. कपिल तिवारी ने संस्कृति के कुछ अनछुए,

मार्मिक व सारगर्भित आयामों से परिचित कराया। बड़वानी में रेहमत ने इस अध्ययन को बहुत समृद्ध किया। इसी दौरान नर्मदा बचाओ आंदोलन के कैलाश अवास्या व भागीरथ ने बहुत मदद की। भागीरथ यात्रा के दौरान भी कई जगह साथ में गए। वहीं ककराना, अलिराजपुर के केमत गवले का अविस्मरणीय सहयोग हमें मिला।

इन सब के साथ ही साथ प्रसिद्ध समाजशास्त्री श्यामाचरण दुबे की यह बात भी मार्गदर्शक की तरह साथ बनी रही,

''आर्थिक विकास के कार्यक्रम के आरंभिक काल में उसकी परंपराओं और संस्कृति से सीधी टकराहट नहीं हुई। इस बीच विकास–विशेषज्ञों की अच्छी खासी फौज मैदान में उतर आई और बिन मांगे अपनी सलाह विकासशील देशों को देने लगी। विदेशी ऋण और सहायता पाने के लिये उनकी सलाह माँगना और उस पर चलना जरूरी था। इन तथाकथित विशेषज्ञों ने भी पहले यही सुझाव दिया कि विकास कार्यकर्ता सांस्कृतिक मान्यताओं के प्रति संवेदनशील रहें और स्थापित परंपराओं से न टकराएं। योजनाओं में जब अपेक्षित परिणाम प्राप्त नहीं हुए तब असफलताओं के कारणों का विश्लेषण किया गया। दोषी पाया गया पंरपराओं को। अब नयी मांग थी सांस्कृतिक ढ़ांचे, अभिवृत्तियाँ और मूल्यों को बदलने की। अल्पज्ञ विशेषज्ञ जो विकास के क्षेत्र में सर्वज्ञ बने घूम रहे रहे थे, ऐसा कोई मंत्र नहीं दे सके, जिससे यह तत्काल संभव हो। परंपरा की सृजनात्मक ऊर्जा से वे भी अपरिचित थे। उन्हें यह भी अहसास नहीं था कि परंपरा की अवरोधात्मक प्रतिक्रिया विकास के समूचे एजेंडे को अस्त–व्यस्त कर सकती है। नियोजन, प्रबंधन, संचार नीति, के दोष आदि भी विकास की असफलता के लिए दोषी हो सकते हैं, लेकिन इसकी ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया गया। संस्कृति और परंपराएं खतरे में रहीं। चारों ओर से उन पर हमले हुए और होते रहे। सब सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक मूल्यों तथा अभिवृद्धियों को बदल देना चाहते थे, पर ऐसा कर सकने की कोई कारगार सामाजिक प्रविधि उपलब्ध नहीं थी।''

संभवतः इसीलिए जानबूझकर संस्कृति को पुनर्वास नीति से अलग भी रखा गया। अपनी पूरी यात्रा के दौरान महाराष्ट्र, गुजरात और मध्यप्रदेश तीनों ही राज्यों के विस्थापित समुदाय की सांस्कृतिक पहचान पर मंडरा रहे खतरे साफ दिखाई दे रहे थे। महाराष्ट्र की वढछिल पुनर्वास बस्ती को छोड़ दें तो किसी भी अन्य पुनर्वास बस्ती की बसाहट आकर्षित नहीं करती। लेकिन जो सबसे महत्वपूर्ण बात उभरकर सामने आई वह यह भी थी कि विस्थापित समुदाय अपने व्यक्तिगत व्यवहार में आज भी कटु नहीं है और पहले जैसा ही कोमल बना हुआ है। अलबत्ता उसकी जीवंतता थोड़ी घटी है। यह अध्ययन अपने आप में आँख खोलने वाला इसीलिए भी है कि संस्कृति के जिन नए आयामों से हमारा साक्षात्कार हुआ वह अकल्पनीय थे।

यह सच है कि यह पूरी यात्रा मानसिक तौर पर अत्यंत त्रासदायी और मनोबल तोड़ने वाली थी। एक समय फलते–फूलते गांव, खेत, जंगल जो कि अब पानी में

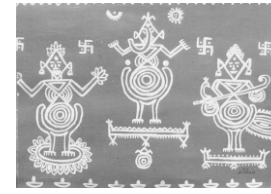
डूब चुके थे, के ऊपर से मोटरबोट से निकलना वास्तव में दहला देने वाला अनुभव था। लेकिन वहीं किनारे पर उतरने के बाद पहाड़ों पर पिछले पंद्रह वर्षों से मूलभूत सुविधाओं के बिना संतोष से जीवन जी रहे साथियों से मिलना ठंडा लेप लगाने जैसा था। परंतु यह कोई संतुष्ट करने वाली बात नहीं है। पहली बार यह भी लगा कि कहावतें भी गलत सिद्ध हो जाती हैं। सरदार सरोवर की डूब के बाद आप और हम यह नहीं कह सकते कि, ''जो भी होता है, अच्छे के लिये होता है।'' इस यात्रा में और कुछ समझ में आया हो या ना आया हो, ''घर'' और ''मकान'' तथा ''देश'' और ''परदेश'' का अंतर तो अवश्य ही समझ में आया है।

यह अध्ययन शुरूआत है सांस्कृतिक विस्थापन को समझने की। आवश्यकता है इस अध्ययन की निरंतरता को बनाए रखने की। विकास संवाद को इस बात के लिए धन्यवाद कि उनकी वजह से इतना सबकुछ जानने, समझने, देखने, सुनने और बूझने को मिला।

– चिन्मय मिश्र



सरदार सरोवर जलाशय, जलसिंधी मध्यप्रदेश



प्रस्तावना

'हम एक ऐसे समाज को विस्थापित कर रहे हैं, जिसमें स्वयं के देवता को रचने की क्षमता है। हमने तो उन्हीं के देवता उधार लिए हैं। जंगलों और लोक में रहने वाले समुदाय को जब देवताओं की कमी पड़ती है, तो वह स्थानीय परिवेश के अनुरूप नए देवता का सृजन कर लेता है।'

– डॉ. कपिल तिवारी

वडोदरा (बड़ौदा) से 90 किलोमीटर दूर स्थित केवड़िया और अन्य पांच छोटे गांवों की नींद बहुत बरस पहले सन् 1961 की सर्दियों में अजीब सी कर्कश आवाज से टूटी। नया साल प्रारंभ हुए अभी अधिक दिन नहीं बीते थे। कोठी गांव में एक बुलडोजर आया और उसने खड़ी फसल को रौंद कर खेत को समतल बना दिया। हतप्रभ ग्रामीणों को बताया गया कि हेलीपेड के निर्माण के लिए कुछ भूमि की आवश्यकता है। वैसे ग्रामीणों के लिए तो यह सूचना ही अपने आप में एक अजूबा थी। उनसे कुछ दस्तावेजों पर हस्ताक्षर कराए गए और संभवतः उनकी फसल के नुकसान की भरपाई हेतु उन्हें थोड़ा बहुत भुगतान करा भी गया। उसे बाद 15 जनवरी 1961 को 'हेलीकॉप्टर' नाम की बड़ी सी चिड़िया जिसे स्थानीय लोग चील गाड़ी के नाम से पुकारते हैं, में भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरु का आगमन हुआ। उन्होंने भाषण दिया एवं बटन दबाकर नदी की दूसरी ओर विस्फोट किया। इसके बाद वे वापस लौट गए। परंतु तब भी बहुत कम लोगों को पता चल पाया था कि 'सरदार सरोवर परियोजना' (तब नवागाम बांध) का उद्घाटन हो गया है।

उद्घाटन के तत्काल बाद गुजरात सरकार ने केवड़िया, वाघोड़िया, कोठी, लिमड़ी, नवागाम और गोरा के 397 परिवारों की 1777 एकड़ भूमि का अधिग्रहण कर लिया। ये सभी परिवार तड़वी आदिवासी समुदाय के थे। इन्हें सार्वजनिक उद्देश्य यानि वर्तमान सरदार सरोवर बांध के निर्माण हेतु अधिग्रहण के नोटिस दिए गए थे। इसी

के साथ उनसे यह भी कहा गया था कि उन्हें इस हेतु नकद मुआवजे के अलावा बांध निर्माणस्थल पर रोजगार भी दिया जाएगा। सन् 1961 और 63 के मध्य परियोजना के शुरुआती दौर में ही उनके घरों और भूमि को 'परियोजना कॉलोनी' के लिए मात्र 80 से 250 रु. प्रति एकड़ के मूल्य पर अधिग्रहित कर लिया गया। इस पर चालाकी यह की गई कि उन्हें जलाशय के परियोजना प्रभावितों के समकक्ष की मान्यता कभी भी प्राप्त नहीं हुई। वैसे समय के साथ यह फेहरिस्त बढ़ती गई। इसमें मध्यप्रदेश, गुजरात व महाराष्ट्र के सैकड़ों गांवों के डेढ़ लाख से ज्यादा परिवार प्रभावित हो गए। इनके साथ बहुत कुछ पानी में समाता गया और लाखों लाख वर्षों का इतिहास मानव निर्मित झील में समा गया।

वहीं दूसरी ओर दुनिया के अनेक बुद्धिजीवियों का मानना है कि भारत का कोई इतिहास नहीं है। उनकी यह बात यह मानने में हमें कोई कष्ट भी नहीं होना चाहिए। क्योंकि भारतीय संस्कृति की निरंतरता ने कभी उसे इतिहास बनने ही नहीं दिया। इसे दुनिया का महानतम आश्चर्य भी माना जा सकता है। इसे समझने की प्रक्रिया में तीन अन्य संस्कृतियां हमारे सामने आती हैं, मिस्र, मेसापोटेमिया और युन्नानी या चीनी संस्कृति। इन तीनों के इतिहास तो आज जरुर मौजूद हैं लेकिन भारतीय संस्कृति तो आज भी अपने पूरे विस्तार के साथ मौजूद है।

हम सब भारतीय एक अजीब बेमेल से लेकिन आश्चर्यजनक विविधता वाले भूगोल में निवास करते हैं। यहां वेशभूषा, नाक नक्श, भाषा, लिपि, रीति–रिवाज, तीज त्योहार, भोजन, जलवायु और भौगोलिक विभिन्नताएं विद्यमान हैं। इस देश की कभी कोई एक राष्ट्रभाषा नहीं रही। उत्तर भारतीय की भोजन प्रणाली दक्षिण भारतीय से और पूर्वी भारत के निवासी की पश्चिम भारतीय से एकदम अलग है। एक ओर की सीमा हिमालय और दुनिया की सबसे ठंडी जगहों में से एक कारगिल से शुरु होती है तो दूसरी ओर पश्चिमी भारत के रेगिस्तानी एवं अत्यन्त गर्म इलाकों से शुरु होती है। पूर्वोत्तर का इलाका घने ऊंचे–ऊंचे पहाड़ों से भरा है तो दक्षिण की सीमा गहरे अथाह समुद्र पर समाप्त होती है।

दो हजार बरस पहले सिंकदर यहां अपने साथ यवन संस्कृति लाया। शक आए, हूण आए, इसके बाद मुस्लिम आए और मुगल भी आए। अंत में अंग्रेज भी आए। सबने यहां आकर अपने को पानी जैसा (सिर्फ अंग्रेजों को छोड़कर) बना लिया और भारतीय संस्कृति के बहुमूल्य घड़े में आकार ले लिया। पुरातन ग्रीस से पुरातन चीन तक का इतिहास और उनकी तत्कालीन संस्कृति हमें अत्यंत आकर्षित करती है और हम उनकी असाधारणता को देखकर भौंचक रह जाते हैं। वस्तुतः भारत तब भी उतना ही परिपक्व था और उसने अपनी संस्कृति को कभी अतीत नहीं बनने दिया। राजाओं की वंशावली शायद उतनी शिद्दत से हमारे यहां दोहराई नहीं जाती। भारतीय पुरा साहित्य के रचनाकारों के नाम भी बहुत स्पष्ट नहीं हैं। यहां चली लंबी लड़ाइयां हमारी स्मृति में नहीं हैं। और तो और सन् 1757 और सन् 1857 के स्वतंत्रता संग्रामों की गाथाएं भी याद

दिलाने पर ही हमारे सामने आती हैं। दुनिया के तकरीबन प्रत्येक धर्म का अनुयायी इस देश में मौजूद है। आश्चर्य का विषय है कि आधुनिक बुद्धिजीवियों की किसी भी कसौटी पर खरा न उतरने वाला हमारा समाज आखिर कैसे आज भी एक सूत्र में बंधा है?

इसका एकमात्र उत्तर हो सकता है भारतीय 'संस्कृति'। तो आखिर ये संस्कृति क्या है? क्या इसे किसी परिभाषा में बांधा जा सकता है? क्या इसे अधिक मानवीय परिभाषा दी जा सकती है? कुछ लोगों की निगाह में संस्कृति यानि धर्म, दर्शन, कानून व्यवस्था, जीवनशैली, साहित्य, कला, संगीत का गठबंधन है। वैसे यह हमारे ऊपर है कि हम इस सूची में नए–नए तत्व शामिल करते जाएं। गौरतलब है धर्म अक्सर विशिष्ट ही होता है और एक खास वर्ग इसमें शामिल रहता है। लेकिन संस्कृति के साथ ऐसा नहीं है। संस्कृति तो हमेशा समावेशी ही होती है। यह पंथ, मत और विचारधारा तीनों से ही मुक्त होती है। ऐसा माना जाता है कि कोई भी महान संस्कृति धर्म के बिना पूर्ण नहीं है। परंतु धर्म को प्रभुत्वशाली भूमिका दे देने से वह यह प्रयास करेगा कि कई अन्य तत्व फिर वह चाहे जितने महत्वपूर्ण क्यों न हों, उन्हें संस्कृति से बाहर रखा जाए।

वहीं दूसरी ओर एक और वर्ग है जो कहता है कि हिंदू संस्कृति उस धार्मिक संप्रदाय जो कि हिंदू कहलाता है और न ही वह नस्ल जो कि आर्य कहलाती है, की संस्कृति है बल्कि यह भारत या हिंद कहलाने वाले देश की संस्कृति है। मगर इन तमाम तरह से भारतीय संस्कृति को समझाने वालों की निगाह में लोक संस्कृति का महत्व महज अलंकारिक है और आदिवासियों की संस्कृति तो उनके लिए शायद अस्तित्व में ही नहीं है या उनकी परिभाषा में इसे सहेजने की कोई गुंजाइश ही नहीं है। वैसे संस्कृति एक अमूर्त स्थिति है, जो हमेशा हमारे साथ मौजूद रहती है। एक प्रसिद्ध लेखक की भारतीय संस्कृति से संबंधित पुस्तक का पहला पन्ना खोलते ही जो बात सामने आई वह हतप्रभ सी करने वाली थी। इसमें कहा गया था कि किसी वैज्ञानिक विमर्श में सर्वाधिक कठिन कार्य किसी अमूर्त को व्याख्यायित करना है। उनके अनुसार किसी वस्तु के असंख्य हिस्सों को गूंथ पाने का सामान्य विचार उन अधिकांश लोगों के द्वारा पसंद नहीं किया जाता जो कि अपनी हिस्सेदारी का कारण नहीं समझ पाते। एथेंस के पुराने बाशिंदे सुकरात को इसलिए सहन नहीं कर पाए क्योंकि उसने प्रत्येक को मजबूर किया कि वह न्याय, आत्मसंयम, प्रेम आदि अमूर्त स्थितियों को परिभाषित करे और उन्हें चिढ़ाने के लिए वे लोग जो भी परिभाषा गढ़ते सुकरात उस परिभाषा की चिन्दे चिन्दे कर देते।

हतप्रभ होने की वजह यह थी कि भारतीय संस्कृति पर बातचीत का आधार क्या एथेंस और सुकरात होंगे? क्या किसी को अपनी संस्कृति को व्याख्यायित करने के लिए किसी अन्य संस्कृति का सहारा लेना होगा? इसी उहापोह में हमने भी संस्कृति की अनेक परिभाषाएं खोज डालीं। एक परिभाषा के अनुसार 'संस्कृति किन्ही खास समूह के लोगों की विशिष्टता होती है जिसे भाषा, धर्म, खान–पान, सामाजिक रीतियों, संगीत और कला सभी के द्वारा परिभाषित किया जाता है।' एक अन्य परिभाषा में इसे

और विस्तार दिया गया था 'संस्कृति का आशय है ज्ञान, अनुभवों, आस्था, मूल्यों, आचार–व्यवहार, अभिप्राय, वंशानुक्रम, धर्म, काल की धारणा, भूमिका, स्थानिक संबंधों, ब्रहमांड का विचार और भौतिक वस्तुओं का संचयित भंडारण जिसे लोगों के एक समूह द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी व्यक्तिगत प्रयत्नों का सामूहिक भावना से प्राप्त किया गया हो।' इस बीच संस्कृति की एक और अनूठी परिभाषा सामने आई। इसमें कहा गया था 'पश्चिम की ही तरह विकास के शुरुआती दौर में पूर्वी संस्कृति भी धर्म से जबरदस्त प्रभावित थी। सामान्य तौर पर कहें तो पूर्वी संस्कृति में पश्चिम की संस्कृति की बनिस्बत धर्मनिरपेक्ष समाज और धार्मिक दर्शन के मध्य बहुत कम अंतर है।' अंत में एक और परिभाषा पर गौर कर लेते हैं, इसके अनुसार 'संस्कृति का अर्थ है पारंपरिक व्यवहार की पूर्व जटिलता जिसे मानव नस्ल ने विकसित किया और इसे पीढ़ी दर पीढ़ी प्रत्येक पीढ़ी ने सीखा संस्कृति बहुत संकीर्ण नहीं है। इसका अर्थ पारंपरिक व्यवहार के स्वरूप से भी निकाला जा सकता है, जो कि दिए गए किसी समाज या समाजों के समूह या एक विशिष्ट नस्ल या एक विशिंष्ट क्षेत्र या किसी विशिष्ट समय विशेष की विशिष्टता लिए हुए हो।'

सुकरात के जिक्र से शुरु हुई संस्कृति की परिभाषाओं की श्रंखला में हमें अपनी परिभाषा ढूंढनी थी, जिसके आधार पर हम नर्मदा घाटी में सरदार सरोवर बांध के जलाशय से भरे पानी से विस्थापित होने वाले समुदाय की सांस्कृतिक हानि को समझ सकें। वैसे अमूर्तता पश्चिमी संस्कृति के लिए शायद कोई नवाचार हो सकता है, लेकिन भारत में तो कंकर को शंकर बना देने की हिम्मत सहस्त्राब्दियों से मौजूद है और शिवलिंग की पूजा आदिम समुदाय से लेकर आईटी के क्षेत्र में काम कर रहा आधुनिकतम भारतीय भी कर रहा है। इतना ही नहीं इसी नर्मदा नदी में सर्वाधिक सुंदर और चिकने शिवलिंग मिलते हैं। ऐसा क्यों होता है,यह भी इस पुस्तक में आगे आई एक आदिवासी गाथा अपने ढंग से समझा देती है। हमारा अधिक ध्यान आदिवासी संस्कृति पर होने की वजह यह है कि अभी यही वर्ग डूब की सर्वाधिक जद में आया है और प्रभावित भी हुआ है।

विस्थापन की वजह से होने वाले सांस्कृतिक प्लावन को समझना इतना आसान नहीं था। अपनी इस उलझन को लिए हम पहुंचे डॉ. कपिल तिवारी के पास। डॉ. तिवारी पिछले करीब 35 वर्षों से लोक व आदिवासी संस्कृति के अध्येता हैं और बातों को समझाने की उनकी शैली ही अनूठी नहीं है बल्कि लोक व आदिवासी जीवन को लेकर उनकी स्थापनाएं भी मौलिक, अनूठी और अकाट्य हैं। विस्थापन और संस्कृति पर उनकी शुरुआती टिप्पणी थी, 'जब मनुष्य का प्राकृतिक वातावरण बदलता है, तब वह अभूतपूर्व संकट में पड़ जाता है। उसका साथ उन सब वस्तुओं, स्थितियों और परिस्थितियों से छूट जाता है, जिसके साथ उसके शताब्दियों से रिश्ते बने हुए थे। वन से बाहर आकर वह जिस असहजता का अनुभव करता है, उसकी भाषा में अभिव्यक्ति मात्र कठिन नहीं बल्कि कुछ हद तक असंभव भी है। वहां पूरा वन उसका

घर था। लेकिन यहां वह एक चहारदीवारी में सिमट जाता है। हम शहरी अपने रहवास या घर को कुछ फीट, मीटर या एकड़ में माप कर किसी नतीजे पर पहुंच सकते हैं। लेकिन किसी वनवासी या कुछ हद तक किसान के लिए भी ऐसा कर पाना संभव नहीं होता। अपने पर्यावरण से बिछुड़ना, उसे किसी गहरे तल पर सांस्कृतिक बिखराव की ओर धकेल देता है। इस परिप्रेक्ष्य में निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि पिछली दो शताब्दियों में लिखा गया समाजशास्त्र रद्दी है, बेकार है।'

डॉ. तिवारी की इसी बात को सरदार सरोवर बांध की डूब में आए जलसिंधी के बाबा महारिया कुछ इस तरह से कहते हैं 'पीढ़ियों से हम जंगलों में रहते आए हैं। जंगल ही हमारा साहूकार और बैंक है। संकट के दिनों में हम उसी के पास जाते हैं। जंगल और बांस से हम अपना घर बांधते हैं। निगौड़ी और हियाली की झाड़ियों से हम अपने घर की दीवारों को बुनते हैं। (गौर करिए वे अपने घर की दीवार चुनते या खड़ी नहीं करते बल्कि बुनते हैं) जंगल से ही हमारे घरों की टोकनी, खाट, हल, बक्खर और हर एक सामान बनाते हैं। जंगल पहाड़ में चारा मिलता है, जिससे हमारे जानवर पुसते हैं। तरह–तरह का चारा मिलता है। गर्मी में घास सूख जाती है पर झाड़ की पत्तियां तो रहती हैं।' अपनी बात को समझाते हुए वे कहते है 'हमारा जंगल तो हमारी गोदड़ी (रजाई) कहलाता है। उसकी लकड़ी से रोटी रांधना, उसकी लकड़ी से उजाला करना और उसी की लकड़ी से जाड़े की रातों में तापते हुए सो जाना। ठंड लगती है तो रात में उठकर फिर से आग जला लेते हैं। जंगल हमें पालता पोसता है, तो हम भी उसे संभालते हैं। बरसात में घास और फसल जब घुटने–घुटने हो जाती है तो हम नीलपी पूजते हैं। तब तक हम हंसिया से घास नहीं काट सकते, घास का पूला नहीं बांध सकते, सागौन के कोमल पत्ते नहीं तोड़ सकते यहां तक कि नई घास को खाने वाले जानवरों का दूध तक नहीं पी सकते।'

इन सबको समेटती हुई संस्कृति की श्यामाचरण दुबे की व्याख्या संभवतः उपसंहार का कार्य करती है ''संस्कृति की दो व्याख्याएं संभव हैं, – व्यापक और असीमित। मानव विज्ञान सीखे हुए व्यवहार प्रकारों की समग्रता को संस्कृति की संज्ञा देता है। इसकी परिधि में मानव और प्रकृति, मानव और समाज तथा मानव और अदृश्य जगत की शक्तियों के सभी अंतर्संबंध आते हैं। मानव का अंतर्गगत विचार, विवेक, व्यक्तिगत'' मूल्य, ऊर्जा की अभिव्यक्ति भी संस्कृति का अंग होता है। सुविधा के लिए संस्कृति को अवयवों और पक्षों में विभाजित किया जा सकता है, पर उसके घटक सावयवी रूप से जुड़े होते हैं। उनका अंतरावलंबन संस्कृति को संपूर्णता देता है। संस्कृति के भौतिक पक्ष को उसके विचार पक्ष और क्रिया पक्ष से अलग नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत संस्कृति की सीमित व्याख्या उसे ध्याकर्षी और विशिष्ट उपलब्धियों से जोड़ती है। इन व्याख्याओं में दार्शनिक चिंतन, वैचारिक उत्कर्ष और कलात्मक अवदानों को प्राथमिकता दी जाती है, दैनिक जीवन से जुड़े संस्कृति के अन्य पक्ष गौण माने जाते हैं। चिंतन विचार और सृजन अपने आप में महत्वपूर्ण है, किन्तु उन्हें जीवन और

संस्कृति के व्यापक संदर्भों से काटा नहीं जा सकता। इस विराट पृष्ठभूमि में ही वे संपोषण व अर्थ पाते हैं।''

प्रकृति और मनुष्य के आपसी सामंजस्य की इससे सुंदर संस्कृति की क्या कोई कल्पना की जा सकती है? लेटिन अमेरिका के अनेक राष्ट्र आज अपने संविधान में परिवर्तन कर प्रकृति को एक जीवित इकाई के रूप में स्थापित कर रहे हैं। वे मानते हैं कि प्रकृति को भी मनुष्य की तरह विकसित और फलने–फूलने का अधिकार है। पश्चिमी मध्यप्रदेश, गुजरात व राजस्थान में निवास करने वाली भील जनजाति तो इसे अपने जीवन में उतार चुकी है।ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो यह कहा जा सकता है कि भील भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व आकर बस गए थे। कुछ इन्हें द्राविड़ नहीं मानते वहीं कुछ इन्हें द्राविड़ ही मानते हैं और इन्हें आदिवासियों के आस्ट्रालोइड समूह से जोड़ते हैं। वैसे रसल और हीरालाल का मानना है कि भील राजपुताना और गुजरात के प्राचीनतम निवासी हैं। (पश्चिमी मध्यप्रदेश के गुजरात व राजस्थान से सटे जिलों में इनकी बहुतायत है।) एक समय जब झाबुआ जिले का विभाजन नहीं हुआ था तब जिले की कुल जनसंख्या में इनका प्रतिशत 84.78 था। इसी तरह ये क्रमशः खरगोन, (पश्चिम निमाड़, बड़वानी सहित) में 39.05 प्रतिशत, धार में 53.38 प्रतिशत व रतलाम में 12.52 प्रतिशत थे। उन्हें प्रायः गुजरात के कोली आदिवासियों के साथ भी शामिल किया जाता है। वैसे कोल मूलतः बिहार (अब झारखंड) के छोटा नागपुर की एक जनजाति है। बैतूल, होशंगाबाद और पूर्व निमाड़ के कोरकू भी वास्तव में कोल (मुण्डा) ही हैं, जिनका आव्रजन छोटा नागपुर से हुआ है। वैसे भील अपनी मूल भाषा भूल चुके हैं, इसलिए निश्चित तौर पर यह नहीं कहा जा सकता कि भील कोलीय जनजाति है या द्राविड़।'

वहीं दूसरी ओर पुरातत्ववेत्ता दामोदर धर्मानंद कोसंबी का मानना है कि 'ये लोग अब अर्ध कबीलाई किसान बन गए हैं, अनुर्वर भूमि पर खेती करते हैं, परंतु अच्छे धनुर्धारी, शिकारी, धीवर तथा अन्न संकलनकर्ता के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। किसी मध्यवर्ती अवस्था में ये लोग पशुपालक बन गए थे और खेतीहर तो ये आधुनिक काल में ही बने हैं। फलतः भील भाषा अब गुजराती की एक बोली है, जो उन गूजरों की बोली के समीप है, जिनसे इन्होंने पशुपालन के दौरान सीखा था। यह एक स्वाभाविक परिणाम है। जब दो संस्कृतियों का मिलन होता है तो जिस संस्कृति की उत्पादन प्रणाली बेहतर होती है, उसकी भाषा अक्सर दूसरे पर हावी हो जाती है। माना जाता है कि भीलों के आश्रित नहाल कबीले के लोगों पर जिनकी किसी समय अपनी स्वतंत्र भाषा थी, ऐसा ही प्रभाव पड़ा है। कबीलाई भीलों की एक खास विशेषता यह रही है कि इन्होंने आवश्यकता पड़ने पर पूरे ऐतिहासिक युग में लड़ाईयां लड़ी हैं, यद्यपि ये योद्धाओं के रूप में संगठित कभी नहीं रहे। जान पड़ता है कि कुछ भील ईसा पूर्व पहली सदी में मालवा के आसपास राजा भी बन गए थे, परंतु इनका राजवंश जल्दी ही नष्ट हो गया।'

भील केवल पश्चिमी या मध्यभारत तक ही सीमित नहीं रहे। ये मध्यभारत खासकर बिहार एवं मध्यप्रदेश से पलायन कर सुदूर पूर्व त्रिपुरा तक पहुंचे। सन् 2001 की जनगणना के अनुसार वहां उनकी आबादी 2336 थी और वे वहां चाय बागानों, ईंट के भट्टों और खेती में काम कर रहे थे। त्रिपुरा में उनका वहां निवास मुख्यतया बेलोनिया के अकिनपुर और खोवाल उपसंभाग के बागान बाजार में है। इन्हें उत्तरी त्रिपुरा के चाय बागानों में भी कार्य करते देखा जा सकता है। एक अन्य तथ्य पर भी गौर करना चाहिए कि त्रिपुरा की सन् 1951 की जनगणना में इनकी संख्या मात्र 41 थी एवं सन् 1961 में 69 थी तो पिछले 50 वर्षों में इनकी संख्या में 40 गुना की वृद्धि किस प्रकार हुई? बहरहाल यह तो मानना ही होगा कि यह अत्यंत परिश्रमी एवं ईमानदार समुदाय है।

'भील' समुदाय को लेकर अनेक मत प्रचलित रहे हैं। सामान्यतौर पर यह माना जाता है कि भील वृहद हिंदू समाज का हिस्सा रहे है। वनवासी होने के कारण वे विकास के अवसरों से वंचित रहे। इसलिए उनमें और शेष हिंदुओं में अन्तर दिखाई देने लगा। वैदिक साहित्य में इनका उल्लेख पंचम वर्ण के रूप में हुआ है। इन्हें निषाद कहकर भी संबोधित किया गया है। इसकी वजह इनकी धनुर्विद्या में अत्यंत निपुणता है। ऐसा माना जाता है कि भील जनजाति में अतीत में अनेक महत्वपूर्ण व्यक्ति हुए हैं। मान्यता है कि ऋषि वाल्मिकी स्वयं भील थे और उनका मूल नाम वालिया था। एकलव्य का प्रसंग हम सबको ज्ञात ही है। शबरी को भी भील माना जाता है। यह कथा भी प्रचलित है कि भगवान कृष्ण का वध भी एक भील के बाण से ही हुआ था।

भील नाम की उत्पत्ति – ऐसा अनुमान है कि इस शब्द की उत्पत्ति उच्चारण संबंधी भेद के कारण संस्कृत के मूल शब्द 'भिद' से हुई है। भिद का भावार्थ है, विंधना, भेदना, वेघना (लक्ष्य को बेघना)। उच्चारण संबंधी विविधताओं के चलते भिद अंततः भील शब्द में रूपांतरित हुआ। वहीं आर वी रसल और हीरालाल का कहना है कि द्राविड़ भाषा में धनुष के लिए 'बील' शब्द प्रयुक्त होता है और धीरे–धीरे यह रूपांतरित होकर 'भील' बन गया। इससे यह भी लगता है कि रसल एवं हीरालाल की यह मान्यता उचित ही है कि 'भील' द्राविड़ हैं न कि मुण्डा। इस प्रकार भीलों के पूर्वजों और उत्पत्ति को लेकर अनेक गाथाएं हमारे सामने मौजूद हैं। यह शोध का विषय है कि अंततः भीलों को पूर्ण वनवासी मानने को लेकर मतैक्य क्यों नहीं है। लेकिन भीलों को लेकर प्राप्त कुछ ऐतिहासिक तथ्यों पर भी निगाह डालना आवश्यक है।

840 ई. पूर्व में धन्ना भील मालवा साम्राज्य का शासक था। ऐसा माना जाता है कि वह एक संवेदनशील, कुशल एवं शक्तिशाली राजा था। इस वंश के शासकों का शासन 570 ईस्वी पूर्व तक लगातार चलता रहा और इस दौरान भील संस्कृति का काफी विकास भी हुआ। भीलों के शासन का एक और प्रमाण इदर राज्य जिसे पाण्डालिका के नाम से संबोधित किया जाता था, के रूप में सामने आता है। यहां

छठी शताब्दी ईस्वी तक भील शासकों का शासन था। बाद में राजपूतों ने आक्रमण कर इसे अपने आधिपत्य में ले लिया। कुछ समय पश्चात् इस राज्य पर गुहलोत, गुहिल या गहलोत नाम के राजा राज्य करने लगे। लेकिन आक्रांताओं से पराजित होकर वे अपना राज्य छोड़ जंगलों में भाग गए। जहां भीलों ने उन्हें पूर्ण संरक्षण व सहयोग प्रदान किया। भीलों को उनमें राजाओं के गुण दिखे और उन्होंने इसे राजा मान लिया। इसके फलस्वरूप भीलों के सरदारों ने राजतिलक की रस्म मुखिया के अंगूठे को काटकर पूरी की। इतिहासकार कर्नल जेम्स राड ने अपनी पुस्तक 'एनल्स एण्ड एन्टीक्यूटीज ऑफ राजस्थान' में अबुल फजल की आईने–ए–अकबरी के हवाले से इसकी पुष्टि भी की है कि 'गुहा या गोहा अधिकतर भीलों के साथ जंगल में निवास करते थे। निडरता की बात ब्राम्हणों के बजाए भीलों में अधिक पाई जाती है इसीलिए ये राजपूतों के प्रिय बने।' भील अपना राजा चुनना चाहते थे। इस पर भीलों ने इन्हें उपयुक्त एवं योग्य समझकर इन भीलों में से एक ने अपना अंगूठा काटकर गुहा को राजा मानकर उसके मस्तक पर रक्त से राजतिलक किया। इसका अनुमोदन बाद में समाज के अन्य वयोवृद्ध पुरुषों ने किया। कालान्तर में यह गुहलोत या गहलोत कहलाए। आगे चलकर इस घटना ने रस्म का रूप ले लिया। राजतिलक व अन्य अवसरों पर इन्हें जागीरें व भूमि का पट्टा दिया जाने लगा था।

कुछ शताब्दियों तक यह उतार चढ़ाव भरा संघर्ष चलता रहा। सन् 1300 ईस्वी में शुक नामक भील शासक ने झाबुआ का राज्य अपने आधीन किया। इसके घोलता के राजपूत सरदारों से तो मधुर संबंध थे लेकिन गुजरात के शासक से दुश्मनी थी। गुजरात का शासक दिल्ली के शासक के साथ मिलकर शुक के राज्य को छीनना चाहता था। भील राजा ने वीरता के साथ बेहतर कूटनीतिक सोच का परिचय दिया और घोलता के राजपूतों से संधि कर उनकी सहायता से गुजरात के राजा को परास्त कर दिया। लेकिन गुजरात के शासक का दिल्ली सल्तनत से सीधा संपर्क था। उसने सल्तनत के सहयोग से भील राज्य पर आक्रमण कर दिया। युद्ध में भील शासक मारा गया तथा इसके सहयोगी घोलता राजपूत सरदारों को गिरफ्तार कर लिया गया।

कालान्तर में भी भीलों के संघर्ष चलते रहे लेकिन वे धीरे–धीरे भीतरी वनों में सिमटते चले गए। 18वीं शताब्दी की शुरुआत में मराठों के आक्रमण व लूटमार का सर्वाधिक शिकार भील समुदाय ही हुआ। अंग्रेजों का शासन आने के बाद भील पलटन आदि तो बनी लेकिन इस सबसे समुदाय को अधिक लाभ नहीं मिला। धीरे–धीरे ये बाहरी दुनिया से कटते गए और अंततः पुनः पूरी तरह जंगलों पर आश्रित हो गए। आजादी के बाद सरदार सरोवर बांध एक बार पुनः उन पर आक्रमण की तरह प्रकट हुआ। फर्क इतना है कि पहले के आक्रमण उन्हें जंगल के भीतर खदेड़ रहे थे और कम से कम ये लोग जीवन जी तो पा रहे थे। लेकिन ये नया आक्रमण उन्हें जंगलों से बाहर खदेड़ कर ऐसे अंजान सफर पर भेज रहा है, जिसके बारे में इन्हें कोई अंदाजा ही नहीं है। यह भीलों की अपनी एक यात्रा थी।

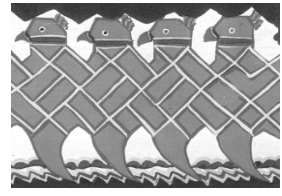
वेरियल एल्विन ने काफी विषादग्रस्त होकर और दूरदर्शिता का परिचय देते हुए कहा था 'विश्वभर के साधारण व साक्षरतापूर्व (Pre-Literate) की स्थिति में रहने वाले ज्ञानवान व्यक्तियों के लिए यह कठिन समय है। भारत में वनवासियों के लिए अब आवश्यक हो गया है कि वे इस स्वतंत्र और तेजी से विकास को उन्मुख देश के जीवन में अपना स्थान बनाए। परंतु इसमें एक खतरा है। अफ्रीका और प्रशांत क्षेत्र के त्रासदायी उदाहरण दर्शाते हैं कि बाहरी एजेंसियों द्वारा किए गए तीव्र एवं अति उत्साही परिवर्तनों के लोगों की कलाओं पर विध्वंसात्मक प्रभाव पड़ सकते हैं। आदिवासी भारत को हजारों छोटे विद्यालयों से पाट दिया जाएगा। लड़के और लड़कियों की चमकदार आंखों को इस बात के लिए प्रशिक्षित किया जाएगा जिससे कि वे अपनी भाषा के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा में अर्थ निकाल पाएं। इससे खतरा यह है कि संभवतः उन्हें प्यार और सुंदरता को पहचानना नहीं सिखाया जाएगा। उनके दिमाग को कुछ इस तरह संकुचित किया जाएगा कि वे विश्वास करने लगें कि वह सब कुछ जो प्राकृतिक, खुला और सामान्य है, किसी न किसी रूप में खराब है। उनके हाथों को घटिया धागा बनाने के लिए प्रशिक्षित किया जाएगा जिससे कि वे अपने शरीर के लावण्य को ढक सकें। लेकिन वे ऐसी कोई सुंदर वस्तुए न बना पाएं जो कि उनके बालों, गले और बाजुओं को अलंकृत करती हो। इस बात का भी खतरा है कि उन्हें पुराने जीवन को अस्वीकृत करने को प्रेरित किया जाएगा और इसके बदले में उन्हें बहुत कम सीख दी जाएगी कि वे जीवन में लय और तेजस्विता, उल्लास एवं आनंद से कैसे लगाव स्थापित कर पाएं।'

सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक स्थितियों में आए परिवर्तन के विपरीत प्रभाव धीरे–धीरे सामने आते हैं और वे संस्कृति को अपने अनुकूल बनाने का प्रयास करते हैं। वेरियर एल्विन इन्हीं सबको लेकर चिंतित नजर आते हैं। लेकिन विस्थापन से सबकुछ इतनी फुर्ती से होता है कि अवाक रह जाना पड़ता है। आदिवासी एवं कृषक समुदाय की जीवनशैली और संस्कृति कोई अलग–अलग वस्तुएं नहीं है। उनके तीज–त्यौहार, उनकी परंपराए, उनका खान पान, सभी कुछ एक दूसरे से गुंथा हुआ है। आदिवासी के देवता हमेशा उनके साथ रहते हैं। उनके पूर्वज हमेशा उनकी मदद को तैयार रहते हैं। उनका पड़ौसी हमेशा उन्हें संभाले रखता है। उनकी स्वतंत्रता कभी उन्हें स्वच्छंद नहीं होनी देती क्योंकि वे स्वतंत्रता के मायने समझते हैं। यह स्वतंत्रता उन्होंने स्वअर्जित की है और कभी किसी को इसे छीनने का मौका नहीं दिया। या दूसरे शब्दों में कहें तो आजादी के पहले के किसी शासक में इतना साहस नहीं था जो इनकी संस्कृति में हस्तक्षेप कर सके। लेकिन लोकतंत्र की लुभावनी छवि में संभवतः पहली बार इस समुदाय को किसी पर आश्रित कर दिया। गौर करना होगा कि यह हार लोकतंत्र की है या हमारी सोच की। बहरहाल अपने निवास से विस्थापन की वजह से आए परिवर्तन के सांस्कृतिक प्रभाव को समझने के लिए आवश्यक है कि इन समुदायों के जीवन को समग्रता में समझा जाए।





आदिवासी समुदाय



खापरखेड़ा अभी डूबा नहीं है

'इस बात के प्रमाण मिले हैं कि आज से करीब 6.5 करोड़ वर्ष पूर्व मध्यप्रदेश के धार जिले में पालियो नदी या पालियो नहर बहती थी। अभी इस संभावना को तलाशा जा रहा है कि इस पौराणिक नदी का नर्मदा से कोई संबंध था या नहीं। क्योंकि यह नदी भी नर्मदा की तरह पूर्व से पश्चिम की ओर बहती है। वर्तमान में नर्मदा नदी इससे मात्र 10 किलोमीटर की दूरी पर बह रही है। इससे नर्मदा के उद्‌गम पर भी प्रकाश डाले जाने की उम्मीद है।'

(हिंदुस्तान टाइम्स – 30 जुलाई, 2012)

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के अरुण सोनकिया ने 5 दिसम्बर 1982 को नर्मदा नदी के किनारे स्थित हथनोरा से एक मानव फाजिल की खोपड़ी की हड्डी खोज निकाली। इसे 'नर्मदा मानव' का नाम दिया गया जो कि जावा मानव या पेकिंग मानव जैसा नाम है। दल इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि ये हड्डी किसी महिला की है जो कि आदिमानव की प्रागेतिहासिक पूर्वज होगी। दिल्ली विश्वविद्यालय के नृतत्वशास्त्र विभाग के प्रमुख डी.के. भट्‌टाचार्य का कहना है कि यह शानदार खोज है, जो कि मनुष्य के उद्‌गम को लेकर दक्षिण एशिया में चल रहे अध्ययन की दिशा ही बदल देगी। सोनकिया के नेतृत्व वाले दल के सदस्यों का कहना है कि यह फाजिल होमो ईरेक्टस का है, जो कि होमा स्पाइन्स (वर्तमान मेधावी मानव) से पहले की प्रजाति है। होमो ईरेक्ट् का धरती पर काल 1,80,000 वर्ष से 2,00,000 वर्ष पूर्व का माना जाता है। वैज्ञानिकों को भय है कि विकास के आधुनिक मॉडल से प्रागेतिहासिक स्थलों को हानि पहुंच रही है। भट्‌टाचार्य का यह भी कहना है कि नर्मदा पर बनने वाले बांधों से इन स्थलों के स्थायी डूब में आने की संभावना है।'

'नर्मदा मानव' को खोजे चार दशक से भी ज्यादा हो गए। लेकिन इससे संबंधित अध्ययन का अगला चरण हमारे सामने नहीं आया। बल्कि दूसरी ओर नर्मदा नदी पर

बरगी बांध, इंदिरासागर बांध और ओंकारेश्वर बांधों की डूब में घाटी का काफी बड़ा इलाका आ चुका है। इन दोनों बांधों से थोड़ा आगे मध्यप्रदेश में नर्मदा नदी पर बनने वाला अंतिम बड़ा बांध महेश्वर स्थित है। इसकी आंशिक डूब में पुरातत्वीय महत्व के नावड़ा टोली जैसे स्थान आ रहे हैं।

जहां महेश्वर बांध समाप्त होता है वहीं से कमोवेश सरदार सरोवर परियोजना का डूब क्षेत्र प्रारंभ हो जाता है। गुजरात में निर्मित सरदार सरोवर जलविद्युत परियोजना के लिए बने जलाशय में मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, और गुजरात के सैकड़ों गांव व हजारों परिवार डूब में आ रहे हैं। इस बांध की डूब में एक पूरी सभ्यता आ रही है। गौरतलब है कि डूब में सिर्फ जमीन नहीं आती और महज परिवार व लोग ही नहीं उजड़ते बल्कि इससे एक पूरा सांस्कृतिक परिवेश उजड़ता है। ये विस्थापन किस हद तक विनाशकारी सिद्ध होता है, इसके बारे में सुप्रसिद्ध विचारक डॉ. कपिल तिवारी कहते हैं, 'वन (या भूमि) अपने निवासी को एक सांस्कृतिक वातावरण प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वह उसका जनपद है यानि तुम्हारी संस्कृति का घर है। अतएव किसी भी प्रकार के नए वातावरण में संस्कृति की क्षतिपूर्ति संभव नहीं है। बदला हुआ भूगोल उसके अर्थात विस्थापित व्यक्ति के सांस्कृतिक वातावरण का जनपद हो ही नहीं सकता। इस नए स्थान पर मनुष्य महज जिंदा रह सकता है। केवल शारीरिक रूप से जिंदा को सबकुछ मान लेना भी भूल होगी क्योंकि एक मनुष्य में जीने के साथ आनंद की भावना भी होना अनिवार्य है। जाने–अनजाने सबसे पहले संस्कृति का निर्माण होता है। इसके बाद मानस का। मानस जीवन के रस निर्मित करने का और अंततः या अंत में रचना प्रकट या निर्मित होती है। यह एक स्वस्फूर्त एवं सतत् प्रक्रिया है। नया वातावरण इस प्रक्रिया को सिर्फ बाधित ही नहीं करता वरन इसे तोड़ ही देता है। यहां यह भी स्पष्ट तौर पर समझ लेना चाहिए कि नए वातावरण में इसकी क्षतिपूर्ति हो ही नहीं सकती। याद रखिए संस्कृति का जनपद बनने में सहस्त्राब्दियां लगती हैं।' (विस्तृत देखे परिशिष्ट क्रमांक–2)

यानि किसी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक वातावरण बनने के लिए आवश्यक है कि किसी स्थान विशेष पर निवास या बसाहट की निरंतरता बनी रहे। इस कसौटी पर तौलें तो नर्मदा घाटी और इससे सटे हुए स्थानों पर बसाहट की जितनी निरंतरता हमें मिलती है उतनी अन्यत्र नहीं। उदाहरण के लिए बीसवीं शताब्दी की शुरुआत तक हमारे इतिहासकारों का सामान्यतौर पर यह मानना था कि भारतीय संस्कृति का दूसरा चरण कमोवेश यहां आर्यों के आगमन अर्थात करीब 1500 ईसा पूर्व से प्रारंभ हुआ। अतएव वे इसे दुनिया की नवीनतम संस्कृति जैसी संज्ञाएं देने लगे। लेकिन बीसवी शताब्दी के प्रथम चरण में भारत के पुरातत्व विभाग ने पश्चिमी पंजाब के हड़प्पा और सिंध प्रांत के मोहनजोदड़ो में किए गए उत्खनन में पाया कि ताम्रयुग से बहुत पहले भारत में एक उन्नत नगरीय सभ्यता विद्यमान थी। बाद में किए गए उत्खननों से यह बात भी सामने आई कि यह संस्कृति यही तक सीमित नहीं थी

बल्कि इसकी परिधि में पूरा पंजाब, सिंध, बलूचिस्तान और काठियावाड़ का बड़ा हिस्सा भी आता था जो कि एक ओर पश्चिमी उत्तरप्रदेश तो दूसरी ओर यह दक्षिण भारत के पश्चिमी तटीय क्षेत्रों तक फैला हुआ था।

यह आश्चर्य का विषय है कि आजादी के पहले और उसके बाद, कभी भी नर्मदा घाटी को सभ्यता के विकास की राह समझने में उतना महत्व नहीं दिया गया, जितना कि दिया जाना चाहिए था। लगातार यह माना और मनवाया गया कि भारतीय सभ्यता की नींव सिंधु घाटी या हड़प्पा संस्कृति से ही शुरु होती है। लेकिन इस अफरातफरी में हम यह भी भूल गए कि संस्कृतियां किसी आकृति की तरह नहीं होती जिनकी कोई निश्चित सीमा हो और जहां पर वह एकाएक लुप्त हो जाती हो। इसे किसी दो देशों की भौगोलिक व राजनीतिक सीमा के उदाहरण से ज्यादा अच्छे से समझा जा सकता है। कहने का अर्थ यह है कि संस्कृतियां अपने केंद्र से जैसे–जैसे दूर तक विस्तारित होने लगती हैं, वैसे–वैसे उनमें अधिक लोच आती जाती है और वे उस संस्कृति की ओर आकर्षित होने लगती हैं, जो दूसरे छोर से नजदीक होती हैं। इस प्रक्रिया में वे कुछ इस नई संस्कृति को देती हैं और थोड़ा बहुत उनसे ले लेती हैं। शायद यही वृत्ति भारत में विविधता में एकता जैसे मुहावरे गढ़ती है।

नर्मदा घाटी के संबंध में इस प्रक्रिया को ध्यान में नहीं रखा गया। इस पूरी नदी घाटी सभ्यता को पूर्णतः आरण्यक (वनग्रामी) मानकर इसे अकेला छोड़ दिया गया। लेकिन क्या वास्तव में ऐसा ही था? नर्मदा घाटी का ऊपरी इलाका आरण्यक संस्कृति का संवाहक हो सकता है। लेकिन जैसे–जैसे मध्य घाटी में आते हैं वैसे–वैसे एक अलग संस्कृति हमारे सामने आती है। भीमबेटका और होशंगाबाद में गुफाओं में मिले भित्ती चित्र इसकी गवाही देते हैं। नर्मदा के निचले हिस्से में कुछ अलग परिस्थितियां सामने आती हैं।

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के इतिहासपूर्व शाखा के श्री एस.बी.ओटा द्वारा मध्यप्रदेश के धार जिले में नर्मदा नदी के दाहिने तट पर स्थित खापरखेड़ा में किए गए उत्खनन में ताम्रयुग से आरंभिक ऐतिहासिक काल बरास्ता लौहयुग सतत प्रवाहमान सांस्कृतिक धारा के प्रमाण मिले हैं। यह उत्खनन सरदार सरोवर बांध की डूब में आ रहे स्थानों की पुरासंपदा की खोजबीन के लिए किया गया था। यहां पाया गया ताम्रयुगीन मिट्टी शिल्प उद्योग ठीक वैसा ही है जैसा कि पहले पश्चिम निमाड़ के पीपरी एवं उटावड में उत्खनन के दौरान पाया गया था। यहां की विशेषता है बड़े आकार के पात्र एवं शिल्प। यहां लौह युग के अवशेष भी मिले हैं जो कि मध्य नर्मदाघाटी में अन्यत्र प्राप्त नहीं हुए थे। यहां मिले मिट्टी शिल्प के अवशेषों में काफी परिष्कार भी नजर आता है।

लौह युग के तुरंत बाद खापरखेड़ा नर्मदा किनारे की महत्वपूर्ण बसाहट बन गई थी। इस उत्खनन में यहां की बसाहट में इस्तेमाल की गई काली मिट्टी की बिना

पकी एवं पकाई गई दोनों प्रकार की ईंटें और इस काल के टट्टर एवं लीपे हुए मकानों के अवशेष मिले हैं। इस बसाहट में मकानों के नियोजन से आभास मिलता है कि यहां सार्वजनिक एवं निजी दोनों प्रकार के भवन विद्यमान थे। इससे यह भी स्पष्ट होता है आरंभिक ऐतिहासिक काल के दौरान यहां एक मजबूत केंद्रीय प्रशासनिक व्यवस्था मौजूद थी। इस स्थान पर अन्य कई विशिष्ट शिल्पों व शिल्पकारों जैसे मिट्टी शिल्प, सुनार, तांबा, व लुहारों के प्रमाण भी मिलते हैं। इसके अलावा यहां मनके (मोती) बनाने हड्डी के उत्पाद बनाने एवं सीपियों से चूढ़ी बनाने के प्रमाण भी मिले हैं। इससे यह आभास भी होता है आरंभिक ऐतिहासिक काल में खापरखेड़ा की बसाहट मूलतः एक 'व्यापार केंद्र' जैसी थी जहां विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन होता था और उन्हें अन्य स्थानों पर बिक्री के लिए भेजा जाता था। इस अनुमान को यहां बड़ी संख्या में प्राप्त सिक्के, मोहरें और मुहरबंदी (लाख) की प्राप्ति हकीकत में बदलते प्रतीत होते हैं। यहां प्राप्त लकड़ी की अनूठी मुहर ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी की प्रतीत होती है, जिसे अब तक प्राप्त लकड़ी की सर्वाधिक प्राचीन मुहर भी कहा जा सकता है। इसके अलावा यहां बड़ी संख्या में आरंभिक ऐतिहासिक काल के तांबे, लोहा एवं सीसा की वस्तुएं, मिट्टी की बनी मनुष्यों एवं जानवरों दोनों की आकृतियां, बहुमूल्य एवं साधारण पत्थरों के मोती, विभिन्न प्रकार के मिट्टी के सामान, हड्डी एवं सीपियों से बनी वस्तुएं पुरातत्वीय महत्व की प्रारंभिक ऐतिहासिक काल की वस्तुएं मिली हैं। इस काल की सबसे महत्वपूर्ण खोज यहां दो ऐसे उदाहरणों का मिलना है, जिसमें किसी व्यक्ति को दोबारा दफनाया गया है। यानि एक बार किसी शव को दफनाने के बाद जब उसका विघटन हो जाता है तब हड्डियां निकालकर पुनः दफनाने की प्रथा इस काल में मौजूद थी।

अपनी बात को और विस्तारित करते हुए श्री ओटा ने पुरातत्व के 1991 के अंक में लिखा था,

मध्यप्रदेश के धार जिले में नर्मदा के दाहिने तट पर धार जिले में स्थित खापरखेड़ा गांव विशाल सरदार सरोवर बांध के जलाशय की डूब में आने वाला है। यह आश्चर्य का विषय है कि इस गांव की सीमा में आने वाली विशाल पुरातन बसाहट अभी तक पुरात्तवविदों की निगाहों से दूर है। यह पुरातन बसाहट जिसे गांव वाले 'वनिटखेड़ा' पुकारते हैं, नर्मदा के दाहिने तट पर वर्तमान गांव खापरखेड़ा से 600 मीटर की दूरी पर स्थित है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह नाम प्राचीन मिट्टी के टीले से लिया गया है। वैसे खापरखेड़ा का शाब्दिक अर्थ होता है खापर यानि टूटा मटका अर्थात टूटे मटकों का गांव। इस टीले के उत्तरी एवं पश्चिम की ओर से एक छोटी धारा बहती है जो कि कमोवेश इस टीले को छूती हुई अंततः नर्मदा में मिल जाती है। इस बसाहट का कुल क्षेत्रफल करीब 45000 वर्गमीटर (300 मीटर 150 मीटर) है। यहां पर स्थित सांस्कृतिक संपदा करीब 9 मीटर नीचे नर्मदा के कछार में दबी है। इससे किसी भी प्रकार की छेड़छाड़ नहीं हुई है सिवाय कुछ क्षरण के और इसकी सतह पर हो रही

खेती के। नदी के किनारे पर चट्टानें होने की वजह से यहां पर क्षरण नहीं हुआ है। शायद इसी कारण मानव यहां आकर बसा होगा।

श्री ओटा को यहां उत्खनन से मिट्टी के अनेक प्रकार व रंगों के बर्तनों, जिन पर पालिश भी की हुई थी, पायदार चक्की, मिट्टी के त्वचा रगड़ने वाले औजार एवं कान के जड़ाऊ जेवर, मूसली, अत्यन्त छोटे पत्थर आदि मिले थे। इस स्थान पर मिली कला सामग्री इसके ताम्रकालीन युग की ताकीद करती हैं। साथ ही इस बसाहट की प्रारंभिक ऐतिहासिक काल तक निरंतरता बने रहने की भी पुष्टि करती है। यहां तक पकी हुई ईंटे भी मिली हैं। यहां से 300 मीटर पश्चिम की दूरी पर एक मंदिर के अवशेष मौजूद हैं। इसके अलावा यहां पर ठोस पीली कछारी मिट्टी भी है, जिसमें कि बहुमूल्य पत्थरों के बहुत छोटे–छोटे आकार की वस्तुएं भी मिल सकती हैं। अंत में वे सुझाव देते हैं, कि इस स्थान में निहित संभावनाओं के चलते यह आवश्यक है कि मालवा क्षेत्र की इस ताम्रयुगीन एवं आरंभिक ऐतिहासिक काल के सांस्कृतिक पक्ष को उजागर करने हेतु इस स्थल का डूब में आने से पहले तत्काल उत्खनन किया जाए।

सरदार सरोवर परियोजना डूब क्षेत्र में आ रहा नर्मदाघाटी का क्षेत्र नगरीय के साथ ही साथ वन आधारित या आरण्यक सभ्यता का भी गवाह रहा है। यह दुखद है कि अभी तक यानि 122 मीटर तक की ऊंचाई तक आई डूब में आदिवासियों को अधिक खामियाजा उठाना पड़ा है। लेकिन बांध के 17 मीटर ऊंचे दरवाजे यदि लग जाते हैं तो डूब की विकरालता मध्यप्रदेश के निमाड़ और महाराष्ट्र के पठार में भी साफ दिखाई देने लगेगी। गौरतलब है आज बांध 122 मीटर की ऊंचाई पर पहुंच चुका है और कई ऐसे लोगों खासकर आदिवासियों का पुनर्वास अभी भी बाकी है, जिनका घर व खेत 80 मीटर से भी कम पर डूब चुके हैं।

जब मध्यप्रदेश के झाबुआ जिले की अलिराजपुर तहसील (अब पृथक जिला) का जलसिंधी पहले गांव के रूप में डूब में आने वाला था तो इस क्षेत्र के प्रधान बाबा महरिया ने मध्यप्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री दिग्विजय सिंह को सारे क्षेत्र की ओर से एक पत्र लिखा था। वैसे वे लिखना नहीं जानते लेकिन उन्होंने अपनी बात कही और नर्मदा बचाओ आंदोलन के कार्यकर्ताओं ने इसे लिपिबद्ध कर भेजा था। यह महज एक पत्र नहीं बल्कि एक ऐसा दस्तावेज हैं, जिसके माध्यम से हम आदिवासी संस्कृति को इतनी अच्छी तरह से समझ सकते हैं, जितना हमें हजारों पृष्ठों की किताबें या आदिवासी संस्कृति पर व्याख्यान देने वाले दर्जनों दार्शनिक भी नहीं समझा सकते। अपने पत्र में वे लिखते हैं, 'सरकारी और तमाम शहरी लोग यह मानते हैं कि हम जंगल में रहने वाले गरीब–गुरबा, पिछड़े और बंदरों की तरह बसर करने वाले लोग हैं। आप लोग हमें समझाते रहते हैं कि तुम लोग गुजरात की मैदानी जमीन पर जाओ–वहां तुम्हारा भला हो जाएगा, तुम्हारा विकास हो जाएगा। पर हम आठ साल से लड़ रहे हैं। कई बार जेल जा चुके हैं–अंजनवाड़ा गांव में पुलिस ने पिछले साल गोलीबारी भी कर दी थी, हमारे घर–बार तोड़ दिए थे। लेकिन हम लोग 'मर जाएंगे

पर हटेंगे नहीं' का नारा लगाते हुए आज भी उसी जगह पर बैठे हुए हैं। क्यों?' इस क्यों का जवाब शायद उनके पत्र की निम्न पंक्तियों में मिले,

'आप सोचते हैं हम गरीब हैं। हम गरीब नहीं हैं। मिल जुलकर अपने खेतों को बांधकर हम यहां बसे हैं। हम किसान हैं। हमारे यहां अच्छी फसलें पकती हैं। धरती माता पर हल चलाकर हम फसल पकाते हैं। बरसात में मेघ पानी देते हैं। उससे हम कमाई करके जीते हैं। कन्हर (जुआर या ज्वार) माता पकती है। हमारी कुछ जमीन पट्टे की भी है और बाकी नेवाड़ (विवादित जंगल जमीन) हैं। इन जमीनों में हम बाजरा, जुआर, मक्का, भादी, भट्टी, सौवी, कुद्री, चना, मोठ, उड़द, तुअर, तिल, मूंगफली आदि पकाते हैं। हमारे यहां तरह–तरह की फसलें हैं। इन्हें हम बदल–बदल कर खाते हैं। इससे हमारा भोजन स्वादिष्ट भी लगता है और इसके दूसरे फायदे भी हैं। बरसात आते–आते हमारा अन्न खत्म हो जाता है। खाने की बहुत कठिनाई होती है। तब भादी भट्टी सरीखी फसल हम दो महीने में ही पका लेते हैं, इससे हमें खाने को मिल जाता है। बाकी फसलें तीन–चार महीनों में पकें तो भी हमारी गुजर हो जाती है। गुजरात में क्या पकता है? गेहूं और दादरा जुआर (जाड़े की ज्वार), तुअर और थोड़ा बहुत कपास। ये फसलें खाने की कम बेचने की ज्यादा होती हैं। हम तो खाने के लिए ही उगाते हैं। यदि उससे अधिक मिल जाता है तो ही कपड़े लत्ते खरीदने के लिए बेचते हैं। बाजार में कीमतें कम हों या ज्यादा, हमें तो खाने को मिल ही जाता हैं।'' (विस्तृत पत्र परिशिष्ट – 1)

शायद इससे हमें हमारे 'क्यों' का जवाब मिल गया होगा। लेकिन बात यही आकर ठहर जाती है। बांध निर्माण करने वालों ने न तो पुरातत्वीय संस्कृति को सहेजने का प्रयास किया और न ही वर्तमान सजीव संस्कृति को। जमीन के डूब में आने की वजह से बाबा महरिया ने पहाड़ों के ऊपरी हिस्सा को अपना घर बना लिया लेकिन पुरातत्वीय संस्कृति को तो ऐसी सुविधा नहीं है कि वह स्वयं को बचा सके। ऐसे में इसके सहेजने के लिए किए गए प्रयत्नों की वास्तविकता पर ध्यान देना अति आवश्यक है। (सजीव संस्कृति पर हम बाद में विस्तृत चर्चा करेंगे ही) पुरातत्वीय संस्कृति को सहेजने में बरती जा रही 'गंभीरता' पर्यावरण उप समूह की 29 नवम्बर 2010 की बैठक के मिनिट्स से साफ सामने आती है।

29 नवम्बर 2010 की बैठक

भारत सरकार भारत भर में जिसमे नर्मदा घाटी भी शामिल है, में पाई गई पुरात्तवीय एवं सांस्कृतिक विरासत (न्दहमतंतजपबंस वथ्पजी) के महत्व को मान्यता देती है और इसने इन्हें नष्ट होने एवं दुरुपयोग से बचाने एवं इनके रखरखाव हेतु कानूनों की एक श्रृंखला लागू की है। कहा जाता रहा है कि डूब क्षेत्र पुरातत्वीय अवशेषों के लिहाज से अत्यंत समृद्ध है, लेकिन इसका अध्ययन किया जाना अभी भी बाकी है। यह दावा

किया जा रहा है कि इस बात का खतरा बना हुआ है कि समृद्ध ऐतिहासिक विरासतें नष्ट हो जाएंगी और बांध की ऊंचाई थोड़ी सी भी बढ़ाने से इस बात का खतरा है कि भारत पुरातत्व सर्वेक्षण की रिपोर्ट में सूचीबद्ध स्थान भी डूब जाएंगे।

इसके पश्चात स्मारकों/पुरातत्व महत्व के स्थानों के प्रकार वर्णित हैं। वहीं इसके नीचे लिखा है,

सरदार सरोवर परियोजना के डूब क्षेत्र में कोई भी केंद्र/राज्य द्वारा संरक्षित स्मारक नहीं आ रहा है। लेकिन यह स्वीकारा गया है कि मध्य नर्मदाघाटी में फाजिल हड्डियां और चतुर्थयुगीन (Quaternary) मानव की आदिपाषण युग की संस्कृतियों को शैल विज्ञान के नजरिए से देखना होगा और यह दक्षिण एशिया में संभवतः एकमात्र स्थान है जहां मनुष्य के फाजिल्स वाले प्रमाण मिले हैं। अतः यह कहा जा रहा है कि नर्मदा घाटी दक्षिण एशिया में मनुष्य के विकास को समझने और दक्षिण एशिया की संस्कृति को समझने का अनूठा अवसर प्रदान करती है। अतः यह महसूस किया जा रहा है कि डूब के पहले आदिपाषाण युग के अवशेषों का उत्खनन हो जाना चाहिए। इसी प्रकार क्षेत्र की सांस्कृतिक विरासत की समृद्धता भी विस्तृत नृतत्वशास्त्रीय अध्ययन की मांग करती है।

इसके साथ ही कुछ अन्य तथ्यों पर भी गौर करना आवश्यक है। मध्यप्रदेश की पुरातत्वीय सामग्री के बारे में इसी रिपोर्ट में कहा गया है, मध्यप्रदेश पुरातत्व विभाग ने सरदार सरोवर परियोजना से प्रभावित 120 गांवों के पुरातत्वीय महत्व के स्थलों की विस्तृत रिपोर्ट तैयार कर ली है। 73 गांवों के दूसरा अध्ययन जुलाई 1991 में हो चुका है। प्रत्येक अध्ययन में छायाचित्रों के अलावा इनके वर्तमान उपयोग और स्थलों के ऐतिहासिक महत्व का विस्तार से अध्ययन किया गया है। इसके बाद एक चार स्तरीय कार्ययोजना बनाई गई थी।

इसे रिपोर्ट के इस अंश से कुछ इस तरह समझना चाहिए –

मध्यप्रदेश शासन ने सन् 1993 में एक कार्ययोजना बनाई। इस योजना की सन् 1997 में समीक्षा की गई और सन् 2003 में पुनः समीक्षा की गई। इसके बाद सन् 2007 में इसकी और आगे की समीक्षा की गई। सन् 2007 की नवीनतम योजना के अनुसार 29 स्मारकों को 'अत्यन्त महत्वपूर्ण' एवं 15 स्मारकों को 'महत्वपूर्ण' की श्रेणी में रखा गया है, जिससे कि इन्हें प्राथमिकता के आधार पर कहीं और पुर्नस्थापित किया जा सके। इस योजना में बताया गया कि सन् 2003 की योजना में सूचीबद्ध 12 अत्यन्त महत्वपूर्ण स्मारकों को कहीं और पुर्नस्थापित करने की अभी भी आवश्यकता है और इसकी अनुमानित लागत 13 करोड़ रु. आएगी। इसके अलावा इसमें 40.80 करोड़ रु. की लागत से अन्य 34 स्मारकों की पुर्नस्थापना को भी शामिल किया गया है। इसको सिलसिलेवार ढंग से 5 वर्षों या 2007–2008 से 2011 से 2012 के मध्य 80.60 करोड़ रु. की लागत से पुर्नस्थापित किया जाना है। वैसे मध्यप्रदेश ने पर्यावरण उप दल

(ईएसजी) की 45वीं बैठक में सूचित किया कि सभी आवश्यक पुर्नस्थापना कार्य पूरे कर लिए गए हैं। वहीं पर्यावरण उप दल की 46वीं बैठक के दौरान यह बताया गया कि नर्मदा घाटी विकास प्राधिकरण के निर्णय के अनुसार केवल एक संग्रहालय स्थापित किया जाना है, जो कि अब पूर्ण हो चुका है।

रिपोर्ट के अनुसार तीनों राज्यों की सरकारों ने डूब क्षेत्र में आने वाले सभी धार्मिक व सांस्कृतिक स्थलों का पूरा सर्वेक्षण कर लिया है लेकिन कार्य को लेकर इसी रिपोर्ट में नत्थी एक तालिका से स्पष्ट होता है कि ज्यादातर कार्य अभी अपूर्ण हैं। लेकिन इसी के साथ संग्रहालयों को लेकर इस रिपोर्ट में उल्लेख है कि इंदौर के लालबाग में नर्मदा पार्क और संग्रहालय के प्रस्ताव के अलावा बड़वानी और कसरावद में भी संग्रहालय प्रस्तावित हैं। बड़वानी में संग्रहालय का काम प्रारंभ ही नहीं हुआ है वहीं कसरावद का संग्रहालय नर्मदा घाटी विकास प्राधिकरण द्वारा पूर्ण कर मध्यप्रदेश के पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग को सौंप दिया गया है। इसमें मूर्ति एवं मॉडल प्रदर्शित कर दिए गए हैं और विकास एवं सौंदर्यीकरण का कार्य जारी है। भोपाल के संग्रहालय में नर्मदा वाटिका कक्ष तैयार है और उसका उद्घाटन कर दिया गया है। वहीं नर्मदाघाटी विकास प्राधिकरण के 18.01.2008 के पत्र में इस निर्णय के बारे में बताया गया है कि बाकी के तीन संग्रहालय स्थापित नहीं किए गए हैं।

इससे भी महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इंदौर के लालबाग में नर्मदा पार्क एवं संग्रहालय के लिए आरक्षित भूमि मध्यप्रदेश हस्तशिल्प एवं हाथकरघा विकास निगम को हस्तांतरित कर दी गई है और बाकी भूमि को म.प्र. पर्यटन विकास निगम को हस्तांतरित करने की प्रक्रिया चल रही है। हस्तशिल्प निगम ने तो वहां शहरी हाट का निर्माण भी कर दिया है। इसका सीधा सा अर्थ यह निकलता है कि तकरीबन दो लाख वर्षों तक कायम रही जीवन की निरंतरता के पुरातत्वीय प्रमाणों को सहेजने को लेकर किसी प्रकार की व्यग्रता दिखाई नहीं पड़ रही है। इस तरह की पूरी निर्माण प्रक्रिया में अंतर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक विरासत प्रबंधन के सिद्धांतों के प्रति पूर्ण अवहेलना दर्शाई गई है। यह सबकुछ तब हो रहा है जबकि नागरिकों व विशेषज्ञों के वर्ग लगातार इसे सहेजे जाने की गुहार लगा रहे हैं।

नर्मदा नदी पर बन रहे बांधों को लेकर एस.बी.ओटा ने यह भी लिखा है कि 'हमारी सांस्कृतिक विरासत के बेदर्दी से विनाश के पीछे मुख्य कारण यह है कि हमारे यहां विकसित देशों जैसे यथोचित कानून नहीं हैं। इसका लाभ उठाकर अनेक गतिविधियां संचालित होती हैं और पूरा दृष्यबंध (Land Scape) ही बदल जाता है या डूब में आ जाता है। हमारे पूरे दृष्यबंध को बदलने में सबसे बड़ी भूमिका बड़े बांधों की है। ऐसी किसी भी गतिविधि को 'सुस्थिर' नहीं कहा जा सकता। पिछले तकरीबन 40 वर्षों से अधिकांश महत्वपूर्ण नदियों (नहरों) पर सिंचाई एवं जलविद्युत परियोजनाएं प्रारंभ हो गई और इन्होंने या तो 'मानवीय मूल्यों' की अवहेलना की या उसे ध्वस्त कर दिया। तकरीबन सभी मानवीय संस्कृतियां नदीघाटियों के साथ ही साथ विकसित, बसीं

और पलायन करती रहीं हैं। अतएव यह अनिवार्य है बांध संबंधित गतिविधियों की वजह से डूब में आने से पहले उस क्षेत्र की पुरासंपदा को मानव के अतीत को समझने के हिसाब से देख लिया जाए। दुर्भाग्यवश दक्षिण एशिया खासकर भारत में कभी भी ऐसा नहीं हुआ जो कि अपनी विविधता भरी संस्कृति के लिए जाना जाता है। पुरातत्वीय एवं सांस्कृतिक विध्वंस की वर्तमान स्थिति खतरनाक है।'' (एस. बी. ओटा का शोधपत्र पुरातत्वीय विरासत बनाम बांध : भारतीय परिस्थितियां) गौरतलब है लापरवाही और अनदेखी की शिकायत कोई एक पुराविद नहीं कर रहा है बल्कि इसे लेकर सभी में मतैक्य भी है।

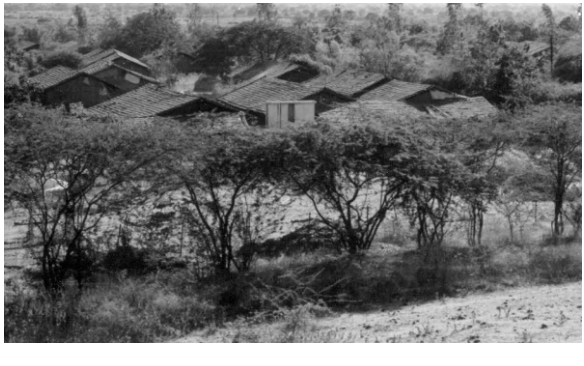
भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण की इतिहासपूर्व शाखा एवं डेक्कन महाविद्यालय की शीला मिश्रा द्वारा किए गए संयुक्त उत्खनन में पुरापाषाण युग (1,00,000 से 10,000 वर्ष ईसा पूर्व) में शुतुरमुर्ग के अंडे से मोती निर्माण करने वाले स्थान का अस्तित्व प्रकाश में आया। शुतुरमुर्ग के अंडे के छिलके से मोती बनाने की विभिन्न प्रक्रियाओं के अलावा यहां मोतियों में छेद करने वाले मूल्यवान पत्थर एवं CARNELIAN के छेद करने वाले औजार (ड्रिल) छोटे पत्थरों की वस्तुएं एवं अंगीठीदान भी मिले हैं। ऐसा पहली बार हुआ है कि भारत में पुरा पाषाण युग के सांस्कृतिक पक्ष के प्रमाण खोजे गए हैं। नर्मदा नदी के किनारे स्थित यह स्थान सरदार सरोवर बांध की डूब से खतरे में है।

VAHSAN यानि जिन प्रमाणों के आधार पर हम अपनी स्मृति को लाखों–लाख वर्ष पीछे तक ले जा सकते हैं उन्हें चंद भौतिक सुखों के लिए नष्ट कर देना क्या उचित है? हमें यह भी ध्यान में रखना होगा कि सभी मानव संस्कृतियां सिंधु घाटी सभ्यता, मेसोपोटेमिया जैसी नदीघाटियों के समानांतर ही विकसित, बसी और पलायन करती रही हैं। नर्मदाघाटी भी इसी तरह की सभ्यताओं का घर रही है।

यह सब जानते बूझते हुए भी हमारे नीति निर्माताओं को यह नहीं सूझा कि इसे सहेजें। दुख तो तब होता है जब हम सोचते हैं कि हमारे राष्ट्र के पहले प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरु संस्कृति व इतिहास को लेकर अत्यंत सजग रहे हैं और भारत एक खोज जैसी असाधारण पुस्तक के लेखक भी थे। लेकिन क्या वे भी विकास और संस्कृति को एक दूसरे का प्रतिद्वंदी मान बैठे थे? क्योंकि इस सांस्कृतिक विनाश की शुरुआत पहले बांध से ही प्रांरभ हो गई थी। इसमें हिमाचल प्रदेश व पंजाब में भाखड़ानंगल, उड़ीसा में महानदी पर हीराकुंड, पश्चिम बंगाल में दामोदर घाटी परियोजना, कर्नाटक में कृष्णा नदी घाटी परियोजना आदि शामिल हैं। यह ऐसे कुछ उदाहरण हैं जहां प्रभावित इलाकों का कोई पुरातत्वीय सर्वेक्षण ही नहीं हुआ। इस प्रक्रिया में अनगिनत पुरातत्वीय स्थल डूब गए। अब नर्मदा घाटी में सर्वाधिक बांध बनाए जा रहे हैं और यहां हजारों पुरातत्वीय स्थल संकट में हैं। इसके बावजूद प्रभावित क्षेत्रों की न तो गहन जांच परख की गई है और न ही इनको बचाने के समुचित प्रयत्न किये गये हैं।

दुःख की बात यह है कि आज पूरी दुनिया खासकर विकासशील देश इस समस्या से सबसे ज्यादा प्रभावित हो रहे हैं। इसकी वजह शायद यह भी है कि वर्तमान में मनुष्य का हस्तक्षेप इतना ज्यादा और आक्रामक होता जा रहा है कि सांस्कृतिक विरासतें अनाप शनाप रफ्तार से नष्ट हो रही हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अपने मानवाधिकार संबंधी घोषणापत्र के अनुच्छेद 27 में कहा है, हमें अपने अतीत, वर्तमान एवं भविष्य से तारतम्य बैठाने की क्षमता बनाए रखने हेतु सांस्कृतिक विरासत की विविधता आवश्यकता है। इसी के साथ इनकी आवश्यकता ज्ञान के माध्यम विकसित करने हेतु भी है, जो कि किसी अन्य तरीके से तैयार नहीं हो सकते। विश्व बैंक जो कि दुनियाभर में विकास कार्यों के लिए धन उपलब्ध करवाता है, ने सन् 1999 में अपने द्वारा वित्तपोषित परियोजनाओं की सांस्कृतिक विरासत हेतु एक विमर्श का आयोजन किया था। इसका विषय था 'संस्कृति एवं सुस्थिर विकास : आधार एवं कार्ययोजना'। जिसे अब 'संस्कृति एवं सुस्थिर विकास : कार्यवाही का ढांचा' नाम से जाना जाता है। इसमें बैंक के पूर्ववर्ती कार्यों की समीक्षा होनी थी। गौरतलब है सरदार सरोवर परियोजना भी सर्वप्रथम विश्वबैंक द्वारा वित्त पोषित थी। इस अध्ययन में विश्वबैंक ने स्वीकार किया है कि बैंक ने यह हमेशा सुनिश्चित नहीं किया है कि जिन परियोजनाओं को उसने ऋण प्रदान किया है, उन्होंने सांस्कृतिक संपत्ति को नुकसान नहीं पहुंचाया है। इस अध्ययन के विस्तार में जाने से बैंक की ऐसी अनेक स्वीकारोक्तियां सामने आती हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि उसने सांस्कृतिक विरासतों को बचाए रखने के प्रति अधिक रुचि नहीं दिखाई है। साथ ही जहां थोड़ी बहुत चिंता दिखती है उसकी वजह उस स्थान/वस्तु की पर्यटन की दृष्टि से विपणन तक केंद्रित रही है। वहीं यदि नर्मदाघाटी परियोजना के दृष्टिकोण से इस अध्ययन को देखें तो हम पाते हैं कि इन्हें लेकर लगातार लापरवाही बरती गई है।

भारत में सांस्कृतिक विरासतों के प्रति लापरवाही बरते जाने की एक वजह यह भी है कि इस मामले में आम व्यक्ति या उस क्षेत्र के निवासियों की निर्णायक भूमिका नहीं है। पुरातत्वीय विरासत के निर्धारण का समूचा उत्तरदायित्व एवं अधिकार केंद्र व राज्य के पुरातत्व विभागों के ही पास है।



भारत में पुरातत्वीय स्मारकों एवं स्थानों के संरक्षण संबंधी कानून

भारत में पुरातत्वीय संपत्तियों एवं अवशेषों के संरक्षण को लेकर केवल एक कानून अस्तित्व में है। बाकी के दो कानून महत्वपूर्ण स्मारकों के दुरुपयोग (भारतीय बहुमूल्य निधि) क्षतिपूर्ति अधिनियम 1978 एवं भारत से पुरासंपत्तियों/वस्तुओं के निर्यात के नियमन हेतु पुरासंपत्ति एवं कला निधि अधिनियम 1972 है।

सन् 1958 में लागू 'पुरातन स्मारक एवं पुरातत्वीय स्थल एवं अवशेष अधिनियम एवं इसके सन् 1959 में तैयार नियम' ही एकमात्र कानून है जो कि पुरातत्वीय स्थलों, स्मारकों, मूर्तियों एवं नक्काशी या उत्कीर्णन के संरक्षण के लिए प्रयोग में आता है। इस कानून की सीमा है जिससे सांस्कृतिक विरासत की व्यापक परिभाषा इसके अंतर्गत नहीं आती और केवल वो ही स्मारक इसके अंतर्गत आते हैं, जो कि इस अधिनियम के अंतर्गत सूचीबद्ध हो सकते हैं। गौरतलब है कि जो स्मारक इसके अंतर्गत सूचीबद्ध नहीं हैं तो क्या वे संरक्षण किए जाने योग्य भी नहीं हैं। इस परिस्थिति में सोचना होगा कि सूचीबद्ध किए जाने की प्रक्रिया क्या है। इस परिप्रेक्ष्य में यदि नर्मदा घाटी को देखें तो हमारे सामने यह तथ्य आता है कि राज्य के पुरातत्व विभाग की रिपोर्टें इस तर्क को आधार बनाकर लगातार कहती रही हैं कि घाटी में संरक्षण के लायक कोई स्थान ही नहीं है क्योंकि वे सूचीबद्ध ही नहीं हैं। इसके बाद यूं तो कहने को कुछ नहीं रह जाता लेकिन सब कुछ करने का रास्ता खुल जाता है कि इन स्मारकों/अवशेषों के संरक्षण के लिए नए सिरे से प्रयास किए जाएं।

हमें एक बार पुनः सोचना होगा कि इस 1310 किलोमीटर बहने वाली नर्मदा नदी जो कि पूर्व में अमरकंटक से निकलती है और पश्चिम में भडूच के पास अरब सागर में मिलती है और दुनिया की एकमात्र ऐसी नदी है जिसकी परिक्रमा की जाती है, की सांस्कृतिक विरासत को कैसे बचाया जाए ? अपने मनोहारी दृष्यबंधों के लिए विख्यात, अमरकंटक में जन्म की वजह से अमार्जा, मैकलपर्वत की पुत्री माने जाने की वजह से मैकाल कन्या, रुद्र की पुत्री होने की वजह से रुद्र कन्या और बिना रुके अबाध विचरण के कारण रेवा, शिव के त्रिशूल से गिरे सत्रह बिंदुओं से उत्पन्न होने के कारण शोण, महादेव की आज्ञा से तीव्र गति से प्रवाहमय होने की वजह से ''महानद'', पापों को नष्ट करने वाली ''महती'', सुंदर, स्वच्छ, स्वादिष्ट व स्वास्थ्यप्रद जल की वजह से ''सरसा'', सतयुग के समय दिव्य मंदार पुष्पों से अलंकृत होने के कारण ''मंदाकिनी,'' दशधारा एवं अनेक कुण्डों के साथ प्रत्यक्ष बहने की वजह से ''दर्शाणा'', मयूर कल्प में महादेव द्वारा मयूर पंख हिलाने से बने त्रिकुट की वजह से ''चित्रकूटा या त्रिकूटा'', अपनी नीली जलराशि एवं निबिड़ निशा में अवस्थित रहने से ''तमसा'', विशिष्ट दिशा के कारण ''विदिशा'' शिव की सोमकला (चन्द्रकला) से बिंदू रूप में उत्पन्न होने के कारण ''सोमोद् भवा'', दुख में बंधे व्यक्तियों को बंधन मुक्त करने पर ''विपाशा'', संपूर्ण लोक

को प्रसन्न करने के कारण ''रंजना'', तट पर बालू के टीलों के कारण ''बालु वाहिनी'', क्षेत्र में स्वास्थ्यकर वायु बहने की वजह से ''वायुवाहिनी'', किसी समय हथियों (विंध्य) का क्षेत्र होने से ''करभा'' ''(करभ यानि हाथी की सूंड),'' कभी सुंदर कमल फूलों से ढकी होने से ''चित्रोत्पला'', मुरला नामक जनजाति के निवास स्थल होने से ''मुरला'' तथा स्वच्छ जल होने एवं प्रलय के महाघोर अंधकार में भी देदीप्यमान होने की वजह से ''विमला'' कहलाने वाली इस नदी संस्कृति को बांधों से रोके जाने के क्या सांस्कृतिक परिणाम सामने आ सकते हैं। यह समझना आवश्यक है। इतने पर्यायवाची अर्थवाली नर्मदा का प्रत्येक नामकरण अपने आप में इसकी महिमा का गान करता नज़र आता है। साथ ही यह अकेली ऐसी ही नहीं है जिसका अपना ''नर्मदापुराण'' है।

लाखों वर्षों के मौसम, भौगोलिक, पर्यावरणीय व सांस्कृतिक परिवर्तन की साक्षी रही यह घाटी जिसके बारे में मत्स्य पुराण में कहा गया है कि सरस्वती नदी में 3 बार यमुना में 7 बार एवं गंगा में एक बार नहाने से पापों का नाश होता है, मगर नर्मदा के दर्शन मात्र से पाप मिट जाते हैं। यह भी माना जाता है कि इसी के तट पर अश्विनी कुमारों ने मनुष्यों को निरोग करने का ज्ञान प्राप्त किया था। यही पर शंकराचार्य से लेकर कबीर और सिंगाजी तक संतों ने तप किया है। यही नावड़ा टोली के किनारे बौध उपासनागृह मिले हैं। ऐसे तट जिनके किनारे शैव व वैष्णव दोनों संप्रदायों के धार्मिक स्थल विद्यमान हैं। ऐसी नदीघाटी सभ्यता जिसकी अद्वितीय परिस्थितियां और बसाहट की निरंतरता से हम नर्मदा मानव की ही उत्पत्ति नहीं बल्कि इसके अफ्रीका एवं पश्चिम के होमीनाइड और भारतीय उपमहाद्वीप एवं पूर्वी एशिया से भी पुरातन संबंध जोड़ सकते हैं, क्या उसे यों ही नष्ट हो जाने दें?

पहले किसान ने या कहें कि मध्यभारत के ताम्रयुगीन लोगों ने ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व के आखिरी दौर में इस क्षेत्र को अपना निवास बनाया था। इसके बाद ये क्षेत्र कायथा, अहार एवं मालवा संस्कृति के लोगों की बसाहट रहा है। क्या इस सच्चाई से भी आंख मोड़ लें ? 1952–53 में नावडा टोली एवं महेश्वर में उत्खनन के पश्चात एच.डी. संकलिया, बी.सुब्बाराव एवं एस.बी.देव (डेक्कन कॉलेज, पूना) ने नर्मदाघाटी की पुरातत्वीय विरासत स्थलों की समृद्धता को उजागर किया था। डेक्कन कॉलेज, पुणे के एम. धवलीकर के अनुसार 'यह पुरातत्वीय दृष्टिकोण से भारतीय उपमहाद्वीप में मील का पत्थर है। नावडा टोली मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा जितना ही महत्वपूर्ण स्थान है। यहां पर 1800 ईसा पूर्व में जीवन के प्रमाण मिले हैं और पत्थर के 2000 से अधिक औजार भी प्राप्त हुए हैं। यहां पर लोग एक समृद्ध कृषि अर्थव्यवस्था के संवाहक थे और गेहूं, बाजरा और तिल व हुल्गा जैसे मोटे अनाज की फसलें एवं बेर जैसे फल भी उपजा रहे थे।' वही वीरराघन के अनुसार यहां अन्य व्यवसाय जैसे मछली मारना व पशुपालन भी विद्यमान थे। गौरतलब है कि इस इलाके में उत्खनन की शुरुआत सन् 1935ई. में डे टेट्रा और पीटरसन ने की थी।

इस नदी घाटी सभ्यता की जद में मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र व गुजरात तीनों ही आ रहे हैं। इस सभ्यता पर विचार करते हुए यह भी मनन करना होगा कि लाखों लाख सालों की सभ्यता की निरंतरता को क्या बांध जिनकी की आयु 50–60 वर्ष या सैद्धांतिक तौर पर भी अधिकतम 100 वर्षों की होती है, पर न्यौछावर किया जा सकता है? नर्मदा घाटी की जीवंत निरंतरता को लेकर सिर्फ कोई रुमानी ख्याली पुलाव नहीं बनाए गए हैं। इस दिशा में नवीनतम अध्ययन अंजली परांजपे का है जिन्होंने अत्यंत सिलसिलेवार ढंग से इस नदी घाटी सभ्यता को समझा और समझाया है। पत्थर के औजारों से शुरु हुआ यहां का यह विकास चरणबद्ध रूप में हमारे सामने आता है। स्मारकों, धार्मिक स्थलों, पुरातत्वीय महत्व के स्थलों का डूबना या डुबाया जाना जिस मनोवृत्ति की ओर इशारा कर रहा है, वह हमारे विकास की वर्तमान धारा का अविभाज्य अंग ही है। पुरातत्वीय सांस्कृतिक ह्रास के बाद निमाड़ के इतिहास में मानव हस्तक्षेप को भी देखना आवश्यक है। इस क्षेत्र के ऐतिहासिक काल या लिपिबद्ध इतिहास पर एक नजर दौड़ाने के बाद हमें विस्थापन और संस्कृति की विलोम धाराएं शायद ज्यादा स्पष्टता से दिखाई दें।

निमाड़ का संक्षिप्त इतिहास

निमाड़ की उपजाऊ भूमि कृषि के विकास के अनुकूल होने के साथ ही साथ सांस्कृतिक और व्यापार प्रणालियों की उत्कृष्टता का प्रतीक रही है। यहां पर प्राचीन व्यापार मार्ग पश्चिम में भड़ूच से दक्षिण (दक्खन) में पैठन तक का विद्यमान रहा है। यदि ऐतिहासिक काल (500 ईसा पूर्व के बाद का काल) से देखें तो निमाड़ राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का केंद्र रहा है। हरिवंश में राजा महिष्मन द्वारा स्थापित महिष्मति (महेश्वर) का उल्लेख किया है। मत्स्य एवं पद्म पुराण में उल्लेख आता है कि महेश्वर अनूप राज्य के शासक राजा सहस्त्रबाहु की राजधानी थी। महाभारत एवं रामायण में भी इस शहर का जिक्र आता है। वाल्मीकि रामायण में राजा रावण का सहस्त्रबाहु की राजधानी में आने का वृतांत आता है। अपने घमंड में उसने नर्मदा के पानी को अपने हाथ से रोकने की कोशिश की। लेकिन नदी फूट पड़ी और उसकी हजार धाराएं एकसाथ बह निकलीं जिससे कि एक जलप्रपात बन गया जो कि आज सहस्त्रधारा कहलाता है। सांची के महान स्तूप के पत्थरों पर महिष्मति के उन समृद्ध व्यापारियों के नाम उकेरे गए हैं जिन्होंने इनके निर्माण में बड़ी मात्रा में धन दिया था। तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व निमाड़ मगध साम्राज्य का हिस्सा बन गया। इतना ही नहीं तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के महिष्मति गुदे सिक्के एक सशक्त राज्य के अस्तित्व को भी पुष्ट करते हैं।

पहली शताब्दी ईस्वी के बाद यहां अनेक विदेशी आक्रमण हुए। उस दौरान यह क्षेत्र मालवा कहलाता था और यह शक, सतवाहनों, क्षत्रपों एवं अभिरसों के आपसी

युद्धों का लगातार साक्षी बना रहा। पांचवीं शताब्दी ईस्वी तक मालवा का विलय चन्द्रगुप्त द्वितीय के साम्राज्य में हो गया था। लेकिन शीघ्र ही हूण राजा तोरणमान ने इस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। थोड़े–थोड़े समय के लिए कलचुरी, वरधान, चालुक्य एवं राष्ट्रकुट राजवंशों ने यहां शासन किया। वहीं 812 ईस्वी से 13वीं शताब्दी के मध्य तक मालवा परमार राजवंश के अंतर्गत रहा और इसे कमोवेश यहां का शांति व समृद्धिकाल कहा जा सकता है। मुस्लिमों के हस्तक्षेप से इस क्षेत्र की शांति भंग हुई। पठानों एवं गुजरात के सुल्तानों के शासन के संकटपूर्ण काल के बाद सन् 1561ई. के पश्चात मुगलों के शासन के अंतर्गत इस क्षेत्र ने पुनः शांति और समृद्धि अर्जित की।

इस समृद्ध क्षेत्र में 'चौथ' एवं 'सार्देशमुखी' की वसूली हेतु 17वीं शताब्दी में मराठा गिरोहों के प्रवेश से इस इलाके का सामान्य जीवन एक बार पुनः बाधित हुआ। बाजीराव पेशवा द्वितीय द्वारा मालवा के लिए एक उप राज्यपाल की नियुक्ति करने और उसे कुछ इलाकों में कर वसूली की अनुमति देने के बाद ही अंततः इस इलाके में शांति कायम हो पाई। सन् 1755 ई. तक पूरा निमाड़ मराठाओं के आधीन आ गया था। इस क्षेत्र में मराठाओं के शासन का सबसे यशस्वी काल एक तो मल्हारराव होल्कर के अंतर्गत रहा और दूसरा सन् 1767 से 1795 के मध्य अहिल्या बाई होल्कर के देदीप्यमान शासन के दौरान था। एक सक्षम प्रशासक, पराक्रमी सिपाही और पवित्र नर्मदा नदी की आराधक अहिल्याबाई ने नदी के आसपास तट, धर्मशालाएं एवं मंदिरों का निर्माण करवाया। किसी भी अन्य शासक के मुकाबले वे नदी के किनारे रहने वालों के मन में इस नदी के प्रति श्रद्धा को बेहतर ढंग से समझती थीं और उसका सम्मान भी करतीं थीं। उनके काल में महेश्वर संस्कृत के अध्ययन का केंद्र बन गया। अहिल्याबाई को उनकी न्यायप्रियता और सक्षम प्रशासन, शिल्पों को प्रश्रय, खासकर वस्त्र उद्योग को जो कि आज भी उनके वंशजों की वजह से फल–फूल रहा है, की वजह से याद किया जाता है। सन् 1823 में निमाड़ अंग्रेजों के अधीन आ गया और आजादी के बाद यह मध्यप्रदेश राज्य का हिस्सा बना।

निमाड़ के अतीत से लेकर वर्तमान तक की यह यात्रा एक ओर तो जीवन की निरंतरता का बोध कराती है वहीं दूसरी ओर यह हमें यह भी समझा देती है कि जिस वैभव पर हम आज इतना गर्व कर रहे हैं, उसको यह क्षेत्र वर्षों पहले भोग चुका है। परिष्कार का चरम यह देख चुका है और हम आज उसे सहेजने तक में सक्षम नहीं हैं। क्या अपने अतीत से हमारा कभी पहले भी इतना अलगाव रहा है? शायद नहीं ! तो फिर इस नई वास्तविकता को कैसे समझा जाए। डॉ. कपिल तिवारी कहते हैं, 'भारतीय जीवन में पिछली दो सदियां, समय की अपनी चेतना के अन्तरण अर्थात पौराणिक से ऐतिहासिक समय बोध में स्थानान्तरित होने के लिए भी जानी जायेगीं। दो सदी पहले तक ऐसा नहीं था कि ऐतिहासिक समय 'मनुष्यों' का है इसमें देवों के लिए कोई जगह नहीं, दैत्यों के लिए भी नहीं। मनुष्यों ने उनसे कह दिया 'अब इस

समय में हम ही देव और दानव भी होंगे, हमें तुम्हारी जरुरत नहीं।' पौराणिक समय नहीं होगा तो पुराण की कथा भी कैसे होगी? आज मनुष्यों ने सिर्फ अपने जीवन की कथा कहना शुरु कर दिया है। संसार छोटा हो रहा है, धरती संकुचित, इसमें मनुष्यों के रहने की जगह भी बहुत कम हो रही है। यह एक 'समयहीन समय' है, जिसमें समय के 'व्यतीत' होने की चेतना 'समय में वास करने और जीने' की चेतना पर भारी पड़ती है, ऐसे में हम देव और दानवों के लिए समय कहां से लाएं? हम देवलोक के लिए समय, धरती, प्रकृति और जीवन की कथा खो चुके हैं। अब सब जगह, सब समय सारी प्रकृति में हम ही हम हैं। हमारा इतना विस्तार और हमारी इतनी विराट सत्ता पहले कभी नहीं थी। इस सत्ता के भीतर मनुष्य अपनी जय–विजय का इतिहास लिखता है, समय आने पर उसे पढ़ लेता है और यदि, स्मृति खो जाए तो बहुत सा काम इतिहास से चलाना पड़ता है।'

हम सब इसी अभिशप्त समय में विचरण कर रहे हैं और सिर्फ आने वाले कल को ही सबकुछ मान रहे हैं। लेकिन हमें रुककर यह सोचना ही होगा कि 'अतीत' किसका है। हमें विचारना होगा कि यह अतीत हम और आप जो वर्तमान में रह रहे हैं सिर्फ उनका है या हमारी आने वाली पीढ़ियों के लिए भी है। वर्तमान तो अतीत और भविष्य का महज जुड़ाव ही है। इसलिए नर्मदा घाटी के उत्खनन में मिले मनके या मोती सिर्फ उस काल की अनुपम कारीगरी से हमें रुबरु नहीं कराते बल्कि वर्तमान में इस इलाके के भील, भिलाला आदिवासी महिलाओं के गले में हजारों मनकों से सजी मालाएं तो हमें ताम्रयुगीन संस्कृति की निरन्तरता से भी रुबरु कराती हैं। एक अर्थ में समय ठहरा हुआ भी है और दूसरे अर्थों में प्रवाहमय भी है, ठीक नर्मदा की प्रत्येक लहर की तरह। जो प्रतिक्षण नवीन भी है और उसी क्षण वह अपनी शाश्वतता को भी सिद्ध कर रही होती है।



खापरखेड़ा : जहां पहला किसान विकसित हुआ



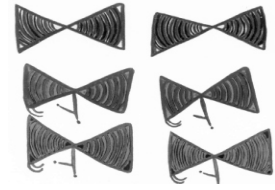
मानता पूर्ति के प्रतीक



गाथला



गाथला



नर्मदाघाटी में जीवन का उद्‌भव

हम जिस तथाकथित आधुनिक और वैज्ञानिक युग में रहते हैं वह हर स्थापना को सिर्फ तर्क से सिद्ध करने में जुटा रहता है। वह जिस क्रमानुसार जीवन विकास प्रक्रिया को शिरोधार्य करता है वह अत्यन्त नीरस और बोझिल है। उसके अनुसार ''मनुष्य के पहले का वह प्राणी, जो मनुष्य के रूप में विकसित हुआ, ऐसे विकास के लिए समर्थ था क्योंकि उसके पास एक विशेष अंग था 'हाथ'। जिससे वह चीजों को पकड़ सकता था और थामे रह सकता था। हाथ संस्कृति का सारभूत अंग है और मानवीकरण का प्रवर्तक है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अकेले हाथ ने ही मनुष्य का निर्माण किया। प्रकृति, और विशेष रूप से जैव प्रवृत्ति, कारण व प्रभाव की ऐसी सरल और एकपक्षीय श्रृंखला की अनुमति नहीं देती। मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिए आवश्यक परिस्थितियां पैदा करने में एक साथ बहुत सी चीजों ने काम किया, जैसे कुछ जैव संरचनाओं का वृक्ष की अवस्था में रूपांतरित हो जाना, जिससे घ्राणशक्ति की कीमत पर दृष्टि का विकास हुआ चौड़े थूथन का सिकुड़ जाना जिससे आंखों की स्थिति बदलने में सुविधा हुई, अधिक तीक्ष्ण और अधिक सही दृष्टि संवेदन से युक्त प्राणी में इस इच्छा का उत्पन्न होना कि वह प्रत्येक दिशा में देखें, जिससे शरीर की तनी हुई मुद्रा का अनुबंधन हुआ, शरीर की सीधी तनी हुई मुद्रा के कारण सामने के अंगों का मुक्त हो जाना और मस्तिष्क का आकार बढ़ जाना, आहार में परिवर्तन हो जाना आदि–आदि। लेकिन सीधे तौर पर निर्णायक अंग 'हाथ' ही था। इसीलिए टाम्स एक्विनास ने कहा था'', हाथ ही मनुष्य की चेतना का जनक है। यह सच है कि हाथ ने ही मानवीय विवेक को मुक्त किया है। हो सकता है उपरोक्त कथन तार्किक रूप से एकदम दुरुस्त हो। लेकिन इसमें किसी प्रकार का कोई रोमांच नहीं है। यह अत्यंत तकनीकी व्याख्या है। लेकिन मनुष्य तो गाथा से ही स्वयं को विस्तारित एवं व्याख्यायित करता है। नर्मदाघाटी में रह रहे भील व भिलाला भी अपने उद्‌गम को एक दृष्टांत में बदलते हैं और प्रकृति की पूरी संरचना को अपने उद्‌भव की गाथा में समेट लेते है।

दीमक ने बनाई धरती

विदू (दीमक) बाई ने पहले समुद्र में मिट्टी तैयार की और फिर उससे धरती (भूमि) बनाई। विदू बाई के मुंह में मिट्टी बनाने की विद्या थी। उन्होंने मुंह से मिट्टी तो बनाई लेकिन धरती टिक नहीं रही थी, तो 'जड़ी राया' (जड़) और 'मूल्ली राया' (मूल) बनाई। 'जड़ी राया' व 'मूल्लीराया' ने धरती को पूरा जकड़ लिया, फिर धरती टिक गई। इस तरह विदू बाई ने धरती तैयार की।

धरती की देखरेख करने के लिए कल्लू (मणु) बाई को बनाया। कल्लू ने कहा 'मूल्ली राया' (मूल) तो धरती के अंदर है, उसे बाहर कैसे लाया जाए? मूल्ल ऊपर आएंगे तब धरती शोभा देगी। तो इस पर कहा गया कि धरती का एक पति बनाना पड़ेगा। इसके बाद 'काल्ला राणा' को धरती का पति बनाया गया। इसी के साथ धूल्ली राया (धूल) को भी बनाया गया। 'काल्ला राणा' ने कहा कि मैं धरती पति तो बनूंगा पर मुझे साधन चाहिए। मैं सब दूर कैसे फिरुंगा (घूमूंगा)? इस पर विदू बाई ने 'बादल', 'आबी' – (बिजली) और हवा को धरती पति को दिया। काल्ला राणा ने पहले हवा को चलाकर देखा। इस पर 'धूली रायां' ने हवा में धूल को उड़ा दिया। तब पूरी धरती पर धूल छा गई। मिट्टी में जो कुछ था वह हवा में ऊपर उड़ गया। पूरी धरती पर धुंध छा गई तो विचार किया कि धरती की साफ सफाई कौन करेगा? इस पर धरती की सफाई के लिए 'सोना सवल्ली' (चिड़िया) बनाई जो पृथ्वी को सोना जैसा साफ रखेगी। (कुछ स्थानों पर इसे 'सोवली' भी कहा जाता है)

फिर काल्ला राणा और धरती की बातचीत होने लगी। काल्ला राणा अपने आने की तारीख तय करने लगा कि मैं कब आऊं? काल्ला राणा और धरती के बीच 'अखातरी' (वैशाख या मई महीना) में आने का वायदा हुआ। हेमला राणी को काल्ला राणा की मां बनाया और बोला गया कि हेमला राणी शिक्षा देगी। हेमला राणी ने काल्ला राणा से कहा कि तू धरती पर जा रहा है, लेकिन धरती को बिगाड़ियो मत। काल्ला राणा ने कहा कि कैसे? इस पर हेमला राणी ने कहा कि तू समय–समय पर जाना नहीं तो गालियां सुनेगा। इसके बाद काल्लू राणा हेमला राणी पर शक करने लगा कि यह तो हमारा वायदा बिगाड़ रही है। माँ (हेमलराणी) ने कहा कि मैं पानी भर कर लाती हूं, तब तक तू जाना मत। मैं कुछ खास बातें बताऊँगी।

काल्ला राणा ने सोचा माँ हमारा वायदा तोड़ोगी। ऐसा सोचकर वह गाज (गर्जना), विज (बिजली) व हवा को तैयार करके निकल गया। उधर मां ने सोचा घर लौटते–लौटते कहीं काल्ला राणा निकल न जाए। यही सोचकर वह पानी भरकर जल्दी वापस निकली। काल्ला राणा ने मां के पहुंचने से पहले गाज, विज व बादल को छोड़कर बरसात करवा दी। घर पहुंचते–पहुंचते मां भीग गई। मां के कपड़े बरसात में गलने वाले थे। पानी में भीग कर मां के कपड़े गल गए। मां को गुस्सा आ गया और उसने काल्ला राणा को श्राप दिया कि धरती पर तू कहीं भी फिरेगा, ऐसे में तू आएगा तब भी गालियां सुनेगा व जाएगा तब भी गाली सुनेगा।

पहली बरसात में धरती को जितना पानी चाहिए था उतना काल्ला राणा ने नहीं दिया। एक ही जगह ज्यादा बरसात हो जाने से धरती की ताकत (ऊर्जा) खत्म हो गई। इस पर कणु (कल्ल) बाई गुस्सा होकर बोली मेरी कल (धरती) को क्यों बिगाड़ रहा है। कलू बाई ने काल्लू राणा से पूछा तेरे पास कितने मेघ हैं तो काल्लू राणा ने जवाब दिया तेरह मेघ। इस पर कलू बाई ने कहा कि कुछ मेघ कम कर नहीं तो पूरी धरती बह जाएगी। इस पर उसने चार मेघ छोड दिया। उधर तेरह मेघ की मां मेघला राणी ने वचन दिया कि नौ महीने में तेरे बाल बच्चे बाहर आ जाएंगे। (आबी के पेट में नौ महीने का गरब (गर्भ) रहेगा। फिर आब पक्की हो गई। तब बरसात शुरु होगी) नौ महीने में पहले घास व झाड़ धरती के बारह निकल आए। धान की मदद से धरती मां का दूध ऊपर खीच लाए। दूध के फेस (फेन) से शेर पैदा हुआ।''

मध्यप्रदेश के अलिराजपुर जिले के जनजातीय समाज का एक वर्ग उपरोक्त गाथा को अपना और अपनी धरती का उद्‌गम मानता है। यह तो हम सभी जानते हैं कि इस पृथ्वी पर मिट्‌टी बनाने की क्षमता या तो प्रकृति में है या फिर दीमक में। सिर्फ दीमक ही एकमात्र ऐसी जीवंत इकाई है, जिसमें मिट्‌टी बनाने की क्षमता है। अफ्रीका के कई आदिवासी इलाकों में जहां की मिट्‌टी उपजाऊ नहीं रह गई थी वहां उन्होंने दीमक डाल दीं। कुछ वर्षों में वह मिट्‌टी पुनः उपजाऊ हो गई। हमारा पूरा जीवनचक्र और फसल चक्र दोनों इस गाथा से एकदम स्पष्ट हो जाते हैं। 9 महीने को गर्भ के बाद बच्चे का जन्म और 9 महीने अन्य मौसम रहने के बाद बारिश का आना। यह वाचिक संस्कृति की निरंतरता का भी प्रमाण है। नर्मदा घाटी में थोड़े और नीचे जाकर जब हम महाराष्ट्र के नंदूरबार पहुंचते हैं तो वहां का आदिवासी समुदाय इस सृष्टि के उद्‌गम की एक और गाथा हमें सुनाता है।

सृष्टि की उत्पत्ति की कथा

एक समय राजा पांठा एवं गांडा ठाकुर यह विचार करते हुए पहाड़ों पर घूम रहे थे कि पानी को कैसे रोकें। चर्चा के दौरान उन्होंने तालाब बांधने (खोदने) का निश्चय किया। स्थान नियत कर जैसे ही उन्होंने काम शुरु किया कि उन्हें वहां दो स्त्रियां आती दिखीं। वे दोनों वहां से चले गए और उन्होंने नया स्थान खोज लिया। दोनों ने रातों रात एक–एक तालाब बना दिया। पांठा ने बड़ा और गांडा ने छोटा तालाब बनाया। तालाब बांधते ही विचित्र–विचित्र घटनाएं होने लगीं। इसी बीच तालाब की पूजा के लिए बली प्रदान करने हेतु एक बकरी (म्हेस) लाई गई। लेकिन तभी वहां शेर आ गया और पूजा कार्य नहीं हो पाया। थोड़ी ही देर में गड़गड़ाहट के साथ वर्षा होने लगी। तालाब भरकर ऊपर से बहने लगा, इसके बाद तालाब फूटकर बड़ी मोटी धारा के रूप बहने लगा। तलाटी (तलहटी) में एक भाई व बहन रहते थे। अपना जीवन बचाने के लिए उन्होंने बांस की पालकी (डोंगी) बनाई और उस पर बैठकर डाब के नजदीक आ गए। इस विप्लव में सारी सृष्टि नष्ट हो गई परंतु दोनों भाई बहन बच गए। पानी

उतर जाने पर उन्होंने पालकी को एक जगह फेंक दिया। जिससे वहां बांस का जंगल तैयार हो गया। बांस से ही उन्होंने सारे साधन तैयार करना शुरु किया। दोनों पति–पत्नी की तरह रहने लगे। उन्हीं की वंशवृद्धि से इस सृष्टि की उत्पत्ति हुई।

ऐसी अनगिनत गाथाएं समग्र जीवन को व्याख्यायित करते हुए मिल जाएंगी। आप जीवन को वैज्ञानिक (आधुनिक) तरीके से देखें या तथाकथित अवैज्ञानिक तरीके से, वह पहुंचेगा एक ही स्थान पर। आवश्यकता दरअसल यह है कि हमें संस्कृति और सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भेद करना होगा। संस्कृति में आचार, व्यापार, जीवनशैली, पर्यावरण, रीति रिवाज, लोकाचार, न्याय व्यवस्था, खान–पान, खेती, आजीविका सभी कुछ समाया रहता है। इसका वर्गीकरण हम दो श्रेणियों में कर सकते है; आरण्यक या वन आधारित एवं नगरीय या नगर में बसने वाले बसाहट के स्थान के हिसाब से उनकी व्यवहार्यता अलग–अलग हो जाती है। वनों में रहने वाला समुदाय प्रकृति के प्रति सदैव विनयशील और श्रद्धावनत है। वहीं पिछले तकरीबन 300 वर्षों से नगरीय समाज का पूरा ध्यान कमोवेश प्रकृति पर विजय पाने की लालसा में जुटा रहा। वह अपनी हर खोज को अपनी जीत मानता गया। लेकिन कुछ ही वर्षों में उसे ज्ञात हो जाता था कि यह जीत अब हार में परिवर्तित होती जा रही है। नदियों पर बनने वाले बांध भी इसी जीत हार की श्रृंखला का ही हिस्सा हैं। इसी के समानांतर विकास की इस अवधारणा से एक मूलभूत परिवर्तन विस्थापित समुदाय, फिर वह चाहे आदिवासी हो या पठार में खेती करने वाले, के जीवन में यह आया कि वे सभी इस नकद बाजा. रमूलक अर्थव्यवस्था का हिस्सा बन गए। इस परिवर्तन से उसका सिर्फ आर्थिक व्यवहार ही नहीं बदला बल्कि उसकी समूची संस्कृति ही संकट में पड़ गई। नर्मदा बचाओ आंदोलन की वरिष्ठ कार्यकर्ता सुश्री मेधा पाटकर का कहना है 'आदिवासियों को लेकर हमारे मन में यह धारणा बनी हुई है कि यह समुदाय तकरीबन सौ प्रतिशत गरीब ही था। वैसे गरीबी के मापदंडों, खासकर आदिवासियों के संदर्भ में, का पुनर्निर्धारण भी बहुत जरुरी है। हमें इस प्रक्रिया में ध्यान रखना होगा कि उनकी वास्तविक आवश्यकताएं क्या हैं और वे कहां से पूरी हो सकती हैं या वर्तमान में कहां से पूरी होती हैं। जैसा कि मैंने कहा कि वर्तमान आर्थिक आधार के हिसाब से देखें तो बहुत से आदिवासी काफी धनी होते थे और काफी बड़ी संख्या में मध्यमवर्गीय भी।'

आदिवासियों की जीवनशैली को लेकर प्रचलित धारणाओं का प्रतिकार करते हुए वे कहती हैं 'आदिवासियों की अपनी जीवनशैली के अनुरूप सांस्कृतिक परम्पराएं रही हैं। कहा जाता है कि आदिवासी केवल वर्तमान में जीता है। लेकिन वास्तव में यह पूर्ण सत्य नहीं है। महाराष्ट्र के डूब क्षेत्र में आज भी ऐसे आदिवासी मौजूद हैं जिन्हें कि अपनी 20–22 पीढ़ी (पूर्वजों) के नाम मुखाग्र हैं। उनकी अभी भी अपनी वंश परम्परा पर गहरी पकड़ है। यही उनका खजाना भी है। लेकिन हम विकास की अंधी दौड़ में इतने चौंधिया गए हैं कि उस खजाने को सहेजने की बजाए उसे डुबोने में दिन रात एक कर रहे है।' (परिशिष्ट – 3)



सरदार सरोवर परियोजना की कहानी

पंडित नेहरु ने विकास के इस नए मंदिर का शिलान्यास करने के बाद शायद ही कभी पलटकर इसके बारे में सोचा होगा। आधुनिक भारत या आजादी के बाद पहला बांध ओडिशा (तब उड़ीसा) में महानदी पर बना हीराकुंड बांध था। यह नदी तत्कालीन मध्यप्रदेश (अब छत्तीसगढ़) से निकलती थी। वैसे इसके निर्माण की कहानी आजादी के पहले सन् 1937 से प्रारंभ होती है। उस समय प्रसिद्ध भारतीय इंजीनियर एम. विश्वेश्वरैया ने बाढ़ के नियंत्रण हेतु एक जलाशय के निर्माण का प्रस्ताव रखा। लेकिन इसमें अत्यधिक लागत के चलते सन् 1940 में गठित बाढ़ जांच समिति ने तटबंध बनाने की अनुशंसा की। इसके बाद सन् 1945 में केंद्रीय जल एवं ऊर्जा विभाग ने अतिरिक्त जांच परख की और यहां सिंचाई एवं विद्युत उत्पादन के लिए बांध बनाने की अनुशंसा की। इस तरह मार्च 1946 में उड़ीसा के ब्रिटिश राज्यपाल (गवर्नर) सर हार्थरन लेविस ने हीराकुंड बांध की आधारशिला रखी। परंतु बांध पर वास्तविक कार्य सन् 1948 के मध्य से प्रारंभ हुआ जब भारत के प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरु ने 12 अप्रैल 1948 को इसका पुनः शिलान्यास किया था। इस तरह आजाद भारत में बांधों का निर्माण प्रारंभ हुआ।

भारत के विकास की गाथा शायद भाखड़ा नंगल बांध के जिक्र के बिना पूरी नहीं होती। विशाल सिंधु घाटी सबसे शुरुआती और सबसे उन्नत इंसानी बसाहटों का पालना रही है । नदी और इसके पानी का खेती को समृद्ध करने के लिए उपयोग इसकी तरक्की की बुनियाद की अहम वजह रहा है। सिंधु घाटी सभ्यता के दौरान, नदी के कछारों में बाढ़ का पानी जमीन को पर्याप्त नमी देने में सक्षम था और उससे जमा होने वाली गाद से बसाहटों की जरुरत मुताबिक फसल बढ़ जाती थी। सिंचाई का यह तरीका 'सैलाब' कहलाया ।

भाखड़ा नंगल का सबसे पुराना संदर्भ 8 नवम्बर 1908 को सर लुईस डेन द्वारा तैयार की गई एक टीप से मिलता है । प्रस्तावित बांध स्थल को लेकर एक विस्तृत रिपोर्ट मार्च 1910 में तैयार की गई। इसके लाभ हानि के आंकड़ों पर विचार कर तब इसे रोक दिया गया । सन् 1915 में इस प्रस्ताव पर पुनः विचार हुआ और कहा गया कि पहले बहुत कम आमदनी का आकलन किया गया था। भाखड़ा पर ऊंचे बांध की पहली समग्र रिपोर्ट सन् 1919 में तैयार हुई। उस वक्त इसकी ऊंचाई 120.40 मीटर लेकिन आज इसकी ऊंचाई 740 फीट है भाखड़ा नंगल परियोजना पर सन् 1946 में कार्य प्रारंभ हुआ। सन् 1954 में इससे सिंचाई प्रारंभ हो गई थी। बांध का कार्य सन् 1963 में पूरा हुआ और 22 अक्टूबर 1963 को पंडित नेहरु ने इसे राष्ट्र को समर्पित किया।'

इस परियोजना से 7206 परिवार प्रभावित हुए थे। इनमें से अधिकांश 50 वर्ष या आधी शताब्दी बाद आज भी भटक रहे हैं। भाखड़ा के अपने दौरे में जवाहरलाल नेहरु ने घोषणा की थी 'विस्थापित परदेस जा रहे हैं, हम उन्हें पानी, बिजली, स्कूल, सड़कें सब देंगे। वे अपने गांव भूल जाएंगे।' जबकि हकीकत यह थी जब वे यहां (पुनर्वास गांव) पहुंचे तब पीने के पानी तक का कोई इंतजाम नहीं था। इनका कहना है कि हम सन् 1956 में यहां आये थे और हमें सन् 1972 में यानि पुनर्वास स्थल पर बसाए जाने के 16 बरस बाद बिजली मिली और बहुत सारे तो आज तक खानाबदोश की तरह ही घूम रहे हैं। भाखड़ानंगल को बने 60 वर्ष हो चुके हैं। इसके जीवन का शिशिर आ चुका है और विस्थापितों की तीसरी पीढ़ी अब भी पुनर्वास की प्रतीक्षा में है।

ज्यादा विस्तार में न जाते हुए सिर्फ एक और बांध जो कि गुजरात में है और सरदार सरोवर परियोजना से लगा हुआ है, का जिक्र जरुरी जान पड़ता है। यह है सूरत के नजदीक स्थित उकई बांध। वैसे उकई बांध के निर्माण की चर्चा 19वीं शताब्दी के अंत से ही प्रारंभ हो गई थी। दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात इसका विस्तृत तकनीकी सर्वेक्षण हुआ। आजादी के तुरंत बाद इस परियोजना पर कार्य प्रारंभ हो गया था। अन्य बांधों की सारी विशिष्टताएं लिए हुए इस बांध का जिक्र इसलिए अनिवार्य है क्योंकि इसके जलाशय का नामकरण भी भारत के पहले गृहमंत्री सरदार वल्लभ भाई पटेल के नाम पर वल्लभ सागर रखा गया है। इतना ही नहीं इसकी डूब में महाराष्ट्र के धूलिया जिले का एक हिस्सा आया है। गौरतलब है धूलिया जिले का एक हिस्सा (वर्तमान में नंदुरबार जिले में) सरदार सरोवर परियोजना की डूब में भी आया है। यानि दो बांध और शिकार एक ही जिला।

बांधों की लंबी कहानी है आजादी के बाद। वैसे माना जाता है कि न तो बांध और न ही वैज्ञानिक सिंचाई भारत के लिए कोई नई चीज है। नदी के बहते पानी को काम में लेने की आवश्यकता बहुत पहले महसूस कर ली गई थी और ऐसा माना जाता है कि आर्यों ने जब सिंधु घाटी सभ्यता पर आक्रमण किया उस समय वृतासुर जिस पहाड़ की चौकसी कर रहा था, वह वास्तव में चट्टानों से भरा हुआ मिट्टी का एक

विशाल बांध था। अनेक इतिहासविज्ञों का यह भी मानना है कि सिंधु घाटी सभ्यता का विनाश असाधारण जलप्लावन से ही हुआ है और अब हम नर्मदा घाटी सभ्यता को बांधों से पाट रहे हैं।

बांध निर्माण के उद्‌गम की इस यूनानी कथा पर गौर करना भी रोचक है। राजा आजियस के पास पांच हजार बैल थे। गौशाला को कोई साफ नहीं करता था। इसलिए वह गोबर से भर गई। हरक्युलिस ने कहा कि वह एक ही दिन में सारा गोबर हटा देगा। राजा जब अपने मेहमानों के साथ दावत उड़ा रहा था, उसी दौरान हरक्युलिस ने पास ही बहने वाली दो नदियों पर बांध बना दिया। जल्दी ही नदियां ऊपर तक भर गई और फिर उनसे पानी की जो तेज धार छूटी तो अपने साथ गोबर भी बहा ले गई।

पुनः सरदार सरोवर परियोजना पर आते हैं। पचास वर्षों का इसका इतिहास न मालूम कितनी विसंगतियां हमारे सामने लाता है। केवड़िया की स्थिति पर अधिग्रहण के करीब 37 वर्ष बाद सन् 1999 में अपने निबंध 'ग्रेटर कॉमन गुड' में अरुंधती रॉय लिखती हैं 'केवड़िया कॉलोनी इस दुनिया की कुंजी है। वहां जाइये, रहस्य अपने आप आपके सामने उद्‌घाटित हो जाएगा। देवी बेन जो कि अब विधवा हैं, से ग्यारह एकड़ भूमि अधिग्रहित कर स्वामीनारायण ट्रस्ट (एक विशाल धार्मिक ट्रस्ट) को दे दी गई। बाकी पर खेती होती है और देवी बेन कटीले बागड़ के पार से यह सब देखती रहती हैं।' यह एक कड़वी सच्चाई है। सरदार सरोवर परियोजना ऐसी तमाम गाथाओं का महाग्रंथ है, जो कि यदि लिखा जाए तो महाभारत से भी बढ़ा हो सकता है। सरकारी दमन की एक और मिसाल खींचे गए चित्र में दिखाई हैं। संजय संगवई ने अपनी पुस्तक दि रिवर एण्ड लाइफ में 22 नवम्बर 1993 को खींचा इसमें धूलिया के जिला अस्पताल में सैकड़ों आदिवासी बैठे हैं,जो कि पुलिस की मार से घायल हैं। वैसे तो जनआंदोलनों के कार्यकर्ताओं को अक्सर पुलिस व प्रशासन की अतियों का सामना करना पड़ता है। लेकिन यह चित्र इस मायने में अत्यंत डरावना प्रतीत होता है क्योंकि इसमें बैठे दिख रहे सभी आंदोलनकारियों को घुटने या उसके नीचे बुरी तरह से मारा गया है। उनके दोनों पैरों में पट्‌टियां बंधी हैं। आदिवासियों की संस्कृति पैदल चलने की संस्कृति है और वे हमेशा एक के पीछे एक पंक्तिबद्ध होकर ही चलते हैं। वे दिन में 30 से 50 किलोमीटर तक पैदल चल सकते हैं, और यही उनकी ताकत भी है। परंतु पुलिस ने योजनाबद्ध तरीके से उनके घुटने तोड़ने का प्रयास किया।

इसका सीधा सा अर्थ है एक अहिंसक संस्कृति का प्रत्युत्तर हमारा तथाकथित 'गांधीवादी' तंत्र हिंसा से दे रहा है। हम शायद अब तक सरदार सरोवर परियोजना के क्रियान्वयन के मूलभूत हथकंडों और वैचारिक प्रतिबद्धता को ठीक से समझ नहीं पाए हैं। संस्कृति पर पड़े प्रभावों के आकलन से पहले हमें सरदार सरोवर परियोजना के निर्माण और इसके खिलाफ चल रहे निरंतर संघर्ष को भी जानना होगा। हमें यह भी समझना होगा कि डुबाने का यह कार्य निरपेक्ष भाव से किया गया था या इसमें

कोई शंका की गुंजाइश है? संभव है यह कहानी इस उलझन को सुलझा पाए।

'समुद्र तट से 1057 मीटर की ऊंचाई से मध्यप्रदेश के शहडोल जिले के अमरकंटक से निकली नर्मदा नदी मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र और गुजरात को पार करते हुए 1312 किलोमीटर का अपना सफर पूरा कर गुजरात में भडूच के पास अरब सागर में जा मिलती है। गौरतलब है इन राज्यों के 16 जिलों से गुजरने के बाद जब यह समुद्र में जहां मिलती है, वहां पर डेल्टा (नदी मुख भूमि त्रिकोण) नहीं बनाती। हमें यह भी ध्यान में रखना होगा कि नर्मदा नदी का कुल जलग्रहण क्षेत्र 98,799 वर्ग किलोमीटर है और इसका 88.02 प्रतिशत मध्यप्रदेश में; 3.31 प्रतिशत महाराष्ट्र में और बचा हुआ 8.67 प्रतिशत गुजरात राज्य की सीमा में आता है। नर्मदा के कछार में करीब 160 लाख एकड़ कृषि योग्य भूमि है और इसमे से 144 लाख एकड़ सिर्फ मध्यप्रदेश में है।

बांधों के माध्यम से नर्मदा के पानी के उपयोग में लाने का सपना 19वीं शताब्दी के अंत में देखा जाने लगा था। भारत के पहले सिंचाई आयोग ने अपनी सन् 1901 की रिपोर्ट में भडूच के निकट के एक बेराज का उल्लेख किया था। लेकिन वहां विद्यमान काली कछारी, मिट्टी की वजह से इसे बहती सिंचाई (Flood Irrigation) के लिए माकूल नहीं माना गया था। साथ ही यहां किए जाने वाले निवेश की व्यर्थता को भी रेखांकित किया गया था। कहा जाता है कि भारत की आजादी के बाद बने पहले गृहमंत्री 'सरदार' वल्लभ भाई पटेल जो कि मध्य गुजरात की प्रभावशाली कृषक पृष्ठभूमि से आते थे, ने अपने लोगों के लिए नर्मदा के पानी के इस्तेमाल के बारे में सोचा। नेहरुयुगीन विकास नीतियों के चलते 'कुछ बड़ा बनाने' की होड़ में नर्मदा पर बांध का विचार बना और 'आधुनिक भारत के इस नए मंदिर' का विचार फलीभूत हुआ।

इस 'सपने' को धरती पर उतारने की आकांक्षा गुजरात में दिनोंदिन मजबूत होती गई। इसकी वजह बने भाईलाल भाई पटेल या भाई काका जो कि सक्खर बांध, जो कि अब पाकिस्तान में है, में इंजीनियर रहे थे और स्वतंत्र भारत में सामाजिक कार्यकर्ता का कार्य कर रहे थे। इसके बाद गुजरात के छुट भैया नेता नर्मदा के पानी को गुजरात में लाने का 'सपना' दिखाते रहे। गुजरात के पूर्व मुख्यमंत्री चिमनभाई पटेल सन् 1970 के दशक में इंदिरा गांधी द्वारा अपमानित या डपट दिए जाने के बाद से नर्मदा के मुद्दे पर अटक गए। उन्होंने इस मसले को दिल्ली के शासकों द्वारा बड़े भाई की तरह व्यवहार के विरुद्ध हथियार बना लिया। जब भी उनकी स्थिति कमजोर होती वे नर्मदा (परियोजना) कार्ड खेल लेते। हमें यहां विचार करना होगा कि इस सपने और वास्तविकता के बीच क्या कोई समानता है? इस तथ्य पर गौर करिए अपनी पूरी 1312 किलोमीटर की लंबाई या प्रवाह में नर्मदा केवल 160 किलोमीटर गुजरात में बहती है और इतना ही नहीं इसमें आने वाले पानी का महज 0.5 प्रतिशत (केचमेंट) ही गुजरात योगदान करता है।

आजादी के तुरंत बाद से ही राज्यों के मध्य पानी के बटवारे को लेकर विवाद

प्रारंभ हो गए थे। सन् 1950 के दशक में राज्यों के पुनर्गठन की प्रक्रिया के साथ ही विवादों की संख्या में भी वृद्धि होने लगी। इसके परिणामस्वरूप अंतरराज्य जलविवाद अधिनियम 1956 का रास्ता तैयार हो गया। इस अधिनियम ने केंद्र सरकार को यह अधिकार दे दिया कि वह राज्यों के बीच पानी के वितरण के विवाद को ट्रिब्यूनल के माध्यम से निराकरण कर सकती है। साथ ही इसमें यह भी व्यवस्था थी कि इसका निर्णय बाध्यकारी होगा। वैसे यह भी स्पष्ट था कि इन ट्रिब्युनलों का अधिकार क्षेत्र महज पानी के हिस्से के आबंटन तक ही सीमित रहेगा।

गुजरात सरकार के अनुसार ऊर्जा एवं जल संसाधन विकास की संभावनाओं को लेकर पहली जांच पड़ताल की सर्वप्रथम पहल सन् 1947 में की गई थी। नर्मदा नदी पर भड़ूच, तवा, बरगी और पुनासा परियोजनाओं को अतिरिक्त छानबीन हेतु प्राथमिकता दी गई थी। योजना आयोग ने सरदार सरोवर परियोजना की पूर्वगामी भड़ूच सिंचाई परियोजना को अगस्त 1960 में 162 फीट की ऊंचाई एवं 9.97 लाख हेक्टेयर भूमि की सिंचाई हेतु अनुमति प्रदान कर दी। दूसरे तल पर बांध की ऊंचाई को 300 फीट तक बढ़ाने का विचार था। (बाद में इसे 320 फीट कर दिया गया) लेकिन योजना आयोग ने इस प्रस्ताव को हरी झंडी नहीं दी। इस दौरान गुजरात व केंद्र सरकार के प्रस्ताव सामने आए जिनमें सरदार सरोवर परियोजना की ऊंचाई 425 फीट करने की बात कही गई थी। लेकिन मध्यप्रदेश सरकार इस पर राजी नहीं थी।

अंततः केंद्र सरकार ने उड़ीसा के पूर्व राज्यपाल डॉ. ए.एन. खोसला की अध्यक्षता में नर्मदा जल संसाधन विकास समिति गठित कर दी। सन् 1965 में आयोग ने गुजरात के भड़ूच जिले के नवागांम के पास 500 फीट से भी ऊंचा बांध बनाने का प्रस्ताव दे दिया। आयोग ने 13.9 एम.ए.एफ. (दस लाख एकड़ फीट) पानी मध्यप्रदेश और 19.9 एम.ए.एफ. पानी गुजरात को आबंटित कर दिया। मध्यप्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री गोविंदनारायण सिंह ने इस अभूतपूर्व डूब एवं गुजरात द्वारा नर्मदा के पानी को लेकर किए जा रहे असंतुलित दावों का पुरजोर विरोध किया। यहां तक कि उन्होंने केंद्रीय जलसंसाधन मंत्री डॉ. के. एल. राव पर गुजरात की तरफदारी करने का आरोप लगाया और ऐसी किसी बैठक में बातचीत तक करने से इंकार कर दिया जहां पर डॉ. राव उपस्थित हों। उन्होंने इस बात की ओर भी इशारा किया कि केंद्रीय मंत्री ने गुजरात के लिए एक विशाल बांध के निर्माण का एकतरफा निश्चय कर लिया है। इससे मध्यप्रदेश की 140 मील भूमि डूब में आएगी। उन्होंने इस मामले को ट्रिब्यूनल को सौंपे जाने की मुखालफत करते हुए, गुजरात, महाराष्ट्र व मध्यप्रदेश के बीच सीधी बातचीत का आव्हान किया।

वैसे मध्यप्रदेश सरकार लंबे समय से राज्य के लिए नर्मदा के जल के 'न्यायपूर्ण' आबंटन की वकालत कर रही थी। सिंह ने अपने इस एजेंडे की जोरदार पैरवी भी की। सन् 1967 में उन्होंने लिखा, 'यह बहुत ही मजेदार है कि राष्ट्रहित के नाम पर नर्मदा के जल के लाभ मध्यप्रदेश के बजाए इस नदी बेसिन के बाहर के क्षेत्रों को

हस्तांतरित किए जा रहे हैं। इसकी वजह से देश की सबसे उपजाऊ में से एक नदी घाटी आने वाले समय में प्यासी हो जाएगी। इस तरह की वार्ताएं लोगों के मन में अनावश्यक संशय पैदा करती हैं, जो कि मेरे ख्याल से अत्यंत गंभीर मसला है। नर्मदा हमारी रक्तवाहिनी है। मध्यप्रदेश ऐसे दबावों में नहीं आएगा।'' इतना ही नहीं 24 नवम्बर 1967 को राज्य विधानसभा ने इस संबंध में सर्वानुमति से एक गैर सरकारी विधेयक पारित किया, जिसमें कहा गया था,

'मध्यप्रदेश नर्मदा बेसिन में सिंचाई के अपने हितों के संबंध में एक इंच भूमि की भी बली देने को तैयार नहीं है और तथाकथित नर्मदा जलविवाद के नाम पर किए जाने वाले किसी बंदोबस्त को नहीं स्वीकारता। मध्यप्रदेश किसी भी राज्य का कोई भी इलाका डूब में नहीं लाना चाहता और न ही किसी अन्य राज्य (की नदी) के किसी भी जल का उपयोग करना चाहता है। ठीक इसी तरह मध्यप्रदेश भी नहीं चाहता कि कोई भी राज्य ऐसी परियोजना हाथ में ले जिससे कि इसके (म.प्र.) लोगों पर विपरीत प्रभाव पड़े या इसके क्षेत्र का कोई सा भी इलाका डूब में आए।'

16 दिसम्बर 1967 को राज्य के सांसदों ने प्रधानमंत्री को पत्र में लिखा था, 'हमारा विचार है कि नर्मदा के जल के प्रयोग को लेकर गुजरात की अनुचित मांग की स्वीकृति निश्चित तौर पर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था और राष्ट्रीय विकास प्रयासों के हित में नहीं है।'

इसी क्रम में मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र ने इस बात पर जोर दिया कि नवागाम बांध (अब सरदार सरोवर परियोजना) की ऊंचाई 210 फीट रखी जाए। वहीं दूसरी ओर खोसला समिति ने अनुशंसा की थी कि बांध की ऊंचाई 500 फीट रखी जाए। अतएव यहां इस बात पर गौर करना आवश्यक हो जाता है कि अंततः ऐसी क्या परिस्थितियां बनीं जिनकी वजह से बांध को वर्तमान ऊंचाई (समुद्र तट से) 455 फीट की अनुमति मिल गई। इसकी एक वजह यह थी कि मध्यप्रदेश सरकार ने बांध को अस्वीकार करने के जो कारण दिए थे वे अपने आप में विरोधाभासी थे। गुजरात के नवागाम में ऊंचे बांध के निर्माण एवं गुजरात को नर्मदा का पानी दिए जाने को लेकर आपत्ति उठाने वाली मध्यप्रदेश सरकार ने अपने यहां प्रस्तावित जलसिंधी और हरिणफल परियोजनाओं का विरोध नहीं किया जो कि आदिवासी इलाकों में ही स्थित थीं और इसमें भी बड़ी मात्रा में उपजाऊ भूमि डूब में जा रही थी। इससे नीति निर्माताओं और सरदार सरोवर परियोजना के समर्थकों को यह सिद्ध करने में आसानी हो गई कि प्रस्तावित हरिणफाल और जलसिंधी परियोजनाओं के बदले एकमात्र सरदार सरोवर परियोजना ही निर्मित कर दी जाए।

वही दूसरी ओर गुजरात ने सुदूर 'अकाल प्रभावित' कच्छ क्षेत्र को आधार बनाकर परियोजना और अधिक पानी देने की अनिवार्यता को रेखांकित किया। अपने इस प्रयास को फलीभूत करने की प्रक्रिया में उसने इस विवाद में राजस्थान को भी एक पक्ष बना लिया, जबकि यह राज्य दूर–दूर तक नर्मदा से संबद्ध ही नहीं था। लेकिन राजस्थान

की आवश्यकताओं को इसमें शामिल कर लेने से मोल तोल में गुजरात और अधिक मजबूत हो गया। मध्यप्रदेश द्वारा खोसला आयोग की अनुशंसाओं को अस्वीकृत कर देने के पश्चात कई अंतरराज्यीय बैठकें आयोजित हुई। अंततः जुलाई 1968 में गुजरात ने अन्तर्राज्यीय जलविवाद अधिनियम 1956 के अंतर्गत औपचारिक रूप से शिकायत दर्ज करा दी। इसी परिप्रेक्ष्य में नवम्बर 1969 में भारत सरकार ने नर्मदा जलविवाद ट्रिब्यूनल (एनडब्लूडीटी) के गठन की घोषणा कर दी।

मध्यप्रदेश सरकार ने इस ट्रिब्यूनल के समक्ष सन् 1956 के अधिनियम के तहत इसके गठन पर आपत्ति दर्ज की। यह आपत्ति दो बातों को लेकर थी, पहली नवागाम बांध की ऊंचाई 530 फीट रखने के और दूसरी राजस्थान को एक पक्ष बनाने के खिलाफ। ट्रिब्यूनल ने इन आपत्तियों को रद्द कर दिया। नर्मदा में पानी की उपलब्धता आदि संबंधी मध्यप्रदेश की दलीलों को भी ट्रिब्यूनल ने रद्द कर दिया। इस दौरान मध्यप्रदेश सरकार ने महसूस किया कि ट्रिब्यूनल ने उनकी धारणा को यथोचित महत्व नहीं दिया है।सन् 1970 के दशक के मध्य में मध्यप्रदेश के निमाड़ अंचल में इस बांध को लेकर बड़े स्तर पर प्रदर्शन हुए और निमाड़ बचाओ नर्मदा बचाओ समिति' का गठन हुआ। इस समिति ने नर्मदा जलविवाद प्राधिकरण के समक्ष भी अपना पक्ष रखा। इसमें विस्थापन एवं उपजाऊ भूमि की डूब के अलावा भी कई अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए गए थे। इसमें मांग की गई थी कि मध्यप्रदेश को अपने जलग्रहण क्षेत्र से प्राप्त पूरे पानी के उपयोग का अधिकार मिलना चाहिए। इसमें दावा किया गया था कि कुल जलग्रहण क्षेत्र का 86.8 प्रतिशत मध्यप्रदेश में है और इस नदी में आने वाले कुल जल का 99.5 प्रतिशत मध्यप्रदेश से ही आता है। साथ ही इसमें गुजरात के दावों को नकारते हुए कि इससे कच्छ में सिंचाई होगी, समिति का कहना था कि गुजरात को मध्यप्रदेश जैसे गरीब राज्य के मुकाबले प्राथमिकता दी जा रही है। सर्वोच्च प्राथमिकता मध्यप्रदेश में सिंचाई को दी जानी चाहिए और विद्युत उत्पादन इसकी सहायक गतिविधि होनी चाहिए। साथ ही इसमें आरोप लगाया गया था कि बांध की इतनी अधिक ऊंचाई की वजह महज विद्युत उत्पादन ही है।

इन सब वादों–प्रतिवादों को लेकर संघर्ष और विमर्श चलता रहा। ट्रिब्यूनल की कार्यशैली पर मध्यप्रदेश ने बारंबार आपत्ति उठाई थी। लेकिन अंततः फैसला वही हुआ जिसका कि अंदेशा था। इस दौरान निमाड़ के कुछ राजनीतिक कार्यकर्ता दिल्ली में जाकर तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी से मिले और इसके बाद वे सन् 1978 में प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई से भी मिले। लोगों को अभी भी स्मरण है कि मोरारजी ने बहुत रुखेपन से उनसे कहा था कि चूंकि गुजरात को पानी की आवश्यकता है इसलिए बांध तो बनेगा। लोगों को शंका है कि गुजरात के पक्ष में निर्णय हेतु मोरारजी ने प्रक्रिया को तेजी प्रदान की थी। उस दौरान निमाड़ में सक्रिय अंबाराम मुकाती और शोभाराम काका का कहना है 'राजनीतिक रूप से चतुर और शक्तिशाली लॉबी ने नर्मदा घाटी पर निर्णय को तेजी प्रदान की।' इसे थोड़ा सा विषयांतर माना जा सकता है।

लेकिन किसी व्यक्ति को समझने खासकर जबकि वह देश के सर्वोच्च प्रशासनिक पद पर बैठा हो तो उसकी सोच की विवेचना भी आवश्यक हो जाती है। मोरारजी देसाई द्वारा सन् 1961 में पोंगबांध (हिमाचल प्रदेश) के डूब वाले इलाके में एक आमसभा को संबोधित करते हुए दिए गए भाषण के अंश पर निगाह डालनी चाहिए। तब उन्होंने कहा था 'हमारा आग्रह है कि बांध बनते ही आप अपने घरों से निकल जाएं। घर से निकल जाना ही आपके लिए बेहतर होगा। नही ंतो हम पानी छोड़ देंगे और आपको डुबो देंगे।' तब मोरारजी कर्ता–धर्ता नहीं थे। लेकिन सन् 1978 में वे देश के प्रधानमंत्री थे और उनके व्यवहार से कभी भी ऐसा प्रतीत नहीं हुआ कि उसमें कोई परिवर्तन आया हो। मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र को शायद इसकी कीमत भी चुकानी पड़ी है।

बहरहाल बात को थोड़ा और आगे बढ़ाते हैं। इस तरह सन् 1979 में नर्मदा जल विवाद ट्रिब्यूनल या न्यायाधिकरण ने अपना फैसला सुनाया। (उस समय तक मोरारजी प्रधानमंत्री पद पर आसीन थे) इस निर्णय से साफ जाहिर हो गया था कि गुजरात का पक्ष लिया गया है। न्यायाधिकरण ने जल के बंटवारे के उन स्थापित मानकों की अवहेलना की थी जिनका मूल आधार था कि संबंधित राज्यों को उनके द्वारा जल के प्रवाह के अनुपात में हिस्सा दिया जाए। इस निर्णय पर बड़ौदा, गुजरात के निवासी वैज्ञानिक जशभाई पटेल जो कि नर्मदा परियोजना पर एक प्रामाणिक टिप्पणीकार थे, ने कहा था,

'क्या यह एक न्यायोचित विजय है? एक नदी तटीय राज्य जो कि कुल जलग्रहण क्षेत्र में सिर्फ 0.5 प्रतिशत का योगदान देता है वह 33 प्रतिशत जल और 16 प्रतिशत बिजली ले ले। इस सबसे ऊपर यह राज्य अपने जलग्रहण क्षेत्र का 100 प्रतिशत केवल अपने इस्तेमाल के लिए आरक्षित कर ले। राज्य को नर्मदा नियंत्रण प्राधिकरण (एनसीए) में बैठने का बराबरी का हक मिल गया है और वह दिए गए अवार्ड के हिसाब से शर्तें मनवा सकता है। यह प्रत्यक्ष अन्याय है।'

इस अन्याय को और अधिक रेखांकित करते हुए उन्होंने कहा था 'मध्यप्रदेश को ऊपजाऊ क्षेत्र, वास्तविक बुआई क्षेत्र और कृषि पर आधारित जनसंख्या को देखते हुए प्राथमिकता मिलनी चाहिए थी, जबकि गुजरात इन श्रेणियों में नीचे है। वहीं गुजरात द्वारा अकालग्रस्त क्षेत्र और अकालग्रस्त क्षेत्र में प्रभावित जनसंख्या के आंकड़ों का मिथक भी सामने आया है। गुजरात में अकाल प्रभावित इलाका 1,73,630 एकड़ है और इसे 73 प्रतिशत का भार या हिस्सा दिया गया है, वहीं मध्यप्रदेश में अकाल प्रभावित क्षेत्र 1,01,121 एकड़ है और उसे 27 प्रतिशत भार या हिस्सा दिया गया है। गुजरात में अकाल प्रभावितों की जनसंख्या 54,80,000 है और उन्हें 72 प्रतिशत भार या हिस्सा दिया गया है वहीं मध्यप्रदेश में अकाल प्रभावितों की संख्या 30,70,000 है और इन्हें महज 22 प्रतिशत हिस्सेदारी दी गई है। इससे न्यायाधिकरण के अवार्ड पर शक का साया नजर आता है।'

सरदार सरोवर परियोजना की यह यात्रा राजनीतिक विश्वासघात की कहानी के बिना शायद अधूरी ही रहेगी। जैसे ही अवार्ड की घोषणा हुई वैसे ही पश्चिमी निमाड़ के मैदानी इलाकों में उपजाऊ भूमि डूबने के विरोध में सन् 1979–80 में आंदोलन शुरु हो गया। ग्रामीण 'निमाड़ बचाओ आंदोलन' के तहत तुरत–फुरत गंभीर संघर्ष के लिए एकत्रित हो गए। मध्यप्रदेश के दोनों प्रमुख राजनीतिक दल कांग्रेस और जनता पार्टी इस संघर्ष पर नियंत्रण के लिए प्रयासरत हो गए। अर्जुनसिंह और मोतीलाल वोरा जैसे दमदार नेताओं ने गिरफ्तारियां दीं। घाटी के 5,000 लोगों ने भोपाल में प्रदर्शन किया। वीरेन्द्र कुमार सखलेचा के नेतृत्व वाली जनता पार्टी सरकार ने विधानसभा में इस अवार्ड के खिलाफ विरोध दर्ज किया और शपथ ली कि वह इसमें परिवर्तन करवाएगी। लेकिन अनेक परिस्थितियों के चलते यह संघर्ष बिखर सा गया।

इसके बाद कमोवेश हठपूर्वक अपना विरोध दर्ज करवाने के बावजूद मध्यप्रदेश की सरकार ने भारतीय राजनीतिक दलों की अखिल भारतीय राजनीति के मद्देनजर अवार्ड के साथ ही साथ बांध को भी स्वीकृति प्रदान कर दी। अंततः 25 अगस्त 1981 को मध्यप्रदेश और गुजरात के मुख्यमंत्री क्रमशः अर्जुनसिंह एवं माधवसिंह सोलंकी ने एक गुप्त समझौते पर हस्ताक्षर कर दिए। इसके अनुसार 'गुजरात और मध्यप्रदेश राज्य इस बात पर रजामंद हो गए हैं कि वे ऐसी संभावनाएं तलाशेंगे जिससे कि विस्थापित लोगों की मुसीबतें समाप्त हो सकें।' बाद में मध्यप्रदेश सरकार ने यह दावा किया कि इस समझौते से बांध की ऊंचाई की पुर्नसमीक्षा संभव है बशर्ते पुनर्वास कार्य दुष्प्रयोजनीय लगने लगे। मगर ऐसा कभी नहीं हुआ।

सन् 1979 से विश्वबैंक ने नर्मदाघाटी परियोजनाओं में रुचि लेना प्रारंभ कर दिया और सन् 1980 के दशक के आरंभ में अपने दलों का ऋण देने की संभावनाएं तलाश करने के लिए यहां भेजने की शुरुआत कर दी। मध्यप्रदेश और गुजरात के कुछ गैर सरकारी संगठनों के माध्यम से उसने गुजरात सरकार पर दबाव बनाया कि वह पुर्नस्थापना को लेकर बैंक की शर्ते मान ले जिससे कि उसे ऋण देने का अंतिम निर्णय लिया जा सके। भारतीय गैरसरकारी संगठनों (एनजीओ) को यह विश्वास दिलाया गया कि केवल विश्वबैंक की उपस्थिति ही विस्थापितों का बेहतर पुनर्वास सुनिश्चित करा सकती है।

इस बीच घटनाचक्र में थोड़ा परिवर्तन आया। सन् 1980 में केंद्र सरकार ने पर्यावरण एवं वन मंत्रालय नामक एक नए मंत्रालय का गठन कर दिया। सन् 1983 में पर्यावरण एवं वन मंत्रालय ने केंद्र और राज्य सरकारों के लिए नदी घाटी विकास परियोजनाओं को लेकर दिशानिर्देश तैयार किए। पर्यावरण एवं वन मंत्रालय ने सरदार सरोवर व नर्मदा सागर परियोजनाओं को अनुमति नहीं दी क्योंकि विभाग के सचिव टी.एन.शेषन ने पाया था कि कई महत्वपूर्ण अध्ययन पूरे नहीं किए गए हैं। मंत्रालय ने बांध का काम निलंबित (रोक) कर दिया। लेकिन विश्वबैंक ने अपने कर्मचारियों से अध्ययन करवा कर 450 मिलियम डॉलर (45 करोड़ डॉलर) का ऋण स्वीकृत कर

दिया और इसमें से 30 करोड़ डॉलर इंटरनेशनल बैंक और रिकंस्ट्रक्शनल डेवलपमेंट एवं 15 करोड़ डॉलर बैंक की सॉफ्ट लोन (आसान ऋण) शाखा इंटरनेशनल डेवलपमेंट एजेंसी के माध्यम से वितरित होना था। गौरतलब है कि विश्व बैंक ने इन ऋणों की स्वीकृति भारत सरकार द्वारा पर्यावरण एवं वन मंत्रालय एवं योजना आयोग के माध्यम से सरदार सरोवर परियोजना को स्वीकृति मिलने के पूर्व ही कर दी थी। माना जाता है विश्वबैंक द्वारा स्वीकृत ऋण को परियोजना के लिए पर्यावरण एवं वन मंत्रालय पर दबाव डालने हेतु इस्तेमाल किया गया।

यहां इस कहानी के एक पक्ष पर पटाक्षेप होता है कि किस तरह से सरदार सरोवर परियोजना को अमली जामा पहनाया गया। वहीं दूसरी ओर बांध से होने वाले नुकसान को लेकर भी जनचेतना लगातार बढ़ती जा रही थी। नर्मदा घाटी में सरदार सरोवर बांध को लेकर विमर्श निरंतर जारी रहे। इन सब संघर्षों के 'नर्मदा बचाओ आंदोलन' में समाहित होने की यात्रा भी कम रुचिकर नहीं है। पिछले पृष्ठों में हम निमाड़ बचाओ आंदोलन, निमाड़ बचाओ नर्मदा बचाओ समितियों के महत्वपूर्ण कार्यों को समझ चुके है। लेकिन इस पूरी यात्रा को एक बार सिलसिलेवार ढंग से समझने का प्रयास करते है।

बांधों से विस्थापन के खिलाफ संघर्ष का भारतीय इतिहास करीब 90 वर्ष पुराना है। इसकी शुरुआत सन् 1921 में पूना (पुणे) के निकट स्थित समृद्ध मुल्शी घाटी के किसानों के संघर्ष से होती है जिन्होंने तब टाटा द्वारा बनाए जा रहे जलविद्युत बांध के खिलाफ पूर्ण विरोध की घोषणा की थी। मुल्शी किसान संगठन ने महाराष्ट्र के मावल क्षेत्र में बांध से संबंधित सभी विषय विस्थापन एवं किसान समुदाय की उपजाऊ भूमि और अच्छे से बसे बसाए गांवों की डूब की बात उठाई गई थी। उन्होंने बांध से मिलने वाले लाभों पर भी प्रश्न उठाए थे। सेनापति बापट और विनायक मुस्कुरे जैसे मुल्शी किसानों ने टाटा जैसे 'पूंजीपतियों' को चेतावनी देते हुए किसानों एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था के हितों की रक्षा की शपथ ली थी। इतना ही नहीं बांध के 'सार्वजनिक उद्देश्य' को भी उन्होंने चुनौती दी और दावे के साथ कहा व्यापक समुदाय के सामाजिक हितों और सांस्कृतिक अधिकारों के बरस्क मिलने वाले लाभ बहुत कम हैं। शुरुआती दौर में गांधीजी के उनके मत के समर्थन में न होने के बावजूद उन्होंने अपना संघर्ष जारी रखा। एक समय तो बापट ने बांध के विरोध में आत्मसमर्पण (स्वयं को नष्ट कर लेने) तक की घोषणा कर दी थी। इसे नव पूंजीवाद के संदर्भ में भारत का पहला बांध विरोधी जनआंदोलन कहा जा सकता है।

आजादी के बाद इन आधुनिक मंदिरों और उनके उच्च पुजारियों का भय और प्रभामंडल बढ़ता ही गया। लेकिन अनेक गांधीवादी, सर्वोदयी, समाजवादी इस पूंजी आधारित, केंद्रीकृत और बड़ी विकास परियोजनाओं का लगातार विरोध करते रहे। सन् 1980 के दशक में पर्यावरण को लेकर आम जनता में भी जागरूकता बढ़ी और विकास परियोजनाओं को लेकर सवाल पूछे जाने लगे। इस प्रक्रिया का चरम कमोवेश नर्मदा

पर बनने वाली परियोजनाओं को लेकर उठे प्रश्नों से सामने आता है। मध्यप्रदेश में प्रमुख सामाजिक कार्यकर्ता, विधायक और स्थानीय नेता नवागाम में बनने वाले ऊंचे बांध (जिसे बाद में सरदार सरोवर परियोजना नाम दिया गया) का विरोध कर रहे थे। सन् 1972 से 75 के मध्य नर्मदा बचाओ समिति ने हर संभव तरीके और मंच पर इसका विरोध किया। इस प्रक्रिया में उन्होंने तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी तक से नवागाम में निर्मित होने वाले इस बांध के औचित्य पर सवाल जवाब किए थे। उपजाऊ भूमि की डूब के साथ ही साथ समिति ने सांस्कृतिक विरासत और प्राकृतिक संसाधनों की हानि को लेकर भी सवाल उठाए थे। इस प्रक्रिया में उन्होंने तवा और गांधीसागर बांध के उदाहरण भी दिए।

सन् 1983 में दिल्ली स्थित संगठन 'कल्पवृक्ष' के कार्यकर्ताओं और शोधार्थियों के समूह ने घाटी का भ्रमण किया और घाटी में प्रस्तावित महाकाय बांधों की कटु आलोचना करते हुए एक रिपोर्ट प्रकाशित की। इन युवा शोधार्थियों ने नर्मदाघाटी परियोजनाओं के पर्यावरणीय एवं मानवीय मुद्दों पर प्रकाश डाला था। वहीं गुजरात में भानुभाई अध्वायु जैसे कुछ सामाजिक कार्यकर्ताओं ने आदिवासियों के अधिकारों एवं बांध की उपयुक्तता को लेकर सवाल उठाए। सन् 1986 में अहमदाबाद स्थित एक गैर सरकारी संगठन सेतु ने 'जीवित रहने' पर एक सेमिनार का आयोजन किया। मेधा पाटकर जो कि उस दौरान सेतु की कार्यकर्ता थीं और गुजरात के आदिवासी क्षेत्रों में काम कर रहीं थीं, इसके आयोजकों में से एक थीं। इस सेमिनार में एक सत्र सरदार सरोवर परियोजना पर था। इसमें एक वरिष्ठ एवं प्रगतिशील नौकरशाह जो कि विश्वबैंक के साथ पुनर्वास एवं पुर्नस्थापना पक्ष पर वार्ताकार थे, ने इस समझौते की अंदरुनी कहानी बयां की। इस बैठक में 'मार्ग', दिल्ली की वसुधा धागंवर भी परियोजना की वजह से होने वाले विस्थापन से संबंधित अपनी जानकारियों के साथ पहुंची थीं। उन्होंने कुछ गांवों का भ्रमण भी किया था। लेकिन वे पुनर्वास के मुद्दे पर और अधिक खोजबीन करना चाहतीं थीं। इतना ही नहीं वे इस मुद्दे को लेकर न्यायालय जाने के प्रति भी अत्यंत गंभीर थीं। मेधा पाटकर उनके साथ महाराष्ट्र की अकरानी तहसील के गांवों में गई। वहां उन्होंने पाया कि किस प्रकार सरकारी अधिकारी आदिवासियों को जानकारियां देने या उनके अपने भाग्य (नियति या प्रारब्ध) के प्रति कितने उदासीन एवं हृदयहीन हैं। यहीं से मेधा पाटकर की नर्मदा घाटी के साथ की गाथा शुरु होती है।



इसी के समानांतर मध्यप्रदेश की अलिराजपुर तहसील (अब जिला) में प्रभावित गांवों को खेडुत मजदूर चेतना संगठ ने एकत्रित किया। वे भी 1980 के दशक के प्रारंभ से आदिवासियों के भूमि एवं संसाधन संबंधी अन्य अधिकारों, आजीविका और स्वाभिमान के लिए कार्य कर रहे थे। इस आंदोलन के सक्रिय कार्यकर्ता थे, शंकर तलवड़े, खजान सिंह, बाबा महरिया, अमित, राहुल बनर्जी और चित्तरूपा पालित। इनका भी मानना था कि घाटी से बाहर जाने का अर्थ है स्वयं को कमतर बनाना। क्योंकि भिलाला आदिवासी हमेशा से मानते रहे हैं कि उनकी जीवनशैली 'बाजारियों' से बेहतर है।

उधर मैदानी निमाड़ में वयोवृद्ध सर्वोदयी नेताओं काशीनाथ त्रिवेदी, प्रभाकर मांडलिक, फूलचंद पटेल, बैजनाथ महोदय, शोभाराम जाट आदि ने मिलकर 'नर्मदा घाटी नवनिर्माण समिति' का गठन किया और सन् 1986 से 88 के मध्य बांध का पुरजोर विरोध किया। सन् 1987 में इन्होंने नर्मदा कलश यात्रा भी निकाली। इसके बाद बांध के खिलाफ लगातार संघर्ष चलता रहा। यह संघर्ष मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र व गुजरात में समानांतर सक्रिय रहे। इसी दौरान देशभर के पर्यावरणविद, गांधीवादी, वैज्ञानिक, नव वामपंथी और शोषित वर्गों के अनेक संगठन समर्थन में आते गए। सत्तर के दशक से चल रहे अनेक आंदोलन अंततः एकजुट हो गए और यह एक नए स्वरूप में सन् 1988 के अंत से 'नर्मदा बचाओ आंदोलन' के रूप में सामने आ गया। मेधा पाटकर ने इसमें समन्वयक की भूमिका ग्रहण की और घाटी से बाहर के कई लोग जैसे राकेश दीवान, श्रीपाद धर्माधिकारी, आलोक अग्रवाल, नंदिनी ओझा और हिमांशु ठक्कर इसमें शामिल हुए। स्थानीय लोगों की सक्रिय भागीदारी भी इसमें निरंतर बनी रही। इस तरह 'नर्मदा बचाओ आंदोलन' एक जनआंदोलन में परिवर्तित हुआ।

नर्मदा बचाओ आंदोलन ने बांध और विस्थापन के खिलाफ प्रत्येक स्तर पर अपना विरोध दर्ज करवाया। बड़े स्तर पर प्रदर्शन, घेराव, अनशन, आमरण अनशन, चक्काजाम सबकुछ किया। लेकिन कहीं से भी कोई अधिक सकारात्मक जवाब नहीं आ रहा था। अंततः जनहित याचिका के माध्यम से मामला सर्वोच्च न्यायालय पहुंचा। तमाम स्थगन व सुनवाई आदि के बाद फरवरी 1999 में सर्वोच्च न्यायालय का एक अंतरिम आदेश आया जिसमें गुजरात सरकार को बांध के निलंबित कार्य को पुनः प्रारंभ करने और बांध की ऊंचाई 5 मीटर बढ़ाकर 80.3 मीटर से 85 मीटर तक ले जाने की अनुमति प्रदान की गई थी। गुजरात सरकार और बांध के ठेकेदार जयप्रकाश (जेपी) एसोसिएट्स का कहना था 'हम सुनिश्चित थे कि निर्णय केवल हमारे पक्ष में आएगा। तभी तो हमने ब्लाक क्रमांक 35 को एकदम तैयार करके रखा था जिससे की न्यायालय का निर्णय आने के तुरंत बाद हम काम शुरु कर सकें।'

वहीं गुजरात के अधिवक्ता ने न्यायालय से आग्रह किया कि वह बाहरी विश्व को 'कठोर संदेश' दें कि बांध का काम जारी है। न्यायालय में गरजते हुए उन्होंने कहा कि 'केवल तभी बांध के लिए अंतर्राष्ट्रीय निवेश आ सकता है और लोग अपने

गांवों से बाहर निकलेंगे।' संदेश दे दिया गया। परंतु 6 व 7 मार्च को जलसिंधी में हुई बैठक में लोगों ने स्पष्ट कर दिया कि वे इस स्थिति का सामना करेंगे और राज्य सरकार का पर्दाफाश करेंगे जिसने पुर्नस्थापना को लेकर झूठे शपथपत्र दिए हैं और वह डूब या जलप्लावन को एक बार पुनः चुनौती देंगे।

20 जून 1999 से डोमखेड़ी (महाराष्ट्र) और जलसिंधी (मध्यप्रदेश) अन्यायपूर्ण डूब और विस्थापन के खिलाफ सत्याग्रह के दो केंद्र बन गए। लोगों ने न केवल घाटी से बाहर जाने से इंकार कर दिया बल्कि और अधिक लोग घाटी में आ गए। इतना ही नहीं यहां नए मकान भी बनने लगे। मगर तीनों प्रदेशों की सरकारें आंख, कान बंद करे रहीं और अगस्त में नर्मदा के बैकवाटर का स्तर बढ़ने लगा और इसने 10–11 अगस्त को डोमखेड़ी के प्रथम सत्याग्रह घर में पानी ने प्रवेश कर लिया। सत्याग्रही वहीं जमें रहे। पानी कमर और सीने तक पहुंच गया। भंवर खाता पानी 18 सितंबर को बहुत खतरनाक तरीके से पीपलचोप में बढ़ा और 21 सितंबर को डोम खेड़ी, सिक्का, भरड और जलसिंधी में। डोमखेड़ी में सत्याग्रही 30 घंटे से भी ज्यादा समय से पानी में खड़े थे। सीताराम भाई, मेधा पाटकर, देवराम भाई व अन्य लोगों का प्रथम 'समर्पित दल' गले–गले तक खून जमा देने वाले ठंडे पानी में खड़ा था। वहीं सरकार इसका जवाब बजाए संवाद के गिरफ्तारियों, जबरन वहां से हटाने एवं जेल भेजकर दे रही थी।

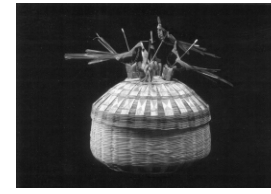
यहीं से शुरु होती है डूब की गाथा! डूब प्रभावितों के लिए नई शताब्दी एक ऐसी त्रासदी से शुरु हुई जिसने हजारों शताब्दियों की सभ्यता और संस्कृति को अपने में समेट लिया। यहां एक और तथ्य पर गौर करना आवश्यक है, सन् 1979 में अनुमान लगाया गया था कि सरदार सरोवर जलाशय की वजह से तकरीबन 6000 परिवार विस्थापित होंगे। सन् 1987 में वह संख्या बढ़कर 12000 तक पहुंच गई। चार वर्ष बाद 1991 में कहा गया कि डूब में आए परिवारों की संख्या 27,000 हो सकती है। एक वर्ष पश्चात् ही सरकार ने स्वीकारा कि कुल 40,000 परिवार प्रभावित होंगे। वैसे अभी भी सरकारी आंकड़ा 40,000 से 41,500 के बीच अटका हुआ है। वहीं दूसरी ओर नर्मदा बचाओ आंदोलन का मानना है कि वास्तविक संख्या 85,000 परिवार है यानि करीब 5 लाख लोग।

18 सितम्बर 1999 यानि करीब 14 बरस पहले 80 मीटर की ऊंचाई पर पहला गांव डूबा। आज बांध 121 मीटर तक बन चुका है। इस 30 मीटर ऊंचाई में न मालूम कितने परिवार बेघर हुए हैं और उपजाऊ जमीन जलमग्न हो गई। नर्मदा घाटी के निवासियों के संघर्ष को भी 40 बरस होने आए मगर वे अभी भी लड़ रहे है। इस पर अरुंधती राय लिखती हैं, 'भारतीय राज्य धूर्तता के साथ लड़ता है। अपनी ऊपरी शराफत से अलग इसका दूसरा हथियार इंतजार करने की इसकी सामर्थ्य है। लड़ाई को खीचते रहने की। विरोधी को थका देने की। राज्य कभी नहीं थकता है, कभी बुढ़ाता नहीं है, उसे कभी आराम नहीं चाहिए। यह एक अंतहीन दौड़ दौड़ता है। मगर

लड़ते हुए लोग थक जाते हैं। वे बीमार और बूढ़े हो जाते हैं। लगभग बीस साल (यह बात उन्होंने 1999 में कही थी) से, पंचाट के फैसले के बाद, घाटी की यह अनगढ़ सेना बेदखली के डर के साथ जीती रही है। बीस साल से ज्यादातर इलाकों में विकास के कोई चिन्ह नहीं हैं, सड़क नहीं है, स्कूल नहीं, कुएं नहीं, चिकित्सा सहायता नहीं। बीस साल से यह 'डूब के लिए निर्धारित' का धब्बा ढो रही है।' वे आगे कहती हैं 'आधुनिक विकास के फल' जब आखिरकार आए तो अपने साथ सिर्फ दहशत लाए। सड़कों से सर्वे करने वाले आए। ट्रकों में पुलिस आई। पुलिस गोलियां और पिटाई और बलात्कार और हिरासत और एक मामले में कत्ल तक लाई। आधुनिक विकास का बस एक ही सच्चा फल उन तक पहुंचा, गलती से पहुंचा अपनी आवाज उठाने का अधिकार, सुने जाने का अधिकार। लेकिन अब वे बीस साल लड़ चुके। कब तक टिकेंगे वे?'

कब तक टिकेंगे वे? यहीं से हम अपनी बात कहना और उनकी बात रखना शुरु कर सकते हैं। अपने इस अध्ययन या यात्रा में हम उनसे मिले जो अभी तक टिके हैं और उनसे भी मिले जो विस्थापित होकर नई पुनर्वास बस्तियों में रह रहे हैं। हम उनसे भी मिले जो रह तो अपने गांव में रहे हैं लेकिन कमोवेश विस्थापितों जैसा अनिश्चित जीवन जी रहे हैं। हम उनसे मिले जो संघर्ष के पुराने साथी रहे हैं, हम उनसे भी मिले जो आज भी साथ हैं। उन सबने क्या कहा वह आपके सामने है। बात विस्थापन से होने वाले सांस्कृतिक प्रभावों के अध्ययन से शुरु हुई थी। मगर चर्चा में महसूस हुआ कि संस्कृति से बाहर क्या कुछ भी अस्तित्वमान है? ऐसे ही कुछ प्रश्न हमने पूछे। कुछ के उत्तर मिले भी। लेकिन अधिकांशतः तो प्रति प्रश्न का ही सामना करना पड़ा।

मुख्यधारा पर आने से पहले विश्वबैंक द्वारा दी गई विस्थापित व्यक्ति की परिभाषा पर गौर करते हैं। इससे विश्वबैंक की मंशा और क्रियान्वयन करने वाले संस्थानों की नीयत भी हमारे सामने आएगी। ऐसे लोग जिनके पास भूमि एवं अन्य संपत्तियों का औपचारिक अधिकार है। इसमें देश में मान्यता प्राप्त रिवाजी और पारंपरिक अधिकार भी शामिल हैं और वे लोग जिनके पास जनगणना के प्रारंभ होने के समय भूमि या अन्य संपत्तियों से संबंधित औपचारिक कानूनी अधिकार नहीं हैं या परियोजना प्रभावित क्षेत्र की रूपरेखा बनने या प्रभावशाली सार्वजनिक उद्घोषणा के समय, इन दोनों में से जो भी पहले विद्यमान हो, इस तरह के कानूनी अधिकार का दावा कर सकता है। बशर्ते इस तरह के दावों को उस देश के कानून ने एक प्रक्रिया के तहत पुर्नस्थापना (पुनर्वास) योजना में चिन्हित किया हो। इस तरह के अधिकार सार्वजनिक जमीनों से अतिक्रमण, बिना सरकारी जबरन कार्यवाही के प्राप्त किए जा सकते हैं। (इसका अर्थ है सरकार की अन्तर्निहित अनुमति के) या इन्हें रिवाजी एवं पारंपरिक कानूनों या प्रयोगों आदि से लिया जा सकेगा। भूमि एवं अन्य संपत्तियों के कानूनी हक की अनुपस्थिति अपने आप में अन्य पुर्नस्थापना सहायता या नष्ट होने वाली संपत्ति के मुआवजे में रुकावट नहीं है।'



मध्यप्रदेश
शुरु होती है गाथा

'उस आदमी की पहेली जो जंजीरों में जकड़ा होते हुए भी सितारों को छूने की कोशिश करता है।'

– स्पार्टकस

नर्मदा घाटी में नदी के किनारे स्थित एक छोटे से गांव 'खापरखेड़ा' में खड़े अचानक हॉवर्ड फास्ट का उपन्यास स्पार्टकस (हिन्दी में आदिविद्रोही) याद आ रहा था। स्पार्टकस को सूली पर चढ़ाए जाने से कमोवेश इस उपन्यास की शुरुआत होती है और वह हार नैराष्य नहीं देती। बल्कि लगता है दुनिया बदलने की प्रक्रिया शायद हार से ही शुरु होती है। निमाड़ के किसान, कुम्हार, मछुआरे व छोटे व्यापारी और पड़ौस के आदिवासी, न्यायालयों से आए विपरीत निर्णयों के बावजूद पिछले 40 वर्षों से संघर्षरत हैं। इस अवधि में धीरे–धीरे उनकी जमीनें डूब रही हैं, लेकिन दूसरी तरफ उनकी जीत का दायरा भी लगातार बढ़ता जा रहा है। नर्मदा घाटी का छोटा सा कस्बा बड़वानी आज विकास की दुनिया में आए भूकंप का केंद्र बिंदु है। बड़े बांधों को आधुनिक मंदिरों की संज्ञा देने वाला समुदाय इस केंद्र बिंदु से उठे कंपन से थरथराया हुआ है। इसके फलस्वरूप पड़ी दरार ने साफ कर दिया है कि अब चुनाव की घड़ी आ गई है और अंततः इस आधुनिक सभ्यता को विवशता में ही सही लेकिन बड़वानी और उस जैसे अनेक केंद्रों से निकली आवाज को सुनना पड़ा है। लेकिन इस प्रक्रिया में जो कुछ लाखों किसानों, आदिवासियों, मछुआरों, कुम्हारों, लोहारों, मजदूरों, छोटे व्यापारियों को चुकाना पड़ा उसका लेखा–जोखा कर लेना भी जरुरी है। बड़े बांध आज अव्यावहारिक जान पड़ रहे हों, लेकिन इस बात को जतलाने या सिद्ध करने के लिए न मालूम कितने स्पार्टकस लगे रहे और आज भी वे इस हारी हुई बाजी के लिए संघर्षरत हैं, जिससे कि हमारी आने वाली पीढ़ियां सुरक्षित रह सकें।

खापरखेड़ा–चिखल्दा

बड़वानी जिला मुख्यालय से 10 किलोमीटर की दूरी पर (राजघाट पुल पार) चिखल्दा नामक गांव है। वैसे यह गांव धार जिले में आता है। यहां से करीब 3 कि.मी. अंदर जाकर नर्मदा के एकदम किनारे स्थित है खापरखेड़ा गांव। देखने में तो यह पश्चिमी निमाड़ के अन्य गांवों जैसा ही है लेकिन यह भारत ही नहीं संपूर्ण एशिया के सबसे महत्वपूर्ण स्थानों में से एक है और इसका असाधारण पुरातत्वीय महत्व है।

सन् 1980 के दशक में यहां भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण ने खुदाई के दौरान पाया कि यहां हड़प्पा सभ्यता (सिंधु घाटी सभ्यता) के समानांतर काल के अवशेष मौजूद हैं। मध्यप्रदेश सरकार की ढीली नीति या नासमझी और गुजरात सरकार की चालाकी से यह कार्य रुक गया। स्थानीय रहमत, कमल अवास्या, देवराम कनेरा ने बताया कि खापरखेड़ा में खुदाई के काम को भारतीय पुरात्तव सर्वेक्षण (एएसआई) करवा रहा था। खुदाई का नेतृत्व एएसआई के श्री ओटा कर रहे थे। यहां काफी महत्वपूर्ण अवशेष प्राप्त हुए थे। लेकिन एक असाधारण एवं असामान्य कदम उठाते हुए भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण ने श्री ओटा का तबादला कर दिया। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग का यह नियम है कि सामान्यतया जो अधिकारी खुदाई का नेतृत्व कर रहा होता है, उसका तबादला नहीं किया जाता। यदि किया जाना अनिवार्य हो तो भी खुदाई का काम किसी भी हालत में रोका नहीं जाता। लेकिन नर्मदाघाटी में ऐसा असाधारण कदम उठाते हुए एकाएक खुदाई रोक दी गई। लेकिन श्री ओटा ने अत्यंत सावधानीपूर्वक कार्य कर खुदाई किए गए पूरे स्थल को मोटे तारपोलिन से पुनः दबा दिया। यह एक गंभीर घटना थी। बाबा आमटे उस दौरान छोटी कसरावद में ही रह रहे थे। इससे व्यथित हो उन्होंने तत्कालीन केंद्रीय मानव संसाधन एवं संस्कृति मंत्री जगमोहन को एक पत्र लिखा। पत्र के जवाब में कहा गया चूंकि ताजमहल निर्माण के 350 वर्ष पूरे हो रहे हैं और संबंधित मंत्रालय के पास धन की कमी है तथा श्री ओटा की विशेषज्ञता की वहां भी आवश्यकता है। कुछ समय पश्चात यहां पर खुदाई का कार्य पुनः प्रारंभ कर दिया जाएगा। लेकिन तीन दशक बीत जाने के पश्चात भी खुदाई पुनः आरंभ नहीं हो पाई। इसकी एक संदिग्ध वजह यह भी हो सकती है कि भारतीय पुरातत्व सामग्री संबंधी कानूनों में यह प्रावधान है कि जब तक जमीन के भीतर की पूरी सामग्री निकाल न ली जाए, तब तक उस क्षेत्र को डुबोया ही नहीं जा सकता। इसलिए जो कुछ मिला उसे पुनः वही दबा दिया गया और मध्यप्रदेश सरकार दावा कर रही है कि यहां कुछ भी जमीन के नीचे छुपा नहीं है।

नर्मदा के किनारे जिस खेत में खुदाई हुई थी, वहां अब खेती नहीं होती। दूर तक फैला मैदान है। वहीं पर एक ओर मंदिर है तो दूसरी ओर हल्का जंगल है, जिसमें उन पेड़ों की बहुतायत है जिनके फल से हिंगोट (दीपावली पर बनने वाला फटाखा) बनाए जाते हैं। कमल अवास्या का यह भी कहना था कि इस फल से कपड़े भी धोए

जा सकते हैं और ये साबुन का काम करता है। यही वह जगह है (खापरखेड़ा) जहां संभवतः एशिया के पहले किसान ने कृषि कार्य प्रारंभ किया था। वैसे तुलना की बात नहीं है लेकिन फिर भी विचार मन में आता है कि ताजमहल जो कि संभवतः कलात्मकता का चरम है, इस पर कोई दो राय नहीं हो सकती, लेकिन चिखल्दा और खापरखेड़ा जहां से एशिया में खेती का कार्य हजारों हजार वर्ष पहले प्रारंभ हुआ है, में से पहली प्राथमिकता किसे दी जानी चाहिए? यदि खेती ही प्रारंभ नहीं होती तो मानव विकास क्रम में हम आज कहां खड़े होते? क्या इस अमूल्य स्थान को डुबोया जा सकता है? जवाब हर हाल में 'नहीं' होगा। लेकिन सत्यता यही है कि तथाकथित विकास की इस बेमानी दौड़ में हम अपनी सबसे कीमती विरासत को डुबो रहे हैं और हमारे नीति निर्माताओं के चेहरे पर कोई शिकन तक नहीं है। यदि दूसरे नजरिए से देखें तो विचार करिए कि क्या भारत में इससे महत्वपूर्ण कोई अन्य पुरातत्वीय या पर्यटन स्थल हो सकता है? क्योंकि मोहनजोदड़ों और हड़प्पा संस्कृति के अधिकांश स्थल अब पाकिस्तान में चले गए हैं। यह एक छोटा सा मैदान मध्यप्रदेश को दुनिया के पर्यटन पटल पर सर्वोच्च स्थान दिलवा सकता है। लेकिन मध्यप्रदेश इस व्यावसायिक नजरिए को भी अपना नहीं पा रहा है।

जमीन के नीचे दबे उस पहले किसान के प्रमाणों पर खड़ा मैं सोच रहा था कि क्या हम सब इतने निष्ठुर, कठोर और निर्लिप्त हो गए हैं कि अपने पूर्वजों को भी सहेज नहीं सकते। तस्वीर खीचते हुए कैमरे की आंख से धुंधला सा दिखने लगा। समझ में नहीं आ रहा था कि एकाएक कैमरे को क्या हो गया। क्या इसने भी साथ छोड़ दिया। कैमरे की आंख को अपनी आंख से अलग किया तो एकाएक समझ में आया कि धुंधलापन कैमरे की आंख में नहीं अपनी आंखों ने दिया था। इस अनूठी जगह को देखकर जो अहसास हो रहा था उसकी शब्दों में अभिव्यक्ति लगभग असंभव थी। लेकिन शब्दों से इतर आंखों की अलग भाषा होती है, जो कि अव्यक्त को भी व्यक्त कर देती है। आंख के आंसुओं ने वह सबकुछ कह दिया था जिसे शब्द नहीं कह पा रहे थे। वहां खड़े–खड़े अजीब सा महसूस हो रहा था, गर्व, गुस्सा, आनंद, निराशा और उल्लास जैसे एक साथ उभर रहे थे। ऐसी अनूठी घटना जीवन में पहली बार घटी थी। मैं हतप्रभ, अवाक उस समतल मैदान को एकटक देख रहा था, जहां अब घास के मैदान भर थे। आसपास के खेतों में खड़ी फसल लहरा रही थी। नर्मदा का प्रवाह काफी नीचे था। नदी के दूसरे ओर सौंडल पट्टी की आवाजाही साफ दिखाई पड़ रही है। हमारे सबसे कुशल पूर्वज जिस जगह विकसित हुए थे ठीक उसी जगह मैं खड़ा था। मैं मना रहा था कि जीवन में कभी दूसरी बार ऐसा झकझोरने वाला मौका नहीं आए। लेकिन यह तो शुरुआत थी। मैं अगले ऐसे धक्के के लिए स्वयं को तैयार नहीं कर पा रहा था। धीरे से कमल से नजरे बचाते हुए आंखे पोंछी। कुछ तस्वीरें खींची। क्या यही नियति कहलाती है? शायद नहीं। क्योंकि यहां जो कुछ हो रहा था वह नियति के हाथ में नहीं था। नियति सहस्त्राब्दियों पूर्व अपना काम कर

चुकी थी। आज तो उसने हमें मौका दिया था कि हम पुनः अपने सर्वोत्तम अतीत से साक्षात्कार कर सकें। लेकिन हमने अपने नियति स्वयं ही चुनी और एक बार पुनः उभरी सभ्यता और संस्कृति को अपने ही हाथों से मिट्टी में दबा दिया और पूरा प्रयत्न किया कि इस क्षेत्र में डूब में आ जाए और हमेशा–हमेशा के लिए हमारे पूर्वज पाताल में समा जाएं।

खापरखेड़ा के उस पार नदी के दूसरे किनारे पर पिछौड़ी गांव की हलचल दिखाई दे रही है। ये गांव भी डूब की जद में है। सभ्यता और संस्कृति की विलुप्ति के कगार पर खड़े होकर जब धुंधलाती आंखों से एक बार पुनः नदी के पार देखने की कोशिश तो एकाएक नदी के बीच से उभरते ढेर सारे चेहरे नजर आए। कुछ पहचाने और कुछ अनजाने। लेकिन भाव दोनों के एक ही थे। जिन्हें मैं पहचान पाया उनमें मेधा पाटकर, राकेश दीवान, आशीष मंडलोई, देवराम भाई, कैलाश मास्टर, चित्तरूपा पालित, आलोक अग्रवाल, श्रीपाद, नंदिनी, कमलू जीजी, श्रीकांत, रेहमत, दीपमाला शामिल थे। लेकिन गौर से देखा तो एक भी चेहरा अपरिचित नहीं दिखा। दूर कहीं पहाड़ी पर बाबा महरिया हाथ उठाए कुछ समझाते दिखे। तो कहीं महाराष्ट्र की किसी बसाहट में अपने भाग्य को दोष देता कोई किसान दिखाई दिया। तो कहीं गुजरात की किसी पुनर्वास बस्ती में अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, अपने जंगल और अपनी नदी को याद करता आदिवासी समुदाय।

खापरखेड़ा की इस गाथा से सरदार सरोवर बांध की डूब में आ रहे समुदायों के सांस्कृतिक विप्लव के दस्तावेजीकरण की शुरुआत होना अनायास ही है। वास्तविकता यह है कि इसके पहले हम यानि मैं और सरोज कई गांवों में घूम चुके थे और बहुत सारी चर्चा कर भी चुके थे। लेकिन खापरखेड़ा आकर लगा कि जैसे हम सृष्टि के उद्‌गम स्थल पर खड़े हैं और हमें अपने लेखन की शुरुआत का केंद्र बिंदु इसे ही मानना चाहिए। नर्मदा नदी के तट पर खड़े–खड़े बाबा महरिया की चिट्ठी याद हो आई। वो लिखते हैं', ''हम जंगल की गोद और मोटली माई नर्मदा के पेट में रहते हैं। मोटली नदी के गीत गाकर हम देव पूजते हैं। ये गीत नवाई और दिवासा के त्यौहारों पर गाए जाते हैं। यह हमें बताते हैं कि किस तरह से दुनिया बनी, मानव जाति कैसे पैदा हुई और मोटली नर्मदा कहां से आई। नर्मदा, उसके पेट में रहने वालों को बहुत सुख देती है। उसके पानी में खारही, मोइणी, घाघ, लगन, टुकुन, तुमेठा, तेपरो जैसी तरह–तरह की मछलियां हैं। चिवला की भाजी नर्मदा से मिलती है। ये मछलियां और भाजी खाकर हम जीते हैं। हफ्ते में दो तीन दिन हम मछली खाते हैं। हमारे घर में कभी मेहमान आते हैं तो हम चट से नदी जाकर मछली पकड़ लाते हैं। दूसरी क्या सब्जी है, मछली की तरकारी ही रांध देते हैं। बरसात में नदी खुद ही हमारे घरों तक लकड़ी पहुंचाती है। पीछे से नदी के साथ मिट्टी बहकर आती है, जो रेत पर जम जाती है। जाड़े में इसी मिट्टी पर हम मक्का, दादरा (जुआर) और गेहूं पकाते हैं। तरबूज और खरबूज की बाड़ी लगाते हैं। उसकी रेत पर हमारे बच्चे खेलते

हैं। उसके पानी में नहाते तैरते हैं। हमारे जानवर नर्मदा का पानी पीते हैं। सारे खन्ती, नाले गर्मी में सूख जाते हैं। लेकिन नर्मदा कभी नहीं सूखती। हमारी औरतें नदी से पानी लाती हैं। पीढ़ियों से यहां रहने वाले हम लोगों का इस मोटली नदी नर्मदा और उसके पास के जंगलों पर कोई हक है या नहीं? उन हकों को आप सरकारी लोग पहचानते हो या नहीं?''

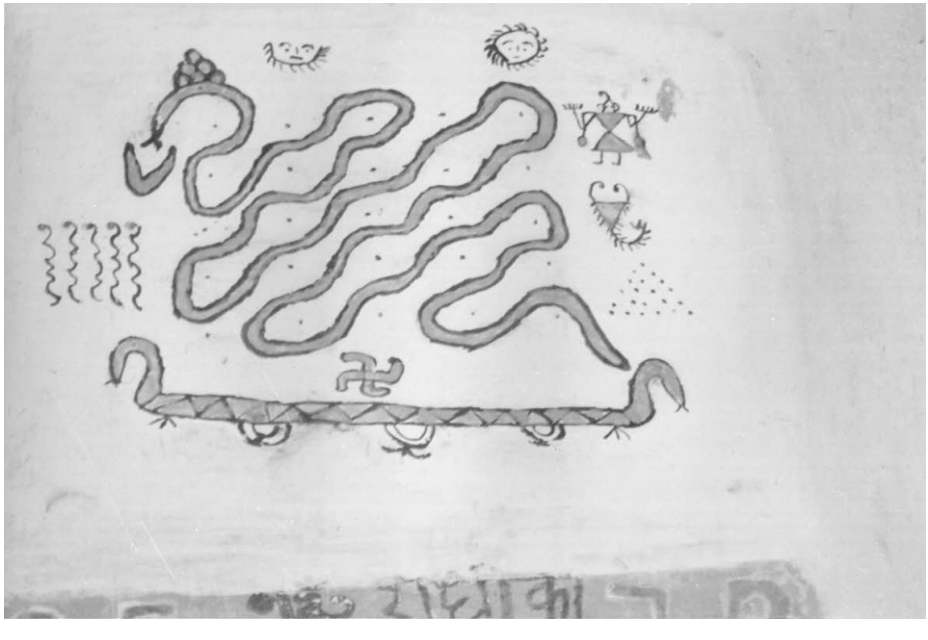
बाबा महरिया के सरकारी लोगों में शहरी लोग भी शामिल हैं। प्रकृति से जुड़े इस आदिवासी समुदाय के साथ ही साथ किसान समुदाय भी आज अनिश्चितता में जी रहा है। खापरखेड़ा की नई बस्ती पौराणिक बसाहट से थोड़ी दूरी पर है। नर्मदा बचाओ आंदोलन के देवराम (कनेरा) भाई इसी गांव में रहते हैं। वैसे तो उन्हें अक्षरी ज्ञान न के बराबर है, लेकिन सरदार सरोवर परियोजना से संबंधित प्रत्येक आंकड़ा उन्हें मुखाग्र है और वे उसकी विवेचना करने में भी सक्षम हैं। नर्मदा किनारे की खापरखेड़ा मूल बस्ती से आधुनिक या वर्तमान बसाहट की ओर लौटते देवराम भाई ने वहां पहले से विद्यमान पक्की नहर दिखाई जो कि आजादी के पहले बनाई गई थी। यानि यहां पर लंबे समय से सिलसिलेवार ढंग से फसलों को सींचा जाता रहा है। धीरे–धीरे ये व्यवस्थाएं रखरखाव के अभाव में नष्ट हो गई। हम खापरखेड़ा की नई बस्ती में पहुंचे। देवराम भाई अपनी साधारण भाषा में बहुत ही असाधारण बातें कहते जा रहे थे। वे समझा रहे थे कि विकास की इस पूरी नई सोच में ही खोट है और इसके लिए सिर्फ संस्थाएं और व्यक्ति ही जिम्मेदार नहीं हैं। इससे आगे भी कुछ और बात है। वो बात क्या है, यह तो वे नहीं समझा पाए। लेकिन गुंथर ब्लोकर की इन पंक्तियों पर निगाह डालें तो शायद समझ में आ जाएगा कि वे क्या कहना चाहते थे, 'जब तक आदमी यह मानता रहेगा कि इस धरती की बुराईयां कुछ खास व्यक्तियों या कुछ खास संस्थाओं की कुछ खास असफलताओं से पैदा हुई हैं वह बौद्धिक रूप से बाल्यावस्था में रहेगा। परिपक्वता तब आती है जब वह समझने लगता है कि इस दुनिया में कहीं कोई अंदरुनी खराबी है, कोई ऐसी खराबी जो थोड़ी बहुत घटाई तो जा सकती है, पर बिल्कुल हटाई नहीं जा सकती।'

चिखल्दा एक लोकतांत्रिक गांव

हमारे अध्ययन का उद्देश्य संभवतः उस अंदरुनी खराबी की खोज ही है। तीन किलोमीटर दूर स्थित चिखल्दा इस खोज में पहला महत्वपूर्ण पड़ाव था। नर्मदा किनारे बसा चिखल्दा अपनी विरासत के लिए प्रसिद्ध है। खापरखेड़ा जहां पहला किसान विकसित हुआ, वह भी इसी गांव का हिस्सा रहा है। यह गांव भी डूब में आ रहा है। अपनी बनावट और बसाहट में यह अनूठा गांव है। साथ ही सांप्रदायिक सौहार्द की अप्रतिम मिसाल भी। चिखल्दा में मूलतः कुल 688 परिवार मूलरूप से निवास करते हैं। 100 परिवार अस्थायी तौर पर यहां आकर बसे हुए हैं। चिखल्दा में कुल 14 मंदिर

हैं। जिसमें 700 वर्षों से ज्यादा पुराना जैन मंदिर भी शामिल है। साथ ही एक हजार बरस पहले निर्मित नीलकंठेश्वर मंदिर भी अभी तक मौजूद है। गांव में मस्जिद भी है। यहां हमारी मुलाकात सबसे पहले कलीम भाई अंसारी से हुई। वे पेशे से कृषक हैं और मूलतः पिंजारा हैं। उनका कहना है कि उनके पूर्वज राजस्थान में निवास करते थे। वहां से ये लोग मंदसौर आए और 200 वर्ष वहीं पर रहे। करीब 500 वर्ष पूर्व ये लोग सेना के साथ निमाड़ के इस क्षेत्र में आए और अंततः यहीं बस गए।

हम लोग इस गांव के एकमात्र जैन परिवार के यहां बैठकर बात कर रहे थे। सामने मंदिर में आरती हो रही थी। काफी सारे बच्चे गा रहे थे। शांतिलाल पाटौदी ने हमें बताया कि हम अपने समाज (समुदाय) से बिछुड़ना नहीं चाहते। हमारी सारी रिश्तेदारी बड़वानी में है, लेकिन हमें कभी नहीं लगता कि हम चिखल्दा को छोड़कर कहीं जाएं। इसकी वजह है कि आपस में मुहब्बत है, निसहत है। आपसी विवाद मिल बैठकर सुलझा लेते हैं। गांव में सांप्रदायिकता का अब नामोनिशान नहीं है। गांव में शादी पर सभी एक जाजम पर बैठते रहे हैं। वैसे 1980 के दशक तक मुस्लिमों एवं दलितों से भेदभाव की बात सामने आती थी। लेकिन आंदोलन (नर्मदा बचाओ आंदोलन) के सक्रिय होने के बाद परिस्थितियों में काफी परिवर्तन आया है और अब हरिजन और सभी वर्ग साथ–साथ बैठते हैं।



नागपंचमी पूजा

इसी दौरान भागीरथ धनगर ने अपनी बात कहना प्रारंभ किया। वे लंबे समय से नर्मदा बचाओ आंदोलन से जुड़े हुए हैं। आजकल वे इसमें बहुत सक्रिय तो नहीं हैं लेकिन आवश्यकता पड़ने पर पूरी शिद्दत के साथ जुड़ कर काम करते हैं। उनका मानना है कि चिखल्दा एक 'लोकतांत्रिक गांव' है। भयानक सांप्रदायिकता के दौर में भी मुसलमान इसी गांव में रहे। लोकतंत्र में तो ऐसा ही होना चाहिए। हिंदु मुसलमान विवाह में भी यहां कोई विवाद नहीं होता। अतएव इसकी कोई कीमत नहीं लगाई जा सकती। इस सदभावना की जड़ में महिलाएं ही हैं। उनके ससुराल में यदि पीहर जैसा झाड़ (वृक्ष) दिखाई दे जाए तो वे भावुक हो जाती हैं। उनका रिश्ता गांव से सदा बना रहता है। यहां की लड़कियां मालवा में जाकर भी अपने अतीत को नहीं भूल पातीं। एक किस्सा बताते हुए वे कहते हैं कि मानकर समाज के कुछ बिचौलिये बहकाकर या पैसे लेकर लड़कियों को मालवा में ब्याह देते हैं। वहां से उनके लौटने के रास्ते भी बंद हो जाते हैं। गांव की ऐसी ही एक लड़की अनायास उन्हें रतलाम में मिली। उसने उन्हें पहचान लिया और बहुत देर तक गले मिलकर रोती रही। गांव की महिला अपने गांव को छोड़कर कहीं भी रहे लेकिन ताजिंदगी उसका यहां की गलियों, नदी और पेड़ पौधों से मोह बना रहता है। गांव से निकलते ही हम खानाबदोश हो जाते हैं। शहरों में कौन एक दूसरे की फिक्र करता है? गांव तो हमारे लिए पूरा देश होता है। लेकिन याद रखिए हीरे के पहचान जौहरी ही कर सकता है।

वे बताते रहे, स्मृतियों एवं रिश्तों दोनों से ही ग्रामीण समाज बनता है। मैं कितनी भी रात में अपने खेत जाता हूं तो सुरक्षित महसूस करता हूं। हमारे पूर्वजों ने गांव का एक 'मास्टर प्लान' बनाया था। गावं में सबसे पहले यादव रहते थे। उसके बाद मुसलमान। बाद में सभी समाज के लोग रहते हैं। सब अपने–अपने समुदाय में अपने–अपने त्यौहार मनाते हैं। बड़े त्यौहार जैसे दीपावली, होली, गणगौर, नवरात्र, ईद, सामुहिक मनाते हैं। नर्मदा जयंती हमारा सबसे बड़ा त्यौहार है। हमारे गांव में जातिवाद कमोवेश समाप्त हो गया है। हमारा मानना है कि पुनर्वास स्थल में खेल के मैदान, श्मशान, कब्रिस्तान, मंदिर, मस्जिद सभी कुछ होना चाहिए। हमारे चिखल्दा में ये सबकुछ है। हम पानी नदी से सीधा लाते हैं। जो पुनर्वास स्थल हमें आबंटित किया गया है वहां पानी की निकासी तक का पर्याप्त इंतजाम नहीं है। हमारे पास यहां पर्याप्त जमीने हैं और हम अपने रिश्तेदारों तक को भी यहां लाकर बसा सकते हैं। वहां क्या यह संभव हो पाएगा? हमारे यहां किसानों और मजदूरों का आपसी रिश्ता एक मिसाल है। इस गांव में कोई भी मजदूर ऋणग्रस्त नहीं मिलेगा। यहां किसी भी मजदूर से गिरवीनामा नहीं लिखवाया जाता। छुआछूत भी नहीं है। पूरा गांव गरीब के घर की शादी में जाकर परोसगारी (खाना परोसना) करता है। हम साल भर का एडवांस देते हैं और उस पर ब्याज नहीं लेते। अनाज भी देते हैं। कुछ अनाज स्वयं का भी होता है। कटाई में भी अनाज के बदले अनाज देते हैं। गांव के लोग कहीं भी काम कर रहे हों, अभी तक तो त्यौहारों पर गांव वापस आ जाते हैं। बाद में क्या होगा? समाज नहीं होने से सामाजिक उत्सव भी समाप्त हो जाएंगे।

गांव से बेदखली के एक असफल प्रयास के बारे में भागीरथ ने बताया कि सरकार ने इस बार के चुनावों में पुनर्वास स्थल पर मतदान केंद्र बना दिए थे। उन्हें लगा कि इससे गांव के लोगों को यह आभास हो जाएगा कि उन्हें अंततः वहीं जाना है और इन पुनर्वास स्थलों को भी एक तरह की मान्यता मिल जाएगी। लेकिन गांव के लोगों ने इस कार्रवाही का जबरदस्त विरोध करते हुए मतदान के बहिष्कार की धमकी दी। गांव वालों का कहना था कि हम जहां रह रहे हैं वहीं मतदान करेंगे। अंततः यहीं इसी गांव में मतदान केंद्र बनाना पड़ा। लेकिन सरकार की बदनीयती यही समाप्त नहीं होती। विद्यालय का संचालन मूलगांव यानि चिखल्दा में हो रहा है, जबकि नाम पुनर्वास स्थल का चल रहा है। न्यायालय को धोखे में रखने के हिसाब से यह सबकुछ हो रहा है। हमारे यहां लोगों ने समझ लिया है कि पैसे का मूल्य कितना कम होता है। वैसे भी सरकार की जमीन के बदले जमीन देने की नीयत ही नहीं है। बातों–बातों में उन्होंने कहा कि आरक्षण का सबसे अधिक फायदा मध्यप्रदेश में भिलाला एवं गुजरात के तड़वी समुदाय ने उठाया है। निमाड़ में अनेक भिलाला यूं तो स्वयं को आदिवासी नहीं कहलवाते लेकिन आरक्षण का लाभ उठाने में उन्हें किसी भी प्रकार का गुरेज नहीं है।

इस बीच **कलीम भाई मंसूरी** ने हस्तक्षेप करते हुए कहा कि साधारण व सादगी से जीवन बिताने वाला यह निमाड़ी समाज असाधारण, अनूठा और अद्वितीय है तथा अपने पारंपरिक ज्ञान से वह जो कुछ जानता है उसे सेटेलाइट से मेपिंग कर योजना बनाने वाले अगली कई सहस्त्राब्दियों तक समझ ही नहीं पाएंगे। उन्होंने संभाव्य विस्थापन की वेदना से अपनी बात शुरु की।

वे बोले, आप यह समझ लो कि हमारे गांव को पांच सात टुकड़ों में बसाने के बाद भी इतने लोग इधर–उधर हो जाएंगे कि गांव ही नहीं रहेगा। यानि वो जो आज चिखल्दा है, आज के टाइम में जो हम चिखल्दा में रह रहे हैं, आपस में बातचीत कर रहे हैं, बिखरने के बाद में ऐसा कुछ नहीं रहेगा। उदासी की ही जिंदगी रहेगी। यानि एक इंसान अपना वतन छोड़कर दूसरी जगह जाता है तो बहुत मुश्किल से वहां पांव जमते हैं।

दूसरी जगह जाने पर हमारे तीज त्योहारों पर भी बहुत फर्क पड़ेगा। समझ लो कि हम लोग हिंदु मुस्लिम जो भी त्यौहार मनाते हैं, इसमें एक दूसरे से भाईचारे से सैकड़ों सालों से मिलते जुलते आ रहे हैं। ऐसे त्यौहार अब कहां मिलेंगे। कहीं और इतनी खुशी से त्यौहार तो कर नहीं सकते। एक दूसरे से गले मिलना क्या कहीं और संभव हो पाएगा? सरकार की बहुत बड़ी भूल है 700 साल पुरानी बसी बसाई बस्ती को उजाड़ना। बाप–दादा से भी पुराने समय से हम लोग काश्तकारी ही करते आ रहे हैं। दूसरा धंधा ही नहीं किया आज तक। पांच पीढ़ी तक तो हमकों ही मालूम है कि काश्तकारी ही है हमारा धंधा। अभी भी हम जो उन्हीं की नस्ल हैं काश्तकारी ही कर रहे हैं, खेती ही कर रहे हैं।

कलीम भाई शायरी भी करते हैं। यह पूछने पर कि इस विभीषिका पर उन्होंने क्या लिखा है, उनका जवाब था,

ऐसा कभी चाहत का समंदर नहीं मिलेगा,
घर छोड़कर मत जाओ कोई घर नहीं मिलेगा,
सताएगी फिर आपको इस आंदोलन की बात
जब धूप में कोई साया सिर पर न मिलेगा।

कद कितना जमीन से तुम उसका (सरदार सरोवर) उठाओगे,
हम आसमा हैं हमको डुबाने वाले खुद ही डूब जाओगे।

ऐ हवा तख्त में तहजीब से दाखिल होना,
पेड़ कोई भी सवरदार न गिरने पाए,
नर्मदा मां मैं तुझे देता हूं बाबा शंकर की कसम,
तेरी घाटी से कोई व्यक्ति उजड़ कर न जाने पाए।

कागज के चंद टुकड़ों पर हमको बसा दिया,
मां नर्मदा के पानी से हमको डुबो दिया,
खुदा गारद करे सरकार तेरे जुल्मों सितम को,
कमबख्त बदमाशों ने झूठा बसा दिया।

नदियों के किनारे बसने वाले समुदायों में मछुआरे एवं केवट भी शामिल हैं। नदी अपने प्रवाह के साथ लाखों–लाख लोगों के जीवन को भी संचालित करती है। उसके भीतर पनपती मछलियां इस सृष्टि की आदि संतान भी हैं। वहीं दूसरी ओर से मछलियां अनेक परिवारों के जीविकोपार्जन का माध्यम है तो दूसरी ओर हमारी पर्यावरणीय संचरना की बेमिसाल उपलब्धि। सरदार सरोवर बांध के कारण नर्मदा नदी के बड़ा हिस्से का प्रवाह अवरुद्ध हो गया है और वह एक तालाब में बदल गई है। नर्मदा नदी के जलाशय में परिवर्तित होने से पूरी जलीय सभ्यता पर पड़ रहे प्रभाव को **मणुभाई** ने किसी पर्यावरणविद से ज्यादा बेहतर ढंग से समझाया। वैसे उनसे बात सवाल जवाब के रूप में करना पड़ी।

प्रश्न – हम पिछली बार भी आए थे। मेधा बहन ने खासतौर पर आपसे मिलने को कहा था। मणुभाई, जमीन के बदले जमीन वालों को आज नहीं तो कल शायद जमीन मिल जाएगी। निमाड़ में अभी तो उनके पास जमीने हैं। आपके लिए तो यह नदी अब तालाब हो गई। तो आपको इस वक्त क्या समस्याएं सामने आ रही हैं?

उत्तर – हमको तो ढेर सारी समस्याएं सामने आ रही हैं। पहले जो खुल्ला पानी बहता था तो पानी साफ था और मछली अच्छी थी। आज तो मछली की समस्या यह हो गई है कि सब तरफ गांद भर गई है, टांके भर गए हैं, औजार नए भी लाओ तो महीने दो महीने चलता है।

प्रश्न – औजार से क्या मतलब?

उत्तर – जो बनिये के यहां से खरीदना पड़ता है, जाली बाखड़ आदि। आज यह हजार–बारह सौ रु. किलो मिलता है और महीने दो महीने चल नहीं पाता है। इतने समय में मछुआरों के पास पैसा तो इकट्ठा हो नहीं पाता। समझ लो मछुआरों की तो बहुत बड़ी समस्या चल रही है। जैसे–तैसे करके पेट भर रहे हैं, घर चला रहे हैं। आगे चलकर गेट लगने के बाद तो ये समस्या और भी बढ़ जाएगी। पानी ज्यादा हो जाएगा। बड़ी जबरें (लहर) चलेगी। इसके लिए अपने को बोट (मोटर चलित नाव) चाहिए क्योंकि नांव तो तब चलेगी नहीं। अपने पास तो आज भी इतनी व्यवस्था नहीं है कि बोट खरीद सकें। जैसे–तैसे करके समय पास कर रहे हैं। इसलिए सरकार ने मछुआरों के लिए भी जमीन के बदले जमीन या कुछ और करना चाहिए। वरना हम मछुआरों का तो जीवन ही खत्म हो जाएगा।

प्रश्न – मछली खराब क्यों हुई?

उत्तर – खराब हुई है गारे की वजह से। पूरे में गाद जो हो गया है। पहले क्या होता था कि साफ खाने को मिलता था उसको। साफ जगह रहती थी। पत्थर चाटती थी और कुछ खाती थी। अब क्या हो गया कि गाद इतनी हो गई है कि गाद के सिवाय मछली को पानी में खाने के लिए कुछ भी नहीं है। फिर पानी में निरपी (एक तरह की घास) भी बहुत हो गई है। आप समझ लो आप 15 जून तक इतनी परेशानी हो जाएगी कि आदमी दिन भर में 2 किलो मछली तक मार कर नहीं ला सकता। (हमने यह बातचीत दिसम्बर के अंतिम सप्ताह में की थी) आप औजार पानी में डालोगे तो सिर्फ घास ही उसमें आएगी। इतना चारा हो जाता है कि यदि अपन उसमें उतर जाएं तो बाहर निकल भी नहीं सकते। तो मछुआरों के लिए तो बहुत बुरी समस्या है। जलाशय की वजह से है ये समस्या। हमारी रेत तलक पर खेती होती थी। दीवाली के बाद से हम चार पांच महीने खेती करते थे। खरबूजा होता था, उसमें ककड़ी होती थीं, उसमें टिंडी होती थी, करेली होती थी, भिंडी होती थी। ऐसी कई सब्जी होती थीं। सब्जी लगाने से हमारा आसानी से उगाह (समय) निकल जाता था। जब सस्ते का जमाना था। हमारा काम निकल जाता था।

प्रश्न – क्या उस समय मछली नहीं मारते थे?

उत्तर – नर्मदाजी में ही रहते थे तो वहां तो हमारा काम चल जाता था। वहीं रहते थे। सभी बाल बच्चे बाड़ी में चले जाते थे, वही टॉपरी बना ली, वहीं खाना बनाना, वहीं रहना। अच्छा समय बीत जाता था। आज क्या हुआ कि जमीन डूब गई। अब

जी आर ए (शिकायत निवारण प्राधिकरण) में हमारा केस गया था। वहां तारीख भी लगी और मुझे बुलाया भी। जीआरए वाले बता रहे हैं, कि नियम बनाया कि 87 (1987) से अतिक्रमण की जमीन वालों को लाभ दिया जाएगा। उसमें क्या हुआ कि जैसे बीच में ठेके हो गए एक दो बार। ठेके की मुझे 40–50 साल की बात तो याद नहीं रही। मुझे झूठ बोलना तो आता नहीं। मैंने कहा जज साहब कभी (कब) ठेका हुआ? जज सा. ने बताया कि जब ठेका हुआ तो इसका मतलब यह कि आपका ठेका नहीं रहा। मैंने कहा आप सन् 87 की बात बता रहे हो। सन् 87 से अतिक्रमण है तो मुआवजा मिलेगा। तो मुझे यह जानकारी चाहिए कि किस साल में ठेका हुआ था। तो फिर मैंने देखा कि अपने यहां ठेकेदार कौन था। पूछताछ की तो पता लगा कि बड़वानी का था। जब मैं उसके पास गया तो उसके पास सन् 1969–70 की रसीद मिली। वो रसीद मैंने कमल वकील भाई को दी। उसका अभी तक मेरा कोई जवाब नहीं आया है। वर्ष 87 पूर्व की मान्यता समझ में नहीं आती। अतिक्रमण तो हम करते आए हैं और आज भी करते हैं। मैं तो आज भी नर्मदा किनारे गिलकी बोता हूं। डूब क्षेत्र की कोई तौजी (लगान) तो लेते नहीं हैं। अभी जो थोड़ी जमीन खुलती है उसमें बोता हूं।

मछुआरों की समस्या बहुत खराब (गंभीर) है और सरकार को उन पर ध्यान देना चाहिए। दीदी (मेधा जी) से भी इस मसले पर बहुत बात हुई है और इस मसले पर मैं दिल्ली भी गया था। इंदौर भी गया, भोपाल भी गया और सभी जगह ये बात रखी। मछुआरों को जमीन मिले। जब गुजरात में बिना जमीन वालों को जमीन दी गई हैं तो चाहे अतिक्रमण की जमीन हो, हम खेती तो करते थे। सब्जी, फूट, खरबूजे सब बोते हैं तो हमारा जीवन चलता है। तो हमें जमीन क्यों नहीं दी जा रही है? फिर अतिक्रमण को लेकर सन् 87 की धारा क्यों लगा रहे हो, हमको भी जमीन के बदले जमीन दो। हमको जमीन मिलना चाहिए। यहां नहीं दे रहे तो गुजरात में दे दो। हम वहां चले जाएंगे। कुछ भी करके हमारे जीवन का गुजर तो होगा।

प्रश्न – आज आप मछुआरे का काम करते हो। कल को यदि आपको खेती करना पड़ेगी तो आपके जीवन में क्या फर्क आएगा?

उत्तर – फर्क तो आएगा लेकिन कम से कम खेती करके हमारा पेट तो भर जाएगा।

प्रश्न – क्या आपको अच्छा लगेगा ?

उत्तर – अच्छा ही लगेगा। खेती मिलेगी तो अच्छा ही लगेगा। खेती के आसपास कहीं तो तालाब मिलेगे। उसमें भी थोड़ा बहुत धंधा कर गुजर बसर करेंगे। जीवन तो बसर कर लेंगे। लेकिन आज यहां तो जलाशय बनने के बाद हम तो पूरी मुसीबत में फस गए। कुछ भी नहीं है मेरे पास।

प्रश्न – अभी मछुआरों के कितने घर है यहां?

उत्तर – यहां करीब 25–30 घर हैं हमारे समाज के।

प्रश्न – ये जो तीस घर हैं इनके व्रत त्योहार एक साथ होते हैं?

उत्तर – एक ही समाज के हैं। कोई दीवर है तो कोई कहार। त्योहार तो यही हैं दीवाली आई तो मनाई, गणगौर माता आई तो मनाई।

प्रश्न – बांध अभी पूरा बना ही नहीं है और एक तरह से आपका विस्थापन हो गया?

उत्तर – हमारा पूरा धंधा ही छिन गया। हमारा धंधा खत्म हो गया।

प्रश्न – अभी आप सब कितने बजे नदी में जाते हो ?

उत्तर – सबेरे पांच बजे जाते हैं।

प्रश्न – फिर कितने बजे लौटते हैं?

उत्तर – तकरीबन 8–9 बजे तक लौटते हैं। कभी 10 भी बज जाते हैं।

प्रश्न – अब कितने अंदर तक जाना पड़ता है?

उत्तर – अंदर क्या हम इस पार से उस पार हो जाते हैं। इधर गेदगांव तक उधर रिंझगांव तक चले जाते हैं। ऊपर जैसे जैसा जिसको सूझता है नांव वहीं डाल देते हैं। हमारा औजार (जाल) चिन्दे चिंदे हो जाता है। नीचे कांटो में फंस जाता है। पानी तो ऊंडा (गहरा) है 8–9–10–15 हाथ। अपन तो उसे नांव पर से ही खीचेगे। पानी में तो कूद नहीं सकते हैं। कभी एक किलो मछली लाया कभी दो किलो। इतनी तो कभी घर में ही लग जाती है।

प्रश्न – मछली क्यों कम हो गई?

उत्तर – कांटे और गाद की वजह से। मछली और बहते पानी का आपस में रिश्ता है। अभी क्या है कि डैम (बांध) बन गए हैं। छोटी नदी के भी बन गए हैं। नाले के भी बन गए हैं, नर्मदा के भी बन गए हैं। होता क्या है, नर्मदा का पानी पूर आता है, नदी नाले पूर आते हैं तो मछली चढ़ती है। खेत की मिट्टी की खुशबु (खेत की) लगती है तो मछली चढ़ती है। तो उसमें क्या होता है कि मछली को जोर लगता है, तो अंडे झारती (देती) है। जितना पानी तेज होगा मछली उतने ज्यादा अंडे झारेगी और यदि पानी कमजोर बहता है, बंद सरीखा तो मछली का अंडा गल जाता है। ब्रीडिंग (अंडे से मछली) नहीं होता। इससे मछली की कमी हो गई। (वे समझाते हैं) अपन कहीं भी मकान में भी चढ़ेंगे तो पांव जोर से जमा करके ही चढ़ना पड़ेगा। ढीले से चढ़ेगे तो पेढ़ी (सीढ़ी) पर चढ़ तो नहीं सकेंगे। ऐसे ही मछली चढ़ती है खड़े पानी में। उल्टी दिशा में। नही तो अंडा झार नहीं पाती है। मछली का बहुत सा अंडा उसके पेट में ही गल जाता है। जलाशय में मछली कम होने का कारण यही हो गया।

प्रश्न – तो इसीलिए केवल अब समुद्र में मछली बच रही है।

उत्तर – समुद्र की मछली अलग होती है। समुद्र में कोई फर्क नहीं पड़ता क्योंकि वहां तो हमेशा बहता पानी ही रहता है। वह समुद्र में ही पैदा होती है। अपने यहां

जो मछली पैदा होती है, ये नदी, नाले नर्मदा पूर आने से ही ब्रीडिंग होती थी। इसलिए मछली की कमी नहीं थी। अभी जलाशय बन जाने से पानी का बहाव नहीं होने से मछली की बिडिंग (ब्रीडिंग) पूरी नहीं हो पाती। अब इसमें क्या होता है मछली डाली जाती है। (नर्मदा में) हर जगह जलाशय में डाली जाती है, तवा है, बरगी है, पुनासा है सभी में मछली के बच्चे डाले जा रहे हैं। कभी छोटा कभी बड़ा नर्सरी से बड़ा बच्चा डालते हैं तो उसे कोई मछली खा नहीं पाती। पहले तेज पानी से ब्रीडिंग होती थी।

प्रश्न – और स्वाद?

उत्तर – पहले पानी साफ था तो उसका स्वाद भी अच्छा था। आज क्या होता है कि गाद की वजह से मछली गाद या कचरा ही खाती है तो उसका स्वाद भी वैसा ही हो गया है। उसे गाद के अलावा और कुछ मिलता ही नहीं। आज आप मछली को मारने के बाद चार घंटे रखो तो एकदम गीली हो जाएगी। पहले मच्छी (मछली) गीली नहीं होती थी। वह कड़क रहती थी। मच्छी के पेट में कचरा या गाद पहले रहता ही नहीं था वह तो पत्थर को चाटकर जीती थी। या चारा खाने वाली मच्छी चारा खाती थी। इसलिए आज उसका स्वाद खराब है। अपने को ऐसा लगता है कि जैसे ये एक दो दिन भी बासी मछली है। इसीलिए जो पहले का स्वाद था वह आज नहीं है।

प्रश्न – गांव के मछुआरों को कोई खास त्यौहार है?

उत्तर – माता पूजन। जैसे नवरात्रि में अलग–अलग माताएं पूजते हैं। ऐसे ही हमारे अलग–अलग गोत्रों की माता होती है। उसे अपने–अपने गोत्र में पूजते हैं। नर्मदा जी में साल में दो बार पूजा करते है। एक श्रावण महीने में रक्षाबंधन के पहले (जुलाई में) दूसरी दीवाली पर बारस तेरस पर। नर्मदा माता की पूजा इसलिए करते हैं कि साल भर अपना अच्छा रहे।

प्रश्न – नांव कहां से बनवाते हैं?

उत्तर – नांव तो कहीं भी बन जाए। लकड़ी हो तो अपने यहां भी बन जाए। नांव तो सागवान की बनती है। सागवान यहां मिलती ही नहीं। सागवान जहां मिलती है वहां रेंजर आदि से पर्ची कटवा कर लानी पड़ती है। ब्लेक में तो लकड़ी अब मिलती ही नहीं है। डिपो से ही लाते हैं। आरा मशीन पर चिराकर सुतार से बनवाते हैं। एक नांव करीब 45–50 हजार रु. की पड़ती है और ठीक से देख रेख करें तो 15 वर्ष निकाल देती है। सुतार धरमपुरी के आसपास हैं। वहां भी सुतार कम ही बचे हैं। वहां से पानी से ही लाते हैं। धरमपुरी से यहां आने में नांव से 10–12 घंटे लगते हैं।

प्रश्न – आंदोलन (न.ब.आ.) से आपका क्या रिश्ता रहा ?

उत्तर – हम चाहते हैं कि आंदोलन के साथ और भी आगे चलें तो लाभ मिलेगा। आंदोलन की वजह से ही तो हम आज यहां बैठे हैं, नहीं तो क्या यहां बैठ पाते? मेहरबानी तो आंदोलन की ही है। सरकार ने कई बार सख्ती करके भी हमें भगाने का प्रयास

किया गया। लेकिन वह तो आंदोलन की ही ताकत है कि हमारा गांव आज यहां बैठा है और हमारी जमीन भी डूबने से बची हुई है। वरना कभी का डुबो दिया जाता।

प्रश्न – आपने इंदिरासागर का हिस्सा भी देखा होगा?

उत्तर – नहीं मैं बरगी गया था।

प्रश्न – बरगी की क्या स्थिति थी?

उत्तर – बरगी की स्थिति भी बहुत खराब थी। वहां के लोगों से हम मिले थे तो उन्होंने बताया कि दो तीन बार उनकी बसाहटें तोड़ दी गई थीं। जब हम गए तब भी 13 मकान आईसी के तोड़ दिए गए। पहले 4 से 6 साल तक तो मछली मारने दी। फिर ठेके हुए। फिर दीदी (मेधा पाटकर) गई तो अधिकार मिले। उसके कुछ साल बाद फिर ठेके दे दिए गए। हम तवा भी गए थे। तवा की तो अभी और भी बुरी हालत है। रिजर्व फॉरेस्ट कहकर मछुआरों से तो मछली मारने का अधिकार ले लिया और तालाब में क्रूज डाल दिए। होटल बना दिया। मछली तो सभी तालाबों में कम होगी। वहां भी दो नदियां बांधी हैं। हर जगह तालाब में बच्चा डालना ही पड़ता है।

इसी बीच वे मछलियों की किस्मों पर बात करने लगे। उनका कहना था, बाड़स की मछली कम हो गई है। यह कुंआर के महीने पर अंडे पर आता (आती) है। यह 5–5, 10–10 किलो तक का हो जाता है। तो इसमें कमी इसलिए हुई क्योंकि इसका अंडा कुंआर महीने में होता है तो जितना पानी तेज होगा नर्मदा में, जैसे कि जिसमें अपन ठहर (खड़े) नहीं सकते हैं। तो अब यहां क्या होता है क्वार महीने में पानी निल (खत्म) हो जाता है। पहले कुंआर महीने में सभी घाटों पर पानी तेज होता था। मछली इसमें चढ़ता (चढ़ती) है। वहां पर ब्रीडिंग होता था। पर अब नर्मदा का पानी तेज बहने की कोई जगह ही नहीं बची। बाड़स की खासियत यह है कि जब दूसरी मछलियों का ब्रीडिंग खत्म हो जाता है तब इसका शुरु होता है।



इसके बाद जो सिंगाल होती है, वो उंडाले (भगोरिया) (होली के आसपास) के समय होती है। वो जमीन में रेती में बड़ा गड्ढा करती है उसमें बैठती है और वहां अंडा झार देती है। वहीं की वहीं बैठी रहती है। एक दो दिन अंडा वहां रहेगा, उसके बाद अंडा (अंडे) फूट जाता है। सिंगाल के शरीर के ऊपर पूरे में दूध आ जाएगा। जितने भी बच्चे फूटेंगे वो सब उसके शरीर से चिपक जाएंगे। ये तब तक चिपके रहते हैं जब तक की फिरने सरीके (तैरने लायक) नहीं हो जाते। वो उसी खड्डे में रहेंगे और उस मछली के पास से कहीं नहीं जाएंगे। वो मछली भी वहीं बैठी रहेगी क्योंकि यदि वो चली गई तो दूसरी मछली इनको खा जाएगी। पानी कितना ही कम हो जाए वह उसी खड्डे में बैठी रहेगी। भले ही अपन उसको देखते रहो पर वह भागेगी नहीं। अभी सिंगाल की कमी नहीं हुई है क्योंकि वह तो उंडाले में होती है और उसको पानी मोल (धीमा) चाहिए। उसको तेज पानी नहीं चाहिए। सिंगाल के बच्चे आज भी मिलते हैं। पाव, आधा किलो, किलो की मिलती है। इसमें कोई अधिक परिवर्तन नहीं आया जितना बाडस में आया।

एक गोली मच्छी (मछली) होती है। यह ज्यादा से ज्यादा तक एक फिट तक की होती है। अब ये (पाव) 250–300 ग्राम से ज्यादा की नहीं होती। वो बहुत कम हो गई, क्योंकि उसकी ब्रीडिंग बरसात में होती है। ऐसा है, जो तेज पानी की मछलियां हैं वह कम हो गई हैं। बाम मछली कचड़े में भी हो जाती है। बाम आज भी मिलती है लेकिन उसी हिसाब से कम ही मिलती है। बाम का अंडा बारह महीने चलता है। (बारहों महीने अंडा देती है) उसका बारिश से कोई लेना–देना नहीं है। वह उड़ाला में भी होती। अभी भी (नवंबर–दिसम्बर) बाम में से अंडे निकलते हैं। जितना अटाला (कचड़ा) होगा बात उतनी अधिक होगी। बाम की कीमत भी अच्छी है। 200–150 रु. किलो तक मिल जाता है। ये चारे व कीचड़ में अंडा देती है। ये चलते–फिरते कचड़े में अंडा झार देती है। इसके पास कोई बच्चे नहीं रहते। फिर होता क्या है जैसे एक मच्छी ने अंडा झारा है तो उसमें से 100 प्रतिशत में से 25–30 प्रतिशत बच्चा ही बचता है। क्योंकि यह बच्चे के पास रहती ही नहीं है। दूसरी मछलियां खा जाती हैं। जो बच्चे होशियार हो जाते हैं वो कचड़े में छिपकर बचते हैं।

ऐसे ही उंडाले में डोक (मछली) होती है। ये कहीं–कहीं बरसात में भी निकल आती है। ये किलो या तीन पाव तक की रहती है। लेकिन अभी (नवम्बर–दिसम्बर) में जो बच्चे निकालती है वह 4–5 से 10 किलो तक के हो जाते हैं। ये भी चारे में अंडे निकालती है और वहीं बैठी रहती है। झारने के एक दो दिन बाद अंडे फूटते हैं। ये मछली तब तक वहीं तीरती (तैरती) रहती है। अंडे से जब बच्चे निकल आते हैं तो उनके साथ फिरा (तैरती) करेगी। वैसी बड़ी डोक आधा किलो से तीन पाव तक अंडे देती है। एक डोक के बच्चों को एक आदमी साल भर में मार ही नहीं सकता है। कुछ अपने आप मर भी जाते हैं। यह लाखों में अंडे देती है। हर मछली इतने ही अंडे देती है। बड़ी मछली जैसे रोहू हो, कतला हो तो उनके अंडे भी पाव आधा किलो से

कम ही होते हैं। ज्यादा बच्चे जीते नहीं हैं। अंडे बह भी जाते हैं। 20–25 प्रतिशत जीते हैं। हर मछली को मारने का अलग–अलग सीजन (मौसम) होता है।

झींगे का अंडा भी बारहों महीने होता है। यहां पर बहुत छोटे झींगे होते है। बड़े झींगे तो समुद्र में होते हैं। जबसे डैम (बांध) बना तब से झींगे नहीं आते, पहले बहुत आते थे। ये दगड़े (पत्थर) में रहता है। अब दगड़े रहे नहीं सबमें गाद भर गई है। मछली का अंडा बहुत होता है। वैसे सरकार ने मछली मारने पर दो महीने का प्रतिबंध लगा रखा है 15 जून से 15 अगस्त तक का। उस समय बारीक जाली डालते हैं। गोगरा है, बिलबाम है, बेकड़ी है, सिंगार के बच्चे इन्हीं सब को पकड़ते हैं। कुछ करके जीवन तो बिताना पड़ता है। सरकार ने बंद तो कर दिया, बाकी हमारे खाने का तो कोई साधन दिया ही नहीं, या तो उन दो महीनों में हमें मजदूरी पर लगाए या हमको इसका कोई बोनस दे। आदमी भूखा उठ तो सकता है सो तो नहीं सकता है। जैसा–तैसा कर अपना जीवन धकाते हैं।

प्रश्न – सबसे ज्यादा कौन सी मछली मिलती है?

उत्तर – सिंगार सबसे ज्यादा। रोहू पर बांध का ज्यादा असर दिखता है। पहले सबसे ज्यादा बाड़स मिलती थी। अब तो वह देखने को ही नहीं मिलती। लगभग पूरी प्रजाति खत्म ही हो गई है। राऊ (रोहू) भी अधिक मिलता (मिलती) था। वह भी अब नहीं मिलता। रोहू एक ऐसी मछली है जो कतले सरीखी होती है। इसका वजन दो से तीन किलो होता है।

मछुआरों के साथ हुई यह विस्तृत बातचीत प्रकाश डालती है कि सारी प्रकृति का अस्तित्व प्रवाह में है और यदि उसे रोका गया तो जीवन भी रुक जाएगा। ऐसा माना जाता है कि पृथ्वी पर सबसे पहले जलीय जीवजंतु आए थे। आज बांध की चपेट में आने से सबसे पहले वे ही लुप्त होने के कगार पर पहुंच गए हैं। नर्मदा में प्रदूषण से उतना नुकसान नहीं पहुंचा जितना कि नदी के तालाब बन जाने से पहुंचा है। अनचाही वनस्पतियां नदी के पर्यावास को बिगाड़ रही हैं और मछलियों की प्रजातियां नष्ट हो रही हैं। इस सबके बीच हमारे नीति नियंता बांध की ऊंचाई को लेकर तो चिंतित दिखाई देते हैं लेकिन विनाश की ओर अग्रसर इस सृष्टि को बचाने को तैयार नहीं हैं। नदी पर पूर्णतया आश्रित मछुआरा समाज अपनी पैनी दृष्टि, श्रुति एवं स्मृति से आज भी पूरे जलीय वातावरण को न केवल परिभाषित कर रहा है बल्कि उसे सहेजने का पूरा प्रयास भी कर रहा है।

चिखल्दा में हमें पुरासंपदा मिली, किसान मिले और मछुआरे मिले। तीनों ही आज संकट में हैं। इस क्षेत्र के किसानों और खेती, नदी, मछली और मछुआरों के आज नहीं तो कल पुरासंपदा में परिवर्तित होने की पूरी संभावना है। इनका सबका आपसी तालमेल है, आपसी लय है और राग है, जो हमें निरंतर सुनाई दिया। डॉ. कपिल तिवारी ने कहा था 'भूमि, नदी, पुरासंपदाओं के राग है। ये राग हमारे जीवन को

आनंदमय व प्रेममय बनाते हैं। लेकिन आज तो नागरिकता 'अप्रेम' में पल रही है। इसमें परायापन है। एक जापानी नागरिक अपने परिवेश के प्रति अगाध प्रेम से भरा होता है। लेकिन हम तो अपने ही संसाधनों को लूटने में जुट गए हैं। इन्हें पराये की तरह लूट रहे हैं। हमें सोचना होगा कि आम आदमी क्या कर रहा है? क्या वह विस्थापन के बारे में सोच रहा है? सच तो यह है कि विस्थापन ने राग की सभी जड़ें काट दी हैं। पहले हमें अंग्रेजों ने लूटा। उन्होंने यहां के मूल निवासियों का अध्ययन किया, तदुपरांत उनसे ही सीखकर, उन्हीं को लूटकर ब्रिटिश दासता का विस्तार किया। हम आजाद भले ही हो गए हों, लेकिन पूरा वंचित समाज आज उपनिवेश में तब्दील होता जा रहा है। वह हड़बड़ा रहा है और अपने को बचाने का प्रयास कर रहा है। वह संभलने का थोड़ा प्रयास तो कर रहा है, जिससे कि अपने को उपनिवेश (जिसका वास्तविक अभिप्राय वह भले ही न जानता हो) बनने से बचा पाए।'

शांत निमाड़ में अपराध की संस्कृति

रेहमत नर्मदा घाटी के उन लोगों में से हैं जो उपनिवेश के अभिप्राय को न केवल समझते हैं बल्कि उस प्रक्रिया को अच्छे से समझते हैं, जिससे किसी देश, समुदाय, समाज या व्यक्ति को उपनिवेश में तब्दील किया जाता है। वे नर्मदा घाटी में सरदार सरोवर बांध से होने वाली हानि को लेकर मौलिक सोच रखने वालों में प्रमुख हैं। वे मूलतः चिखल्दा के रहने वाले हैं, और उनका पैतृक घर अभी भी चिखल्दा में है। उनकी माँ एवं बड़े भाई का परिवार अभी भी चिखल्दा में है। रेहमत नर्मदा घाटी परियोजना में बन रहे सभी बड़े बांधों, सरदार सरोवर, बरगी, इंदिरा सागर, ओंकारेश्वर एवं महेश्वर बांध की प्रत्येक जानकारी रखते हैं। इतना ही नहीं देश भर में बांधों की स्थिति को लेकर भी उनका जबरदस्त अध्ययन है। वे लंबे समय तक नर्मदा बचाओ आंदोलन में पूर्णकालिक कार्यकर्ता की तरह जुटे रहे। अन्नान्य कारणों से आंदोलन के सक्रिय कार्यकर्ता तो नहीं रह पाए लेकिन आज भी आंदोलन के किसी भी कार्य के लिए प्रस्तुत रहते हैं। वर्तमान में बड़वानी में ही 'मंथन' अध्ययन केंद्र में शोध कार्य कर रहे हैं। भारत में हो रहे पानी के निजीकरण से पैदा हो रहे संकट और आसन्न विनाश से विचलित रेहमत हमें आज चेता रहे हैं। एक शब्द में कहा जाए तो वे नर्मदा घाटी के ऐसे 'एन्सायक्लोपीडिया' हैं, जिनमें विश्लेषण की क्षमता भी है।

चिखल्दा के बारे में बात करते हुए रेहमत पुरानी यादों में डूब गए। उन्होंने बताया कि सत्तर के दशक में नर्मदा में आई भयानक बाढ़ की वजह से पूरा गांव डूब गया था। तकरीबन सारे घर डूब गए थे। उसके बाद पहले जैसी व्यवस्था नहीं हो पाई एवं (उसी जगह पर) पुनः मकान कभी भी नहीं बन पाए। उस बाढ़ में चिखल्दा के साथ ही साथ कसरावद, पिछौड़ी और खापरखेड़ा भी डूब गया था। तब चिखल्दा जहां आज बसा है वहां खेती होती थी और यह पूरी जमीन निजी थी। इस दौरान डूबे गांव को

पुनः बसाने के लिए पटवारी बाबा ने 10–12 एकड़ जमीन दी। मराठा बाबा के खेत की जमीन भी ली गई। लोगों ने उन्हें पैसे देने का प्रयास किया। बाबा नाराज हो गए बोले गांव का काम है, मुफ्त में लेना है तो लो वरना मैं नहीं दूंगा।

गांव में मस्जिद के पास कमरे बनाने के लिए जब जमीन की बात चली तो रघु के पिताजी ने कहा कि जितनी चाहो ले लो। उनका भी आग्रह था कि मुफ्त में ही लेना पड़ेगी। समाज के लोगों ने कहा कि मस्जिद की जमीन ऐसे ही नहीं ली जा सकती। बहुत आग्रह करने पर 1.75 रुपये (एक रुपये पचहत्तर पैसे) प्रति वर्ग फुट के हिसाब से जमीन बेची। उसी सांस में उन्होंने बताया कि चिखल्दा में मुस्लिम समाज के शब्बीर भाई ने ईदगाह के लिए जमीन दी। लेकिन साल भर बाद ही बदल गए। लेकिन गांव के ही एक ब्राहम्ण नाना भाऊ वकील साहब ने अपनी जमीन दी, जिस पर बाद में ईदगाह बना। गांव के दलित परिवारों को भी जमीनें दी गई। ये बात ज्यादा पुरानी भी नहीं है। महज 10–12 वर्ष पूर्व तक जमीने दी गई हैं।

उपरोक्त घटनाएं सुनकर सहज ही लगने लगता है कि संस्कृति के कितने आयाम हो सकते हैं। विस्थापन के बाद क्या ऐसा संभव हो पाएगा? पीढ़ियों से एकसाथ रहते–रहते जो आत्मीयता की संस्कृति विकसित होती है वह नायाब है और व्यक्ति को निहित स्वार्थों से परे ले जाती है। अपनी जमीन पर पूरे गांव को बसाना और बदले में किसी भी प्रकार के धन को स्वीकार न करना कोई छोटी बात नहीं है। व्यक्तिगत स्वार्थ से परे जाकर और अपने पड़ौस के प्रति इतनी आत्मीयता, अपनापन व सम्मान रख पाना वास्तव में भारतीय ग्रामीण संस्कृति की व्यापकता और वसुधैव कुटुम्बकम के सिद्धांत के साथ ही जियो और जीने दो के सिद्धांत को भी प्रतिपादित करता है। अपने और समाज के बसने के लिए समुदाय शासन की ओर मुंह नहीं देखता था।

अपनी बात को नई दिशा देते हुए रेहमत बताते हैं। सरदार सरोवर बांध की वजह से नर्मदा घाटी से विस्थापित होने के बाद लोग कुछ इस तरह से बसाए गए।

मध्यप्रदेश से मध्यप्रदेश में
मध्यप्रदेश से गुजरात में
महाराष्ट्र से महाराष्ट्र में
महाराष्ट्र से गुजरात में
गुजरात से गुजरात में

गुजरात में हुए पुनर्वास का जिक्र करते हुए वे कहते हैं, वहां सबके साथ बाहरी व्यक्तियों जैसा व्यवहार हुआ है। स्थानीय समुदाय का कहना था कि हमारे यहां चोर, लुटेरे और जंगली लोग आ गए हैं। शायद इसकी एक वजह यह भी थी कि विस्थापित होने वाले अधिकांश आदिवासी ही थे। स्थानीय समुदाय ने उनके साथ एकदम अच्छा

व्यवहार नहीं किया। दूसरी बड़ी समस्या थी भाषा की और तीसरी परम्परा की। विस्थापित समुदाय की बोली अलग थी और चूंकि ये लोग जंगल की खुली व स्वच्छ आबोहवा में रहने के आदी थे, तो वे सभी अत्यन्त विचलित हो गए थे। अंततः वे इतने परेशान हो गए कि थोकबंद मध्यप्रदेश लौट आए। कई बार उन पर चोरी के आरोप भी लगाए गए। खासकर जांगरवा (सोंडलपट्टी) के लोगों ने इन्हें सबसे अधिक भुगता। वैसे भी भिलाला समाज का सामाजिक स्तर कमोवेश ऊंचा होता है, तो उन्हें काफी चोट पहुंची। इतना ही नहीं जब ये लोग सोनीपुर (गुजरात) गए तो वहां भी इनके साथ चोरों जैसा व्यवहार किया गया था। मूलगांव के लोगों ने अपने यहां चोरी होने पर इन लोगों से मारपीट की और इन्हें वहां से भगा दिया।

इसके बावजूद इन लोगों ने आपसी एकता बनाए रखने के भरपूर प्रयत्न किया।ये लोग संख्या में भी ज्यादा नहीं थे। (क्योंकि एक पूरे गांव को एक इकाई की तरह एक जगह नहीं बसाया गया था) इसलिए अपनी परंपराएं भी कायम नहीं रख पाए। दूसरी वजह यह भी थी कि इस इलाके में इन्हें अपनी परंपराओं के प्रति संकोच भी महसूस होने लगा था क्योंकि स्थानीय समुदाय इन्हें अजूबा समझता था। इससे इन्होंने अपने आप को और अधिक समेट लिया। वैसे गुजरात के लोगों के मूल गांव भी डूब में आए थे। लेकिन उनके सामने सामाजिक समस्याएं काफी कम थीं। इनमें से अधिकांश तड़वी थे, जिनकी सामाजिक स्थिति बाकी आदिवासी समुदायों से ऊंची मानी जाती है।

महाराष्ट्र के नंदुरबार जिले में बनी वड़छिल पुनर्वास बस्ती काफी सुंदर बसाहट है। वहां भी विस्थापन के बाद अति की स्थिति बन गई थी। क्योंकि यहां भी स्थानीय समुदाय से कोई संवाद नहीं हो पा रहा था। सरदार सरोवर परियोजना के सभी विस्थापितों को 60x90 यानि 5400 स्के.फीट के प्लॉट दिए गए हैं। कई जगह बस्तियां धीरे–धीरे आकार ले रही हैं। पुराने गांव में बसने के लिए स्थान का चयन (टोपोग्राफी) का बहुत ध्यान रखा जाता था। नई बसाहट में इसका ध्यान नहीं रख जाता है। इस वजह से पहले पानी भी कम खर्च होता था। सभी को नदी से ही पानी लाना पड़ता था। अब पानी को ऊपर खींच कर नलों से पानी दे रहे हैं। इसके बाद पानी की बर्बादी भी बहुत बढ़ गई हैं। नल जल योजना से भी पानी की बर्बादी बढ़ी है।

घूम फिर कर बात पुनः चिखल्दा और वहां के विस्थापन पर आ गई। उनका कहना था कि भविष्य में होने वाले विस्थापन का मानसिक दबाव अभी से सिर चढ़कर बोलने लगा है। उन्होंने बताया कि पिछले मानसून में 15 दिन में दो बार बाढ़ आई। पूरे चिखल्दा में पानी चढ़ता जा रहा था। इस बारे में गांव के लोगों की विचित्र सी प्रतिक्रिया व मानसिकता देखने को मिली और वे बोले कि, सबेरे देखेंगे। लगता है जैसे निराशा सब ओर छा गई है। सभी में अजीब सा ठंडापन देखने को मिलता है। सरदार सरोवर बांध की डूब की बात करो तो अब बुजुर्ग कहने लगे हैं 'नाना जब बनागा तक देखांगा' यानि बेटा, जब बनेगा तब देखेंगे।

यहां का किसान कहीं और जाना ही नहीं चाहता। वैसे निमाड़ की भौगोलिक परिस्थितियां बहुत ज्यादा नहीं बदल रही हैं। लेकिन सबसे ज्यादा असर आदिवासियों पर पड़ रहा है। गुजरात जाने पर ज्यादा अंतर दिखाई पड़ रहा है। वैसे तो लोग नई जगह बसना ही नहीं चाहते। इसका एक दूसरा पहलू यह भी है कि पहले से वहां पर बसे लोग यह मानते हैं कि उनके अवसर छीने जा रहे हैं। यदि चिखल्दा के मुस्लिम समुदाय की बात करें तो यहां ये सभी किसान ही हैं। पारंपरिक व्यवसाय जैसे पिंजारे या रंगारे का होने के बावजूद ये खेती पर स्थानांतरित हो गए हैं।

परम्परा को लेकर भी रेहमत में काफी स्पष्टता है। उनका मानना है कि बदलाव बहुत तेजी से हुआ है। टेलीविजन इसका बड़ा कारण है। गांवों में भी अब शहरी संवाद सुनाई देने लग गए है। घरों के अंदर का वातावरण भी बदल रहा हैं। इसी के साथ संस्कृति के नाम पर कट्टरता भी बढ़ती जा रही है। निमाड़ के पारंपरिक त्यौहारों का स्वरूप भी बदला है। अब नर्मदा जयंती का ही उदाहरण लें। इसके स्वरूप में भी काफी परिवर्तन आया है और यह काफी विस्तारित हो गया है। पहले इस दिन केवल प्रसाद ही बनता और बटता था। भंडारे जैसा खाना नहीं बनता था। अब तो अनेक जगह भंडारे में स्थानीय माफिया और रेत खनन में अनिमितताएं करने वाले इसे दबाने के लिए मंदिर को या भंडारे के लिए बड़ी मात्रा में धन का दान करते हैं।

रेहमत से बात करना अपने आप में रोमांचकारी अनुभव था। उन्होंने परंपराओं को व्याख्यायित करने के साथ ही साथ विस्थापन के डर और बाजारवादी व्यवस्था से बढ़ते व्यवहार से उपजी नई परंपराओं का भी बहुत तल्खी के साथ जिक्र किया था। एक तरह से डूब के समानांतर रेत माफिया और भू माफिया का उदय शांत व सहज निमाड़ में अपराध की संस्कृति को जन्म दे रहा है।

चिखल्दा के अधिकांश निवासी मानते हैं कि उनके पूर्वज राजस्थान से आए थे। वहीं यदि विस्थापन के आधुनिक इतिहास पर निगाह डाले तो समझ में आता है कि विकास आधारित विस्थापन एवं वंचन का भारत में प्राचीन इतिहास रहा है। तीसरी से छठी शताब्दी के मध्य गुप्तकाल के दौरान भी विस्थापन के प्रमाण मिलते हैं। लेकिन अतीत में विस्थापन इतना चुभता नहीं था क्योंकि जनसंख्या का घनत्व कम था और अतिरिक्त भूमि भी उपलब्ध थी। वैसे यह मुगल काल में भी जारी रहा लेकिन औपनिवेशिक काल में इसमें तेजी आई और सन् 1947 में मिली आजादी के बाद तो इसे 'पंख' लग गए।

उजड़ते समुदाय के कुछ त्योहार

वाल्टर फर्नांडिस ने लिखा है ''पुरातन काल से मुगल काल तक सम्राटों और राजाओं द्वारा निर्मित अनेक परियोजनाओं (किलों, महल, तालाब आदि) की वजह से हुए विस्थापन के अनेक प्रमाण मिलते हैं। अठारहवीं शताब्दी में उदयपुर के निकट जयसमंद

झील के निर्माण से काफी संख्या में परिवार विस्थापित हुए थे। औपनिवेशिक काल में इस प्रक्रिया में आई तेजी की वजह यह थी कि उपनिवेशवाद का मुख्य उद्देश्य था यूरोपीय आर्थिक क्रांति के लिए पूंजी और कच्चे माल का सतत प्रवाह बनाए रखना और इसके द्वारा निर्मित माल का बंधक बाजार बनाए रखना। इस प्रक्रिया में ब्रिटिश औपनिवेशकों ने 19वीं शताब्दी के आरंभ में रानीगंज में कोयला खदान शुरु की। कर्नाटक में कॉफी की खेती प्रारंभ की, आसाम में चाय के बागान लगाए, ग्रांड ट्रंक रोड (जीटी रोड) का निर्माण किया। सार्वजनिक कार्य विभाग (पीडब्ल्यूडी) खोला और अनगिनत ऐसे परियोजनाएं प्रारंभ कीं।

अपने इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु आवश्यक था कि औपनिवेशिक शासन आसान भूमि अधिग्रहण सुनिश्चित करे। इस दिशा में उन्होंने कई कदम उठाए थे। इसकी शुरुआत हुई सन् 1793 के स्थायी बंदोबस्त से। इसके बाद और भी कई कानून बने। इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण है ''कलकत्ता अधिनियम'' जो कि नमक के गड्ढों या कुंडों के लिए बना था और ''आसाम भूमि नियम 1837।'' इन कानूनों का लक्ष्य था खनन, चाय बागानों और अन्य परियोजनाओं के लिए कम मूल्य पर भूमि उपलब्ध करवाना। इन सबका चरम था ''भूमि अधिग्रहण अधिनियम 1894।'' इसी कानूनी आधार पर ही भारत नामक इस उपनिवेश को कच्चे माल के आपूर्तिकर्ता में बदल दिया गया था। सरदार सरोवर परियोजना में भी इसी कानून का दुरुपयोग किया गया है।

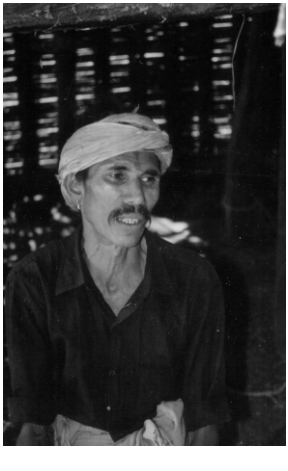
यह तय है कि विस्थापन अर्थव्यवस्था में आए परिवर्तन का परिणाम था, लेकिन भूमि अधिग्रहण अधिनियम ने लोगों को भौतिक रूप से भी विस्थापित किया। इन परिवर्तनों से प्रभावित लोगों की संख्या तो ज्ञात नहीं हो पाई हैं लेकिन दादाभाई नौरोजी (1888) का दावा है कि करीब 3.5 करोड़ लोगों को उनकी आजीविका से वंचित कर दिया। उनका जीवन तहस नहस कर दिया और उन्हें गरीबी में धकेल दिया। इस अनुमान को लेकर आगे और अध्ययन की आवश्यकता है। यह आश्चर्यजनक नहीं है कि विस्थापन और कंगाल बना देने के खिलाफ संघर्ष प्रारंभ हो गए थे और इसका सर्वश्रेष्ठ ज्ञात उदाहरण सन् 1920 में पूना के पास स्थित मुल्शी पेटा संघर्ष है।''

मुल्शीपेटा संघर्ष का जिक्र हम पहले कर भी चुके हैं। लेकिन जब हम पीछे नजर दौड़ाते हैं तो पाते है कि अंग्रेजों ने सन् 1793 में स्थायी बंदोबस्ती की व्यवस्था लागू कर करीब 100 वर्षों के बाद इसे भूमि अधिग्रहण कानून में बदला और इसके करीब 116 वर्ष बाद और आजाद होने के 66 वर्ष पश्चात भी भारतीय गणतंत्र इस कानून को रद्द नहीं कर पाया है और जो परिवर्तन इसमें हुए हैं वे भी मुंह दिखाई जैसे हैं। इसी के साथ जो नया कानून भी प्रस्तावित है। वह कुछ मायनों में इस भूमि अधिग्रहण बेहतर है तो कई मायनों में इससे भी बद्तर है।

बांध विरोधी पहले संघर्ष में मुल्शी के नागरिकों के सामने 'टाटा' उद्योग समूह था और तब भी बांध के सार्वजनिक उद्देश्यों को लेकर सवाल उठाए थे। आजादी

के बाद हीराकुंड दामोदर घाटी, पोंग, भाखड़ा नंगल को लेकर भी ऐसे ही सवाल उठते चले गए। लेकिन सन् 1980 के दशक में 'नर्मदा बचाओ आंदोलन' के अस्तित्व में आने के बाद इस संघर्ष का स्वरूप सिर्फ भावनात्मक तक सीमित न रहकर व्यापक हो गया था और इसके पीछे वैज्ञानिक व समाजशास्त्रीय दोनों ही तर्क थे। नर्मदा बचाओ आंदोलन का स्वरूप स्थानीय से वैश्विक तक विस्तारित था और इसमें कमोवेश सभी की आवाज सुनी गई थी। स्थानीय समुदाय अपनी सांस्कृतिक अस्मिता को लेकर भी बहुत चिंतित था। वह इसका महत्व समझता था और इसे सहेजना चाहता था। चिखल्दा से राजघाट पुल पार कर हम जब नर्मदा बचाओ आंदोलन के बड़वानी स्थित कार्यालय पर पहुंचे तो वहां कैलाश (मास्टर) अवास्या और कमल अवास्या हमारी राह देख रहे थे। कमल अवास्या और नर्मदा बचाओ आंदोलन के कैलाश अवास्या से घाटी के आदिवासियों की संस्कृति और जीवन पर बात करना अत्यन्त ज्ञानवर्धक अनुभव रहा। इन दोनों को विस्थापित गांव व पुनर्वास स्थलों की जानकारियां मुखाग्र हैं। वे अपनी बात बड़वानी के पास सौंदुल पट्टी से शुरु करते हैं और भवति, नंदगांव से महाराष्ट्र में वडछिल, चिखी, वाडी जावदा, सोमावल से गुजरात में खेड़ा, पंचमहाल, बड़ौदा, भडूच, सापा (बड़ौदा) खरगोदरा से पुनः मध्यप्रदेश के अलिराजपुर में जलसिंधी, अंजनवाड़ा से ककराना होते हुए आपको पुनः बड़वानी में नर्मदा बचाओ आंदोलन के कार्यालय में लाकर छोड़ देते हैं।

आदिवासियों की स्थिति को समझाते हुए वे इन्हें मध्यप्रदेश के संदर्भ में भिलाला और भील में विभक्त करते हैं। इसके अलावा नायक व मानकर भी मध्यप्रदेश में निवास करते हैं। इन दोनों को आदिवासी का दर्जा प्राप्त नहीं है। ये अनुसूचित जाति में आते हैं। जबकि मध्यप्रदेश सरकार स्वयं भीमा नायक को एक आदिवासी नायक के रूप में प्रस्तुत करती है। इनके नाम पर बड़वानी में महाविद्यालय भी खोलती है लेकिन जब इस समुदाय को आदिवासी का दर्जा देने की बात आती है तो हाथ पीछे खींच लेती है।



विस्थापित आदिवासी जलसिंधी

महाराष्ट्र में भिलाला तड़वी कहलाते हैं तो गुजरात में राठवा। स्थान विशेष के हिसाब से भिन्नताएं मौजूद हैं तो समानताओं की भी कोई कमी नहीं है। बातचीत के दौरान नर्मदा घाटी में बड़वानी के आसपास के क्षेत्रों में आदिवासियों द्वारा मनाए जाने वाले विशिष्ट त्यौहारों एवं आयोजन पर चर्चा के दौरान कुछ अनूठी जानकारियां सामने आई।

पलासना बोना

यह सोंदूल पट्टी (बड़वानी से निचली ओर) का एक विशिष्ट पर्व है। इसके अंतर्गत जवारा बोने की परंपरा है। वस्तुतः यह बीजों और मौसम की जांचपरख करने का माध्यम भी है। निमाड़ में होली के बाद गणगौर की समाप्ति के पश्चात आदिवासी क्षेत्रों में यह मनाया जाता है। इसमें यह जांचा जाता है किस वर्ष कौन सी फसल अच्छी होगी। लड़कियां टोकनियों में तिल्ली, ज्वार, मक्का आदि के बीज बोती हैं और उनको पानी देती हैं। इसके बाद निरीक्षण किया जाता है कि कौन सा बीज बेहतर ढंग से उगा है। बुआई में उसे प्राथमिकता दी जाती है। यह त्योहार दर्शाता है कि आदिवासी समाज अत्यन्त वैज्ञानिक तरीके से अपनी कृषि का प्रबंधन करता है। गौरतलब है कि पलासना बोने के बाद त्योहारों की संख्या में कमी आ जाती है।

सायला मांगना

यह नई फसल आने पर मनाया जाता है। इसमें लड़के व लड़कियां अलग–अलग समूहों में जाकर अनाज मांगते हैं। गांव भर से अनाज इकट्ठा कर बच्चे उस अनाज को बेचते हैं और अपने शौक पूरे करते है।

ढोढईय्या मांगना (पलासना के ही दिन)

कुंआरे लड़के लड़कियां पलाश के पत्ते सिर पर रखकर (पूरा सिर ढककर) आटा मांगते हैं। एक को ढोढईय्या बनाते हैं। वह सबसे आगे रहता है। इसके बाद दोपहर में कुंए पर जाकर खाना बनाते हैं। लड़कियां अंदाजा लगाती हैं कि पानी कब आएगा। शाम को नर्मदा पर जाकर कुछ लोग दाल–बाटी बनाते हैं। ढोढ्ईय्या बना व्यक्ति सबसे पहले नर्मदा में डुबकी लगाता है। उसके बाद उसे नर्मदा नदी में ही खाना दिया जाता है।

रुकढ्या कूटना

बारिश न आने पर गांव की महिलाएं हाथ में लकड़ी लेकर गाना गाती हैं। इसके बाद गांव के लोगों को डराती हुई रुकढ्या यानि उस स्थान पर जाती हैं जहां गोबर डाला जाता है। गोबर के ढेर को लकड़ियों से जोर–जोर से पीटतीं हैं। ऐसी मान्यता है कि इस ढेर को कूटने से पानी आ जाता है।

इसी क्रम में उन्होंने बताया कि नवरात्रि पर महिलाएं नाचतीं हैं और पुरुष लोग भक्ति करते थे। कैलाश व कमल अवास्या स्थानीय देवताओं व रीति रिवाजों को लेकर हुई चर्चा में उन्होंने कहा कि '**मालन बाबा**' को कृषि का देवता माना जाता है। इनकी रस्सी व लकड़ी से पूजा करते हैं और फिर इसे बैल को चढ़ा देते हैं। कहा जाता है कि मालन बाबा जानवरों की रक्षा भी करते हैं। इन्हें पानी चढ़ाया जाता है। नीचे नितरकर जो पानी आ जाता है उसे जानवरों पर छिड़कते हैं। ऐसी मान्यता है कि इस पानी के छिड़काव से जानवर स्वस्थ रहते हैं। इस पानी को घरों में छिड़का जाता है। इससे घर की सुख समृद्धि बढ़ती है और आनंद बना रहता है।

ऐसे ही एक अन्य देवता है '**खेतरपाला**' इनका स्थान खेत की पाल पर होता है। इन्हें खेतों का रखवाला भी माना जाता है। भोग के रूप में इन्हें खिचड़ा चढ़ाया जाता है। लोग खाने से पहले इनके आगे एक पत्थर रख उस पर खिचड़ा रख देते हैं। दीपावली पर इनके सामने दिया जलाते हैं।

ज्वार की फसल के लिए पले गोफन का प्रयोग भी व्यापक तौर पर होता था। लेकिन अब ज्वार की बुआई में आई कमी से गोफन का प्रयोग भी कम हो गया है। ज्वार के भुट्टे पर कोई आवरण नहीं होता जैसा कि मक्का के भुट्टे व गेहूं पर होता है। अतएव यह पक्षियों के लिए भोजन का सर्वाधिक सुलभ व आसान माध्यम रहा। लेकिन कृषि की नई प्रणालियों के चलते जुआर पर ध्यान कम होता चला गया। वैसे आज भी यह आदिवासियों का सबसे पसंदीदा भोजन है।

चर्चा के दौरान स्थानीय खेलों पर भी चर्चा हुई। यहां पर गिल्ली डंडा, कबड्डी, सुरगेड़ी व गूगरमाल अधिक प्रचलित रहे हैं। कैलाश मास्टर नर्मदा बचाओ आंदोलन के एक पूर्णकालिक कार्यकर्ता हैं। उनका गांव भी डूब में है। शासकीय अध्यापक की अच्छी भली नौकरी छोड़कर वे आज अभाव में गुजर कर रहे हैं। लेकिन अपने काम या उद्देश्य के प्रति उनका समर्पण वास्तव में रोमांचित कर देता है। उनसे मिलकर आगे बढ़ते समय एकाएक भील समुदाय में प्रचलित एक विचित्र सी प्रथा याद हो आई। वे इसे 'डाम देना' कहते है।

डाम देना का शाब्दिक अर्थ होता है दाग देना या जलाना। भील समुदाय में यह परंपरा है कि लड़के के 12 वर्ष का हो जाने पर उसके दाहिने हाथ अथवा दोनों हाथों पर तीन चार स्थानों पर जलते हुए चिन्दे (कपड़े के) रखकर दबा दिए जाते हैं। स्वाभाविक है कि इससे उसे असहनीय पीड़ा होती है। चूंकि भील वनवासी हैं ऐसे में उनका जीवन बहुत आसान नहीं है। दिनरात उनका पाला जंगली जीव जंतुओं से पड़ता रहता है। अतएव बालक का विकास इन्हीं परिस्थितियों के अनुकूल होना चाहिए। इस समुदाय का मानना है कि जलने की पीड़ा सहन कर लेने के बाद बालक छोटी–मोटी चोट, घाव, बीमारी और पीड़ा सहज ही सहन करने लगता है। उनका मानना है कि इससे सिर्फ सहनशक्ति ही नहीं आती बल्कि उग्रता भी आती है, जो

कि जंगल में जीवित रहने की अनिवार्यता है। इसे लेकर वे अनेक प्रकार के तर्क भी देते हैं। लेकिन कैलाश मास्टर की सहनशीलता देखकर लगता है जैसे उन्हें तीन चार जगह नहीं बल्कि न मालूम कितनी जगह दागा गया होगा।

छोटा बरदा : आशीष का गांव

नर्मदा बचाओ आंदोलन के कार्यालय से निकलकर हम सीधे पहुंचे आशीष मंडलोई के गांव छोटा बरदा। आशीष नर्मदा बचाओ आंदोलन के सर्वाधिक सक्रिय कार्यकर्ताओं में से एक थे। 37 वर्ष की उम्र में जब उनकी मृत्यु हुई तब तक वे अपने जीवन के 20 वर्ष निमाड़ और नर्मदा बचाने में दे चुके थे। उनके देहान्त पर वरिष्ठ पत्रकार और नर्मदा बचाओ आंदोलन से शुरुआती दौर से जुड़े राकेश दीवान ने कहा था 'लगातार सिकुड़ती जनआंदोलनकारियों की जमात से आशीष मंडलोई का अचानक विदा होना यूं तो एक बेहद समझदार और समर्पित कार्यकर्ता का अवसान है, लेकिन इस असमय विदाई ने उसके सवालों, उसकी बढ़ती बेचैनी और अकेलेपन को खंगालने, समझने का एक अवसर भी दिया है। यारबाज किस्म का बेहद स्नेही आशीष गाहे बगाहे निजी बातचीत में दोस्तों से अपनी यह बेचैनी बांटता था। निजी और सार्वजनिक किस्म की बातें अक्सर हम सबके सामूहिक संदर्भ नर्मदा बचाओ आंदोलन के इर्द गिर्द घूमती थीं। आखिर हममें से अधिकांश ने नर्मदा बचाओ आंदोलन के अखाड़े में ही प्रतिरोध के कठिन, लेकिन जरुरी सवालों से निपटने के दांवपेंच सीखे थे। इन्हीं चर्चाओं के दौरान मौजूदा हालातों पर आशीष ने कुछ बेहद प्रासंगिक टिप्पणियां की थीं। आशीष की विदाई के बहाने हम सभी को अपने निजी और सार्वजनिक जीवन में इन टिप्पणियों पर गौर करना और जरुरी लगे तो अमल करना चाहिए।'

उसके बारे में मेधा पाटकर ने लिखा था 'किसी काम और क्षेत्र पर मन आ जाने से उसकी गहराई में उतरना आशीष की विशेषता थी। वैसे यह बात काम पर ही नहीं बल्कि रिश्तों पर भी लागू होती थी। आशीष की अपनी उच्च मानी गई जाति भी उभरती चुनौती, अशिक्षित आदिवासियों और ग्रामीण युवकों के समक्ष चुनौती नहीं बनती थी। पहाड़ी आदिवासी के सागवान के अधखुले घर के आंगन में लेटा आशीष आज भी मेरी आंखों के सामने है। अपने ही विचारों की धुन में रह रहे आशीष का यह पहाड़ी तभी नशा उतरता था, जब पुलिस बल वहां पहुंचता था और उसके बाद वह उतारता था पुलिस का नशा।'

आशीष का पहाड़ में रह रहे आदिवासियों के साथ का रिश्ता वास्तव में बेमिसाल है। वह उनकी पूरी संस्कृति को आत्मसात कर चुका था। वहीं निमाड़ के कृषक समुदाय को भी बहुत अच्छे से समझता था। वह एक तरह से आदिवासी और लोक संस्कृति का सेतु था। दोनों को जोड़ने वाला। उसके बिना छोटा बरदा जाना वास्तव में एक त्रासदी ही है। छोटा बरदा (बड़दा) बड़वानी के ठीकरी ब्लाक की अंजड़ तहसील का

हिस्सा है। यह गांव डूब में आने के लिए चिन्हित किया जा चुका है। अब और सिर्फ इंतजार है उस डूब के आने का।

वहां पर हमारी चर्चा दयाराम यादव, भारतभाई झाड़ू, घमंडी भाई, महादेव भाई से हुई। यह एक गैर आदिवासी गांव है। नर्मदा के एकदम किनारे पर स्थित है। ग्रामीण कृषक समाज की परम्पराओं और संस्कृति को समझने का यह एक अच्छा स्थान भी है। रोज चौपाल पर बैठने वाला समाज आज भी यहां मौजूद है। सभी त्योहार मिल जुलकर मनाते हैं। विस्थापन के बाद समूह से पृथक होने से इनकी जीवंतता ही समाप्त हो जाएंगी। इनके मुख्य त्योहार गणगौर और दशहरा हैं। दूसरा बड़ा त्योहार नर्मदा जयंती है। ऐसे में यदि नर्मदा का किनारा ही छूट जाएगा तो फिर इसे कैसे मनाएंगे? अभी तो प्रतिवर्ष इस दिन भंडारा करते हैं। स्थानीय तौर पर बलराम बाबा की बरसी पर भी भंडारा करते है। दीपावली के पहले आने वाली फसलें जैसे मक्का और मूंगफली काट लेने के बाद त्यौहार मनाने का सिलसिला प्रारंभ हो जाता है। यहां दीपावली मूलतः कृषकों का ही त्योहार है। बैलों को खूब सजाया जाता है। खुशी मनाकर पुनः काम पर लौटते हैं। मवेशियों की पूजा होती है साथ ही साथ अनाज के बर्तनों की भी पूजा होती है। दीपावली यहां बनियों का भी त्योहार है।

ऐसा ही अक्षय तृतिया को भी होता है। इस दिन खेती के कार्य का श्रीगणेश होता है। किसान पांच बार बक्खर चलाता है।यह किसानों का मुहुर्त भी है। यह बुआई का त्यौहार है तो दीपावली फसल काटने का। खेती में गुड़ी पढ़वा का भी मुहूर्त होता है।

चैत में मनाया जाने वाला गणगौर तो निमाड़ के सबसे बड़े त्योहारों में है। यह पूरी तरह से सार्वजनिक त्योहार है। ब्याह/शादी भी सभी गांव वालों के सहयोग से हो जाते हैं। जिसके घर शादी होती है वह तो जैसे स्वयं मेहमान हो जाता है। मंडप, गंगापूजन सभी में पूरा गांव शामिल रहता है। पुनर्वास स्थल पर यह सब कैसे संभव होगा? कितने लोग कितने अलग–अलग पुनर्वास स्थलों में बसाए जाएंगे, कहा नहीं जा सकता।

यदि देवी देवताओं की बात करें तो पारंपरिक देवताओं के अलावा हर स्थान से जुड़े स्थानीय देवता भी हैं। यहां हर शुभ कार्य के लिए उन्हीं के पास जाना पड़ता है। जैसे यहां भीलट बाबा हैं। ये ही सबसे पुरातन हैं। दूसरी जगह क्या उनकी इतनी श्रद्धा से आराधना हो पाएगी? उनका कहना था दूसरी जगह जाने के बाद आपसी संबंध भी नहीं रह पाएंगे। घर की दूरी बढ़ने से दिलों की दूरी भी बढ़ जाती है। आने वाली दो पीढ़ियों तक ठीक से मेल नहीं हो पाएगा।

बरदा ग्राम के हनुमान मंदिर के नाम की 8 एकड़ जमीन है। पुजारी परिवार का गुजारा इसी पर होता है। इसी तरह 10 एकड़ जमीन राम मंदिर के नाम पर है। दोनों मंदिरों के पुजारी अलग–अलग हैं। ये गांव की अपनी व्यवस्था है। दोनों मंदिरों की जमीनें गांव के लोगों ने दी हैं और अब यह कलेक्टर के नाम हो गई। अजीब बात है कि गांव की जमीन के मुआवजे का हकदार कलेक्टर बन गया।

निमाड़ की सामाजिक (कृषि) संरचना देखें तो यहां तीन प्रमुख समुदाय हैं, यादव, पाटीदार और धनगर। इनमें से यादव व पाटीदार कृषक समुदाय हैं। वहीं धनगर मुख्यतया दूध बेचने और पशुपालन का काम करते हैं। बड़वानी में यादव भी अब दूध का व्यवसाय करने लगे हैं।

गाय से जुड़ी प्रथा : उजाली करना

यहां गाय के जनने (बच्चा देने) के बाद दूध उजाली करते हैं। यह विधि अलग–अलग गोत्र के हिसाब से सम्पन्न कराई जाती है। सामान्यतया अमावस के बाद यानि शुक्ल पक्ष की नवमी या चौदस को यह कार्यक्रम होता है। इसकी एक वजह संभवतः यह है कि तब तक बछड़े को ही सारा दूध मिले। इस दिन कुल देवी की पूजा की जाती है। नर्मदा में नहाकर उसी गीले वस्त्र में महिला खीर पकाती है। इसके बाद उसी महिला को हाथ से पिसा आटा दिया जाता है जिससे एक दिया बनाया जाता है और उसे बत्ती लगाकर जलाते हैं। जब तक वह बत्ती बुझ नहीं जाती तब तक उस दिए को नीचे जमीन पर नहीं रखा जाता। इस दिन बनी खीर सिर्फ घर के लोग ही खाते हैं। बची हुई खीर और दूध नर्मदा जी में डाल दिया जाता है। कुछ लोग इसे अपने घरों में भी गाड़ देते हैं। यह मुख्यतया यादव समाज की परंपरा है और पाटीदार समाज में ऐसा नहीं होता। वहीं दूसरी ओर पाटीदार समाज नागपंचमी नहीं मनाता।

यहां यह मान्यता भी विद्यमान है कि सन् 1969 की बाढ़ में निसरपुर में इनकी कुलदेवी का टिपारा (स्थान) भी बाढ़ के साथ ही साथ ऊपर उठता गया था। मगर आधुनिक विकास की बाढ़ के आगे तो अब इनकी कुलदेवी भी शायद हार जाएं। अभी तक बांध प्रभावितों के सामुहिक संघर्ष ने इन गांवों को डूब में आने से रोक रखा है। मगर सिर्फ जलाशय का आंशिक भराव ही संस्कृति को कितना नुकसान पहुंचा सकती है यह यहां आकर महसूस किया जा सकता है। बहती नर्मदा आज तालाब बन चुकी है और इसी ठहरे पानी की तरह यहां इसके किनारे रहने वाला समुदाय भी ठहर व ठिठक सा गया है।

बिना डूब के डूबी संस्कृति

बिना विस्थापित हुए ही कोई बांध संस्कृति को कितना बर्बाद कर सकता है इसका उदाहरण है पिपलदा गांव। एकलबारा पंचायत का यह छोटा सा गांव धार जिले के मनावर ब्लाक एवं तहसील में आता है। इस गांव में कुल परिवार 225 रहते हैं और यहां की जनसंख्या 2000 है।

इस गांव में पहुंचते ही हमें मंदिर ले जाया गया। धीरे–धीरे वहां काफी सारे लागे इकट्ठा होने लगे।यह एक समृद्ध गांव प्रतीत होता है क्योंकि मकानों का आकार काफी बड़ा है। नर्मदा के एकदम किनारे बसा यह पूरा गांव ही डूब में आ रहा है। यहां पर

हमारी मुलाकात शिवनाथ सिंह तोमर, मनोज सिंह तोमर, नरेंद्र सिंह तोमर, मानसिंह तोमर, ज्ञानसिंह, रणजीत सिंह पंवार, कालूसिंह तोमर, जगदीश सिंह ध्यान सिंह मंडलोई आदि से हुई। इस दौरान रेहमत भी साथ थे। उनकी छोटी सी बिटिया सारा सभी के आकर्षण का केंद्र थी। लेकिन उसके आकर्षण का केंद्र थीं, मंदिर के सामने वाली सड़क पर फुदकती ढेर सारी गौरैयांएं। बहुत दिनों बाद इतनी सारी गौरैयांएं एक साथ दिखाई दे रहीं थीं।

सभी लोगों का एक स्वर में कहना था कि वे यहां से जाना ही नहीं चाहते। हमें 60x90 फिट का प्लॉट दिया है। पुनर्वास बस्ती में हमारे घर अलग–अलग हो जाएंगे। फिर घरों में चोरी होगी। अभी तो गांव की महिलाएं कार्तिक मास में सुबह 5 बजे नर्मदाजी में स्नान कर बागनाथ मंदिर (बागेश्वर महादेव) में पूजा करने जाती हैं। यह एक ऐतिहासिक मंदिर है जहां 25 गांव के लोग आते हैं। प्रत्येक अमावस व पूनम पर यहां छोटा सा मेला लग जाता है। इस मंदिर का उल्लेख नर्मदा पुराण में भी आता है। चूंकि ये मंदिर ऊंचाई पर है इसलिए डूब में नहीं आएगा लेकिन आसपास के सभी गांव तो डूब में आ जाएंगे। इस मंदिर को ग्वालियर स्टेट ने 48 बीघा यानि करीब 9 हेक्टेयर जमीन दी है। साथ ही राममंदिर के नाम पर 15 बीघा एवं नर्मदा मंदिर के खाते 38 बीघा जमीन है। इन्हीं जमीनों पर पुनर्वास स्थल बना दिए गए। राम मंदिर की जमीन पुजारी के नाम थी तो मुआवजा भी उसे ही दे दिया गया। नर्मदा मंदिर के व्यवस्थापक के रूप में कलेक्टर का नाम चढ़ा था तो उसे ही मालिक मान लिया गया। बागनाथ का मंदिर टापू बन जाएगा उस तक पहुंच मार्ग का धन भी कलेक्टर के ही पास है।

सन् 69–70 की बाढ़ में तो ये गांव की पूरा डूब गया था। डूब का पत्थर पहले नीचे लगा था अब इसे ऊपर ले आए हैं। यहां पर पशोपेश की स्थिति भी बनी हुई है। नर्मदा परियोजनाओं की निगरानी के लिए दो संस्थान जिम्मेदार हैं। एक है केंद्र सरकार का नर्मदा नियंत्रण प्राधिकरण (Narmada Control Authority, NCA) और दूसरा मध्यप्रदेश सरकार का नर्मदा घाटी विकास प्राधिकरण (Narmada Vally Development Autority, NVDA)। इसमें से एन.सी.ए. का कहना है कि गांव डूब में आ रहा है वही एनवीडीए का अब यह कहना है कि गांव डूब में नहीं है। ऐसे में किसी की समझ में नहीं आ रहा है कि भविष्य में क्या होगा।

यदि त्यौहारों की बात करें तो दशहरा यहां का खास त्योहार है। इस दिन सामुहिक तौर पर शमी के वृक्ष का पूजन होता है। दीपावली के दिन गांव के ढोरों को एक साथ चरनोई की जमीन पर ले जाया जाता है। मकर संक्रांति पर बहन, बेटियां पिता के घर आती हैं।

नए स्थान पर जाने के विषय पर कहना है कि वहां तो सबकुछ ही बदल जाएगा। नई जगह न तो चरनोई की व्यवस्था है और न ही श्मशान घाट की। एकलबारा के

पुनर्वास हेतु दो पुनर्वास स्थल बनाए गए हैं। इनकी दूरी वर्तमान गांव से करीब 3 किलोमीटर है। यह स्थल एकलबारा का कांकड़ है। दूसरा 1.5 किलोमीटर की दूरी पर करौली में स्थित है। 90 प्रतिशत लोगों को वहीं बसाया गया है। करौली से खेतों की दूरी करीब 7 किलोमीटर बैठती है। किसानों का कहना है सारी फसल तो चोर ही खा जाते हैं। वहां अब ओंकारेश्वर बांध (सड़क मार्ग से करीब 125 किलोमीटर दूर) से नहर लाई जा रही है जबकि नर्मदा महज 5 किलोमीटर की दूरी पर है। लेकिन वहां से सीधी सिंचाई की व्यवस्था न करके सैकड़ों कि.मी. की नहरें बनाई जा रही हैं।

यहां फसल आदि का कोई विशिष्ट त्योहार नहीं है। यहां की मुख्य फसलें हैं गेहूं, सोयाबीन, कपास, गन्ना, मक्का, जुआर (ज्वार) पपीता, अलसी (अब नहीं होती)। सारी कृषि भूमि सिंचित है और यहां सन् 1985–86 से ही सिंचाई प्रारंभ हो गई थी।

मुआवजे के बारे में पूछने पर लोगों का कहना है कि मंदिरों को मकान मानकर मुआवजा दिया जा रहा है। इन मंदिरों में हनुमान मंदिर की 16 बीघा जमीन है, जागनाथ मंदिर की 11 बीघा, शंकर मंदिर की 6 बीघा (कैलाश गिर गोस्वामी) चौथा मंदिर है दुर्गा मंदिर। यह करीब 15 वर्ष पुराना मंदिर है। जिसे व्यक्तिगत रूप से ध्यानसिंह मोतीसिंह ने बनवाया था। उन्होंने मंदिर का मुआवजा नहीं लिया। इस पर कलेक्टर के नाम मुआवजा आबंटित हो गया। गांव के लोगों का कहना है कि व्यक्तिगत संपत्ति का मुआवजा कलेक्टर कैसे ले सकता है? पुनर्वास स्थल पर अभी तो केवल भूखंड ही आवंटित किए गए हैं।

पुनर्वास स्थल की समस्याओं पर इनका कहना था कि वहां जाने के रास्ते पर नाला पड़ता है लेकिन उस पर पुल का प्रावधान ही नहीं हैं। उसमें कम से कम तीन महीने पानी रहता है। उसी रास्ते से खेत भी जाना पड़ता है। इस तरह तो हम लोग कैद हो जाएंगे।एकलबारा राजपूत (तोमर) बहुल गांव हैं, यहां अधिकांशतः किसान ही हैं। राजपूतों के अलावा, पाटीदार, गोस्वामी (महंत), जायसवाल (कलौता) धनगर व विश्वकर्मा रहते हैं। विश्वकर्मा लकड़ी (बढ़ई) का काम करते हैं। इनके पास थोड़ी जमीने भी हैं जिन पर कि वे काश्तकारी भी करते हैं। गांव के अधिकांश हरिजन परिवार (35) गुजरात चले गए हैं। वैसे वे वहां रहना नहीं चाहते। अपनी जमीनें लीज पर देकर यहां मजदूरी करने वापस लौट आते हैं और अपने पुराने मकानों में रहते हैं। मानकर समुदाय की स्थिति ठीक नहीं है उनकी हैसियत तो हरिजनों जैसी है। लेकिन सरकारी तौर पर उन्हें अन्य पिछड़ा वर्ग में गिना जाता हैं। इनमें से अधिकांश पुनर्वास स्थलों पर रहने चले गए है। क्योंकि वे भूमिहीन थे अतएव उनके पास विकल्प भी नहीं था। काम करने वे गांव में ही आते हैं। एकलबारा में आदिवासियों के बारह घर हैं। इनमें से दो ने मुआवजा ले लिया है। इन्हें पांच–पांच लाख रुपए मुआवजा मिला।

एकलबारा का इतिहास –

यहां के लोगों का मानना है कि उनके पूर्वज सन् 1236 ईस्वी में मांडव से यहां आए। इससे पहले ये लोग दिल्ली में थे। माना जाता है कि तोमर समुदाय अनंगपाल तंवर का वंशज है। स्थानीय निवासी शिवनाथ सिंह तोमर का कहना है कि ग्वालियर स्टेट ने इनके पुरखों को 40 गांव की जागीर दी थी। इसमें से 12 एकलबारा में एवं 28 बड़ा बरदा में हैं। इन लोगों ने 50 वर्ष तक मांडू सुल्तान के यहां भी नौकरी की। विस्तार से पूछने पर उन्होंने बताया कि पानसा (हलोल) गुजरात निवासी चीनू भाई पिता देवीसिंह बारोठ इनके भाट हैं, ने इतिहास बताया है। इनका कहना है कि पृथ्वीराज चौहान ने अपने भानजे अनंगपाल को गोद लिया था। बाद में पृथ्वीराज की अपनी संतान हो जाने से विवाद हुआ। हम सब अनंगपाल के वंशज हैं जो कि विवाद के बाद मांडव आ गए थे।

ये लोग मूलतः शाकाहारी हैं, लेकिन इन्हें मांसाहार से भी परहेज नहीं है। रीति रिवाजों के बारे में पूछने पर इन्होंने बताया कि इनकी कुलदेवी का नाम चूढूबाई माता है और उनका मंदिर बड़ा बरदा से नीचे की ओर उरदना में स्थित है। इस मंदिर का उल्लेख नर्मदापुराण में भी आता है। इसका निर्माण राजा ब्रहमदत्त ने करवाया था। कहते हैं यज्ञ के बाद उसने ब्राह्मणों को उनके वजन के बराबर का सोना दिया था। ये लोग अपने बच्चों का मुंडन रामनवमी के दिन इसी मंदिर में करते है। पूरा गांव वहां जाता है लड़के के मुंडन में बकरे की बली देते हैं। ये मंदिर भी डूब में आ रहा है लेकिन वे नया मंदिर उसी स्थान पर ही बना रहे हैं। इनका यह भी कहना है कि मध्यप्रदेश पुरातत्व विभाग केवल विद्यमान स्थापत्यों को ही मान्य कर रहा है। न तो खुदाई कर रहा है और न ही जमीन में नीचे गढ़े को मान्यता प्रदान कर रहा है। इस समाज (तंवर/सोलंकी) के अधिकांश लोग खंडवा, सनावद, धार में ही रहते हैं। इनकी अधिकांश रिश्तेदारी यानि शादी ब्याह महाराष्ट्र, खंडवा और खरगोन में होते हैं।

पुनश्चः पुनर्वास के बारे में पूछने पर उनका कहना है कि इससे हम सब बिछड़ जाएंगे। ओकारेश्वर बांध (पुनासा) का जिक्र करते हुए उन्होंने बताया कि चार भाइयों को 50–50 किलोमीटर दूर बसाया गया है। बिखराव से दूरी तो बढ़ती है और संबंधों में भी गरमाहट कम होती है। करीब 900 वर्षों से इस क्षेत्र में रह रहे इस समुदाय की चिंताएं दोहरी स्थापनाओं से बढ़ती जा रही हैं। भविष्य के प्रति बढ़ती अनिश्चितता कहीं न कहीं इन्हें अवसाद में डालती जा रही है। यह इलाका नर्मदा घाटी के सबसे उपजाऊ क्षेत्रों में से है। चर्चा के दौरान यह बात तो स्पष्ट हो गई थी कि यह इलाका राजपूत राजाओं ने इन्हें दिया है। लेकिन इससे पहले यह किसके आधिपत्य में रहा होगा या फिर सामूहिक मिल्कियत का था? हमें उम्मीद थी कि संभवतः इसी पंचायत के अगले किसी गांव में शायद कोई सूत्र हाथ आ सके।

नशे से लूटा : नशे में लुटाया

मजरा भी एकलवारा पंचायत का छोटा गांव है। यहां हमारी मुलाकात देवेंद्र भाई तोमर से हुई। वे नर्मदा बचाओ आंदोलन के अति सक्रिय कार्यकर्ताओं में से हैं। उन्होंने अपने समुदाय एवं निमाड़ व नर्मदा घाटी की बसाहट को लेकर काफी रोचक जानकारियां दीं।

उनका मानना है कि देश में केवल दो वर्ग (जातियां) ही भूस्वामी हैं पहला राजपूत एवं दूसरा आदिवासी। इसके अलावा जिस किसी के पास भी आज भूमि दिखाई पड़ रही है वह उपरोक्त दोनों जातियों से ही प्राप्त की गई है। राजपूत पुराने राजा महाराजा रहे हैं। वैसे निमाड़ के इस क्षेत्र में अन्य पिछड़ा वर्ग के अनेक समुदाय भी निवास करते हैं। इसमें से धार में सिरवी एवं पाटीदारों की बहुतायत है। वहीं बड़वानी में मारु, अहीर (यादव) की। ये खेती करते हैं। इसके अलावा अहीर (भारूढ़) एवं अहीर (धनगर) भी हैं जो दोनों पशुपालन खासकर भैंस पालने का कार्य करते हैं। उपरोक्त सभी को राजपूतों ने यहां लाकर बसाया और बटाई में खेती भी दी। राजपूत नशे के आदी थे। इसका फायदा उठाकर इन लोगों ने राजपूतों से शराब के नशे में जमीने अपने नाम करवा लीं।

इसी के समानांतर वे एक अन्य अतिरोचक वृतांत सुनाते हुए कहते हैं कि ये इलाका मूलतः आदिवासी इलाका था। यहां भील रहा करते थे। उनका राजा था गांगा भील। इसके नाम से यहां एक गांव भी है गांगली। यह स्थान एकलबारा से 5 किलोमीटर पश्चिम में है। जब शुरुआत में राजपूत यहां आए थे तो यहां गांगा से उनका सामना हुआ। इन लोगों ने उसकी तरफ दोस्ती का हाथ बढ़ाया। उसकी शक्ति को देखते हुए तो यह संभव ही नहीं था कि टकराव से भूमि हथियाई जा सके। उसका जबरदस्त आतंक (जैसा कि राजपूतों का मानना है) इस क्षेत्र में था। अतएव उससे दोस्ती कर उसे शराब का आदी बनाया और उसका खात्मा कर इस क्षेत्र को हथिया लिया। वे कहते हैं कि नर्मदा घाटी में जितनी परियोजनाएं जैसे कि बरगी, इंदिरा. सागर, ओंकारेश्वर व महेश्वर यानि पूरी घाटी में ही कमोवेश राजपूतों का आधिपत्य रहा है। ओंकारेश्वर परियोजना क्षेत्र में मांधता जो कि आदिवासी थे, ओंकारेश्वर के राजा थे। महेश्वर परियोजना क्षेत्र में राजपूतों के अलावा पाटीदार व गुर्जर भी बड़ी संख्या में हैं।

उनका कहना है कि राजपूतों की रियायत वाली सोच अब सियासत में बदल गई है तथा हम लोग कितने ही धनी हो जाएं लेकिन हमारी पहचान हमारे स्थायित्व से ही है। जमीन है तो जागीरदारी है और जागीरदारी की कोई जाति नहीं होती। जो समाज पिछले 850 सालों से एक साथ रह रहा है, विस्थापन से वह बिखर जाएगा। वे बताते हैं कि एकलबारा मंडल के 7 गांव पेरखड़, सेमलदा, अछौदा, एकलबारा, कवठी, गांगली और गोपालपुरा के करीब 2000 परिवार विस्थापित हो जाएंगे। केवल 5 गांव के लोग ही बचेंगे।

त्योहारों एवं रीति रिवाजों पर बातचीत में उन्होंने बताया कि राजपूत समाज का सबसे बड़ा त्यौहार रामनवमी को ही होता है। उस दिन कुलदेवी के पूजन की शुरुआत बकरे की बली से होती है। इसका खून कान पर लगाने के बाद ही नाक/कान छेदन, मुंडन आदि का कार्य होता है। पूजा का कार्य ऐसी किसी महिला के द्वारा ही कराया जाता है जिसका विवाह रसज्वला होने पूर्व (बाल विवाह) हो गया हो। वैसे ग्राम उदरना में अष्टमी से पूजा प्रारंभ हो जाती है और छप्पन भोग बनाए जाते हैं। इसी दिन से सारे काम रोक दिए जाते हैं। अखंड जोत जला दी जाती है। यह तब तक जलती रहती है जब तक कि पूजा की प्रक्रिया पूरी न हो जाए। इसके जलते रहने तक सारे काम बंद ही रहते हैं। राजपूतों के इन गांवों को दो हिस्सों, बड़ा बरदा 28 एवं एकलबारा 12 गांवों में बांटा गया है। इसकी वजह यह है कि बड़े भाई को ज्यादा एवं छोटे को कम गांव दिए गए थे।

इनके कुल में महिलाओं द्वारा नीली चूड़िया (जैतनी) ही पहनी जाती हैं। इनमें लाल चूड़ी एवं पूजा में पीला वस्त्र नहीं पहना जाता क्योंकि इनकी कुल देवी जिस रंग के वस्त्र पहनती हैं उस रंग के वस्त्र साधारण स्त्रियां नहीं पहन सकतीं। राजपूतों के 36 कुलों के नाम अलग–अलग देवियों पर ही हैं। इनमें सगोत्र विवाह नहीं होता।

अन्य त्योहारों में दोनों नवरात्र (चैत्र एवं कार्तिक) मनाए जाते हैं। चैत्री नवरात्र में चार दिन की गणगौर बैठती है। श्रावण मास की अमावस्या को जिरौती एवं इसी मास नागपंचमी भी जोर शोर से मनाते हैं। उनका कहना है कि वैसे तो निमाड़ में पूरे वर्ष ही त्योहार मनाए जाते हैं।



गणगौर

देवेन्द्र भाई ने हमें बताया था कि किस तरह गांगा भील को शराब पिलाकर राजपूतों ने उससे इलाका छीना और इसी क्रम को दोहराते हुए अंग्रेजों द्वारा राजपूतों से उनकी जमीने हथिया ली गईं। गौरतलब है सखाराम गणेश देउस्कर ने सन् 1906 में प्रकाशित पुस्तक 'देश की बात' में लिखा है, कि 'अफीम के किसानों को केवल रुपये देकर ही सरकार चुप नहीं कर सकती। देश के युवकों में जिसमें अफीम खाने की आदत बढ़ जाए इसके लिए भी वह अत्यंत नीच उपायों से काम करती है।' वहां के पूर्व सरकारी कमिश्नर हाइण्ड का कहना है 'एजेंट द्वारा बहलाकर अफीम का प्रचार बंगाल में बढ़ाने की खूब कोशिश की गई थी और जिससे बंगाल के युवकों को अफीम खाने की आदत पड़ जाए, उसकी भी अच्छी चेष्टा की गई थी।' हाइण्ड का कहना था कि इसके लिए गांव–गांव में अफीम की दुकानें खोली गई। फिर गांव के युवकों को बिना मूल्य अफीम बांटने का बंदोबस्त किया गया। अंततः ग्राम के होनहार बालक अफीमची बनकर पशु से भी अद्यम हो गए।

इसके बाद शराब का मामला आता है। वे लिखते हैं 'जो शराब पहले 'अपेय' और 'अस्पृश्यं' थी, आज उसी के स्त्रोत में समाज बहा जाता है। सर सिसिल बिडन ने विलायत में जो बात कही थी, उससे मालूम होता है कि अफीम के समान शराब का प्रचार बढ़ाने के लिए अत्यंत निंदनीय उपाय का अवलंबन किया गया था। हर साल यदि शराब की बिक्री न बढ़ा सके तो बंगाल के कलेक्टरों और डिप्टी कलेक्टरों को खुलेआम सरकार से फटकार सुननी पड़ती थी। ऐसा ही पंजाब में भी किया गया था।

लेकिन इसी दौरान (तकरीबन सन् 1874 ईस्वी) पंजाब के तत्कालीन छोटे लाट सर माकलियड कहते हैं 'नरबदा (नर्मदा) के निकटवर्ती प्रदेश में ऐसे बहुत से जिले जानता हूं, जो हमारे शराब के ठेकेदारों के कारण एकदम उजाड़ हो गए हैं। भोले–भाले आदमियों को फुसलाकर उन्हें एकदम भ्रष्ट करने के उद्देश्य से वे लोग (ठेकेदार) चारों ओर आदमी भेजा करते थे। इस प्रकार कर्ज के कारण घरद्वार सब बिक जाने पर हजारों आदमियों के दल देश छोड़–छोड़ कर भाग गए।' इसी क्रम में वे आगे लिखते है, ''अब भी आबकारी विभाग की आमदनी बढ़ाने के उद्देश्य से सरकार भारतीय समाज को चरित्र भ्रष्ट करने की चेष्टा करने में कुछ भी उठा नहीं रखती है। सरकारी रिपोर्टों के देखने से मालूम होता है कि हर साल मादक द्रव्य की बिक्री बढ़ती ही जा रही है।''

एक शताब्दी से ज्यादा समय बीत जाने और भारत के उपनिवेशवाद से आजाद होकर अपनी आजादी के 66 बरस पूरा कर लेने के बाद भी जैसे लगता है कि जैसे जो ऊपर बताया गया है, वह हमारा भी आज है, वर्तमान है। मध्यप्रदेश व अन्य राज्य सरकारों की आबकारी नीति कमोवेश इसी प्रकार चल रही है। हर वर्ष शराब की नई दुकाने खुलती हैं और शराब के ठेकों की नीलामी राशि में होने वाली वृद्धि का खूब प्रचार किया जाता है। शराब के सामाजिक, आर्थिक व स्वास्थ्य पर पड़ने वाले दुष्परिणामों की ओर से सरकार ने आंख मूंद ली है। निमाड़ के मैदानी इलाके में नर्मदा

घाटी नदी का प्रवाह तो थम गया है, लेकिन शराब की तो जैसे नदियां बह रही हैं। सड़क किनारे बने ढाबों में प्लास्टिक की हरी जाली के केबिनों में बैठे युवा दिन रात शराब पीते मिलेंगे। ढाबे वाले की किसी ऐसे व्यक्ति को खाने खिलाने में कोई रुचि नहीं होती जो कि उनसे शराब न खरीदे। वैध–अवैध शराब की इन नदियों को पार करते और शराब के कारण निमाड़ में हुए भूस्वामित्व परिवर्तन पर विमर्श करते हुए हम बड़वानी जिले के एक गांव पिपलूद पहुंचे।

बैल कमाए घोड़ा खाए

पिपलूद बड़वानी जिले का एक पुरातन गांव है। नर्मदा पुराण में भी इसका उल्लेख आता है। पिपलाज ऋषि ने यहां तपस्या की थी इसीलिए इसका नाम पिपलूद पड़ा। अपनी बसाहट में यह एक अनूठा गांव है जो कि गोलाकार बसा है और पूरे गांव को एक ही सड़क जोड़ती है। अंधेरा होने के बाद इस गांव में कोई भी अपनी गाड़ी का हार्न नहीं बजाता। गांव में कुल 80 घर हैं। जिनमें से 40 यादवों के हैं। 10 परिवार पुनर्वास स्थल पर चले गए हैं जो कि अधिकांशतः अनुसूचित जाति के लोगों के हैं। कुछ परिवार मछुआरों के भी हैं लेकिन मछली मारने के लिए तो उन्हें यही आना पड़ता है। इस गांव में रात या कहें तो सुबह 3 बजे बिजली आती है और सबेरे होते–होते चली भी जाती है।

हम जब वहां पहुंचे तो धुंधलका हो रहा था। गांव में घुसते ही बरगद के पेड़ के नीचे बना पक्का चौपाल मिला। हम वहीं बैठे। सामने जमीन पर एक पत्थर गढ़ा हुआ था जिस पर सिंदूर आदि लगा हुआ था। पूछने पर पता चला कि यह गांव की सीमा का पत्थर है और जो भी निवासी गांव में प्रवेश करता है वह इसके प्रति सम्मान प्रकट करके ही अंदर प्रविष्ट होता है। गांव में सभी कुछ मिलजुल कर सामुदायिक भावना से होता है। लेकिन इनका कहना है कि पुनर्वास स्थल पर ऐसा हो पाना संभव ही नहीं है। वहां तो हमारा पड़ौस ही बदल जाएगा। एक दूसरे को पूछने वाला कोई नहीं होगा।

अभी जबकि ये लोग विस्थापित नहीं हुए हैं तब भी सभी को तकलीफों का सामना करना पड़ रहा है। यहां तकरीबन सभी लोग मवेशी पालते हैं। किनारों पर गाद जमा होने से अब जानवरों तक को पानी ठीक से नहीं मिल पाता। गाद में फंसकर अनेक जानवरों की मृत्यु हो चुकी है। पहले कभी गांव वालों का पाला मच्छरों और पतंगों से नहीं पड़ा था। अब तो परेशान हो उठे हैं। शाम होते ही इतने कीड़े (सफेद रंग) के आ जाते हैं कि कुछ खा पी नहीं सकते। इसलिए दिन ढलने के पहले ही खाना खा लेना पड़ता है। मवेशियों के साथ ही साथ मनुष्यों की भी ऐसी स्थिति हो गई हैं कि अब तो पीने का पानी भी ठीक नहीं मिलता। नदी से लाने के 5 घंटे के भीतर उससे बदबू आने लगती है। यदि गांव में किसी की मृत्यु हो गई हो तो अस्थि विसर्जन के बाद गाद की वजह से नर्मदा जी में स्नान भी नहीं कर सकते हैं।

यहीं हमारी मुलाकात लक्ष्मी बहन से हुई। उन्होंने फेरकुआं आंदोलन में यानि 25 दिसम्बर 1990 से 30 जनवरी 1991 तक भागीदारी की थी। उनका कहना है यहां के वातावरण से तारतम्य बैठाने में उन्हें 12 साल लगे थे। अब नई जगह क्या वह संभव हो पाएगा? वे बोली ; रुके हुए पानी से बहुत खुजली होती है। पुनर्वास स्थल पर मनमानी चल रही है और सरकारी सोच ही काम कर रही है। वहां आपसी प्रेम समाप्त हो जाएगा। हमारे दादा के लड़के पुनर्वास स्थल गए थे। परेशान होकर लौट आए। शादी ब्याह में रिश्तेदार तक नहीं पहुंचते थे। नई जगह सब अपना–अपना सोचते हैं। यहां तो पुरखों के हाथ से बने मकान हैं। सागवान की लकड़ी के, इन्हें छोड़कर कहां जाएं? वार त्योहार रीति रिवाज के बारे में पूछने पर लोगों ने बताया कि यहां के यादव समाज के लोग दूध नहीं बेचते। स्वयं को कृष्ण से जोड़ने वाला यह समाज दूध के अलावा छाछ, दही, कंडे तक नहीं बेचता। केवल घी बेचते हैं। इनका यह भी कहना है कि खेती के देशी बीज तक खतम हो गए हैं। गांव में दो मंदिर हैं, नृसिंह मंदिर और राम मंदिर। नृसिंह मंदिर को बगुद वालों ने 5.2 एकड़ निजी भूमि दे रखी है। मंदिर तो डूब में आ रहे हैं लेकिन जमीन डूब में नहीं आ रही है।

यहां अन्य त्यौहारों के अलावा नर्मदा जयंती न माना पाने के आसन्न दुख से यहां के लोग सबसे ज्यादा द्रवित हैं। इनका कहना है कि यह गांव नर्मदा परिक्रमा के क्षेत्र में बाहर हो जाएगा। परिक्रमा करने वालों को दी जाने वाली भेंट यहां 'सदाव्रत' कहलाती है। एक तरह से परिक्रमा करने वालों को भोजन की जिम्मेदारी इस गांव ने ले रखी है, जिसको सबकी ओर से दयाराम पटेल और रमेश यादव (दुर्गा मंदिर वाले) निभाते हैं। जैसे ही गांव में 'नर्मदे हर' की आवाज सुनाई देती है वैसे ही सूखा खाना (बिना बनी सामग्री) लेकर लोग पहुंच जाते हैं। यदि कोई वृद्ध होता है तो उसे पका खाना दिया जाता है। फलाहार करने वालों को भी भोजन कराया जाता है। इसका आर्थिक खर्च वाले गांव मिलजुल कर करते हैं। 'नर्मदे हर' वाले इस सदाव्रत में अन्न के अलावा नमक, अगरबत्ती, घी और दूध भी मिल जाता है। इसी के साथ पंचक्रोशी यात्रा के समय इसी गांव में भंडारा होता है। इसमें 1500 से 2000 तक लोग आते हैं। वे इसी गांव में रुकते हैं और सुबह की चाय से जब तक भी वे यहां ठहरना चाहते हैं तब तक उनके भोजन की व्यवस्था पिपलूद गांव ही करता है।

सरदार सरोवर बांध जलाशय में पानी के रोके जाने का प्रभाव यहां तक दिखने लगा है। नर्मदा अब बारिश के अलावा बहती नहीं दिखती।यह पूछने पर कि बांध का फायदा तो सभी को होगा। दयाराम पटेल ने एक पंक्ति का जवाब देते हुए कहा 'बैल कमाए घोड़ा खा जाए।' पिपलूद में बातचीत में काफी समय हो चला था। अंधेरे की वजह से अब आगे कहीं और जाना भी संभव नहीं था। वैसे पास ही में पुनर्वास बस्ती थी, लेकिन वहां भी बिजली नहीं थीं। हम वापस बड़वानी लौट आए।

पिपलूद में नर्मदा परिक्रमा का वहां के लोगों ने कई बार उल्लेख किया था। सहसा याद आया कि मार्केण्डेय ऋषि को नर्मदा का अधिष्ठाता संत माना जाता है।

जब वह पृथ्वी पर थे तभी उन्होंने नर्मदा के उद्‌गम से अरब सागर में उसके विलीन होने वाले स्थल और पुनः उदगम पर लौटने के लिए पहली बार नर्मदा परिक्रमा की थी। यह परम्परा तब से बदस्तूर जारी है। कहते हैं कि मार्कण्डेय ऋषि ने सिर्फ नर्मदा नदी का चक्कर नहीं लगाया बल्कि उन्होंने उसके दोनों तटों और इसकी सहायक नदियों की भी परिक्रमा की थी। उन्होंने यह यात्रा तीन वर्ष, तीन माह और तेरह दिनों में पूर्ण की थी। आजकल जो लोग भ्रमण करते हैं वे सहायक नदियों की ओर नहीं जाते। वैसे कुल पांच प्रकार की नर्मदा परिक्रमाएं प्रचलन में रही हैं, दण्डवत परिक्रमा – इसमें दण्डवत या भूमि नमस्कार करते हुए परिक्रमा की जाती है। **जलहरी परिक्रमा** में एक ही तट पर आना–जाना और पुनः लौटना किया जाता है। इसमें कुल 5120 किलोमीटर की मात्रा की जाती है, लेकिन समुद्र नहीं लांघा जाता। हनुमन्त परिक्रमा के अन्तर्गत हनुमान जी की तरह की जाने वाले परिक्रमा में नर्मदा के दोनो तटों पर भ्रमण किया जाता है। सर्वप्रचलित सामान्य परिक्रमा के अन्तर्गत दोनों तटों पर कुल 2560 किलोमीटर की दूरी तय की जाती है। अंत में मार्कण्डेय परिक्रमा! यह सबसे कठिन परिक्रमा है तथा इसके अंतर्गत सहायक नदियों की भी परिक्रमा की जाती है। इस परिक्रमा को पूरा करने में करीब बारह वर्ष लगते है। परंतु दूसरी ओर नर्मदा के जलाशय में परिवर्तित हो जाने के परिणामस्वरूप झरने की तरह प्रवाहमय यात्रा भी बाधित हो गई है।

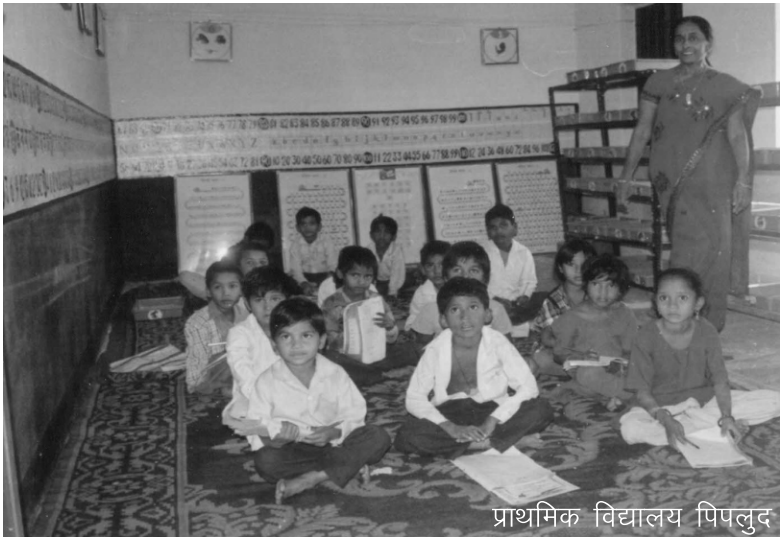
नर्मदा नदी के बारे में निमाड़ी संस्कृति के पुरोधा पद्‌मश्री रामनारायण उपाध्याय लिखते हैं 'नर्मदा का अर्थ है नर्म यानि आनंद, दा याने देने वाली। यह इतनी पवित्र मानी गई है कि गंगा भी वर्ष में एक बार इसमें स्नान करने आती है। इसका आभास एक लोकगीत में मिलता है जिसमें कहा गया है कि गंगा और यमुना दोनों सगी बहने हैं। दोनों मिलकर स्नान करने जा रही हैं। वैसे वह (नर्मदा) कुंआरी नदी के नाम से प्रसिद्ध है। लेकिन अपने किनारे बसने वाली लाखों लाख जनता की सुख एवं समृद्धि के लिए इसने विंध्य के ऊंचे शिखरों से युक्त एक वृषभ कन्ध वाले बांध की भुजाओं में बंधना स्वीकार कर लिया। कहते हैं इसमें उसे वरुण की तरह तेजस्वी बेटे और विद्युत की तरह सुंदर कन्याएं प्राप्त होगी जिससे कि यहां का जनजीवन समृद्धि और प्रकाश से जगमगा सके।' इस बांध के साथ संबंध बनाने से नर्मदा क्या दे पाई यह तो अतीत में समा गया है। लेकिन आधुनिक सरदार सरोवर बांध भी तो वरुण (जल) और विद्युत (बिजली) प्रदान करने के लिए ही बना है। लेकिन इसका परिणाम इस घाटी की मिट्‌टी, पानी पर ही नहीं पड़ा बल्कि पूरी सांस्कृतिक विरासत पर पड़ा है।

अगले दिन हम पिपलूद पुनर्वास बस्ती पहुंचे। वहां एक प्राथमिक विद्यालय संचालित हो रहा था। यहां सुरेश डॉवर सहायक शिक्षक हैं। वे स्वयं भिलाला समुदाय से आते हैं।यह विद्यालय शासकीय प्राथमिक विद्यालय खेड़ी कहलाता है और बड़वानी तहसील जिले की भभूत पंचायत का हिस्सा है। यहां पर कुल 48 बच्चे पढ़ने आते हैं। जिनमें से 90 प्रतिशत बच्चे विस्थापितों के हैं, जो आज भी किसी बाहरी व्यक्ति को

देख भयभीत हो जाते हैं। दूरी के बावजूद (3 कि.मी.) बच्चे नियमित तौर पर विद्यालय आते हैं। यहां पढ़ने वाले अधिकांश बच्चे भील एवं हरिजनों के हैं। पुनर्वास स्थल के आसपास रोजगार न होने से इनके पालकों को बाहर काम करने जाना पड़ता है। नजदीकी गाँव भभूत और गढ़ी भी डूब में आ गए हैं। नर्मदा किनारा होने के बावजूद यहां पानी की जबरदस्त समस्या है। मध्यान्ह भोजन तक के लिए पानी की समस्या हो जाती है। इस साल तो जुलाई से ही बोर (नलकूप) में पानी की किल्लत हो गई है।

भील और भिलाला के बीच तुलना करते हुए वे कहते हैं कि भिलाला ज्यादा बेहतर व्यवहार करते हैं। भील शराब अधिक पीते हैं। भिलाला निमाड़ में घुलमिल गए हैं। वैसे ये दोनों ही मिक्सड (मिश्रित) बोली याने भीली और निमाड़ी मिलाकर ही बोलते हैं। वार त्यौहार की बात करने पर उनका कहना था कुछ बरस पहले तक हम लोग कलेण्डर के हिसाब से त्योहार नहीं मनाते थे। मेरे दादा शिक्षित नहीं थे लेकिन पहले पूरा गांव एक साथ बैठकर तय करता था कि दीपावली कब मनाई जाएगी। तारीख निश्चित की जाती थी। सब कुछ त्यौहार के हिसाब से चलता था। अलग–अलग दिनों में त्यौहार मनाया जाता था।

यहां भील लोग रक्षाबंधन 'नवई' याने नई फसल आने पर ही मनाते हैं। बहनें भाइयों के घर आकर राखी बांधती हैं। गांवों में आज भी नवई मनाने का दिन तय किया जाता है। सामान्यतया इसे अगस्त सितम्बर में मनाते हैं। इस दौरान घरों की साफ सफाई करते हैं। शराब भी त्योहार के हिसाब से पी जाती है। इस दिन बच्चों को भी शराब पिलाते हैं। भगोरिया के बारे में पूछने पर उन्होंने बताया कि पहाड़ों पर भगोरिया अधिक मनाया जाता है। भगवान को क्या चढ़ाते हैं? तो उनका कहना था कि सभी भगवानों को पूरी व भजिए ही खिलाए जाते हैं।



प्राथमिक विद्यालय पिपलुद

बच्चों से ही बदलाव संभव है

यहीं हमारी भेंट रामानंद जी से हुई। वे पहले रामकृष्ण मिशन के साथ काम करते थे। अब उससे अलग हो गए हैं। उनका कहना है कि आदिवासी व ग्रामीण समाज के उत्थान का पूरा दारोमदार शिक्षा के प्रसार पर है। अतएव आवश्यकता है कि सर्वप्रथम शिक्षा पर ही कार्य किया जाए। बिना इसके बुनियादी ढांचा मजबूत नहीं हो सकता। उनका मानना है कि आंदोलन तो हुए लेकिन उससे बदलाव नहीं आया। बच्चों को बुलाएं, उन्हें साथ बैठाएं और प्रेम से ढालें और फिर मोड़ें। बदलाव तभी संभव है जब हर घर के बच्चे को साथ लिया जाएगा। इसके लिए पूरे देश में अलग से मेहनत करना आवश्यक है। विस्थापन और संस्कृति पर बात करने पर उन्होंने कहा कि इससे संस्कृति लुप्त हो जाती है। विस्थापन के बाद हमने और दूसरों में कोई फर्क नहीं रह जाएगा। जैसे हम देख रहे हैं कि बड़वानी नगर और पुनर्वास बस्ती की मानसिकता और बसाहट दोनों में कोई अंतर ही दिखाई नहीं देता है। देश तो नैतिक गतिविधियों से बनते हैं। मुआवजा तो केवल पैसे और जमीन ही दे सकता है। वह वातावरण तो नहीं दे सकता।

रामानंद जी ने सन्यास के बावजूद बच्चों के बीच काम करने का निश्चय किया है। इसी बीच हम बच्चों के विद्यालय में पुनः पहुंचे। अब तक बच्चे मध्यान्ह भोजन कर चुके थे। वहां हमारी बातचीत तीन बच्चों से हुई। ये थे पांचवीं में पढ़ने वाले राहुल, लक्ष्मण जाधव एवं चौथी में पढ़ने वाले विशाल संतोष भारी एवं आकाश लोभराम। आकाश के पिता मछुआरे हैं और बाकी दोनों के पिता छुट्टी मजदूरी करते हैं। इनमें से कुछ खेड़ी के हैं और अब इन्हें हरन्याबेड़ा नामक नए गांव में बसाया गया है। बेड़ा का अर्थ होता है पहाड़। बच्चों का कहना था, पुराने गांव में नदी थी, वहां तैरने जाते थे, मछली पकड़ते थे, खेलने कूदने की जगह भी थी और गांव में ढेर सारे पेड़ थे जिनसे इमली, बेर आदि खाने को मिलते थे। वहां हनुमान जी का मंदिर था, उसमें भी खेलते थे। गर्मियों में भी बाहर खेल सकते थे। अब नई जगह पर मंदिर भी नहीं है, पेड़ पौधे भी नहीं हैं। गर्मी में घर के अंदर ही बैठना पड़ता है।

बच्चों का कहना है कि कुछ का घर वहां (पुराने गांव में) बड़ा था और कुछ का यहां (पुनर्वास स्थल में) बड़ा है। पिपलूद के बच्चे अधिक विचलित नजर आते हैं क्योंकि उनका घर/गांव अभी डूबा नहीं है। खेड़ी डूब गया है इसलिए बच्चे वहां जा नहीं पाते। वैसे गर्मियों की छुट्टियों में जब पानी कम हो जाता है तब वहां जाते हैं। लड़कियां भी बता रहीं थीं कि उन्हें भी पुराने गांव में ज्यादा अच्छा लगता था। वहां वे संझा माता बनाती थीं। यहां तो उस तरह के मकान ही नहीं हैं। पांचवी में पढ़ रही रोशनी विनोद बैरागी को अभी भी संझा गीत याद हैं। उसका साथ देने वाली रीना पिता हीरालाल एवं आशा पिता कैलाश को अपने उपनाम याद नहीं हैं। जैसे ही उनसे कुछ सुनाने को कहो तो वे फिल्मी गाने और फिल्मी भजन सुनाने लगती हैं। थोड़ा

आग्रह करने पर वे झिझकते हुए संझा व अन्य पारंपरिक गीत सुनाना शुरु करती हैं और धीरे–धीरे उन्हें उसमें रस आने लगता है और वे पूरी तल्लीनता से सुनाने लगती हैं। उनके चेहरे देखकर महसूस होता है कि जैसे उन्हें कोई अपनी खोई हुई चीज वापस मिल गई हो। वैसे इस बीच बच्चे थोड़ा मुखर हो गए थे। उन्होंने बताया कि गर्मी की छुट्टियों में पुराने गांव में नहाने जरुर जाते हैं। लेकिन अब उनमें से केवल दो बच्चों को ही तैरना आता है। जबकि गांव में रह रहे उनकी उम्र के कमोवेश सभी बच्चों को नदी में तैरना आता है।

बच्चों से मिलकर हम पिपलूद की पुनर्वास बस्ती खेड़ी बसाहट में पहुंचे। यह भी बड़वानी तहसील/जिले में ही आती है। यहां हमारी भेंट राधेश्याम पिता रामा आर्य, सौदान पिता गोविंद आर्य सहित अनेक लोगों से हुई।यहां इस समाज के करीब 21 परिवार आकर बसे हैं। ये लोग हरिजन हैं और बलाई समाज से आते हैं। सभी लोग मजदूरी ही करते हैं। गांव में भी ये लोग भूमिहीन ही थे। करीब 10–11 वर्ष पहले आए इन लोगों को 60x90 फीट का एक भूखंड मिला और मकान बनाने के लिए 72000 रु. भी मिले।

अधिकांश लोगों को पैतृक गांव के बजाय यहां अच्छा लग रहा है। इसकी एक वजह है तकरीबन सभी के पास बड़ा भूखंड होना। वैसे कुछ के पास वहां ज्यादा जमीन थी। उनका कहना था कि यदि तुलना करें तो यहां गर्मी बहुत ज्यादा है, साथ ही साथ पानी की भी बहुत दिक्कत है। नई बसाहट में मंदिर नहीं है। उनके भगवान वहीं रह गए। जिसके नाम पर समुदाय एक था उसके न होने से बिखराव तो आ ही रहा है। पानी लाने में आधा दिन लगने से महिलाएं बहुत परेशान हैं। यहां इन्हें एक साथ बसाया गया है। मूल गांव (पिपलूद) में अब केवल तीन परिवार ही रह गए हैं। उन्हें या तो मुआवजा नहीं मिला या बहुत कम मिला है। इनका कहना था कि हो सकता है कि बड़े लोगों ने उन्हें आने ही नहीं दिया हो। वहां तो अनाज के अलावा 30 रु. रोज मजदूरी मिलती है, ऐसे में कौन वहां रह सकता है?

यह पूछने पर कि क्या वे वापस मूल गांव लौटना चाहते हैं तो उनका जवाब था कि अब वे वापस नहीं लौटना चाहते क्योंकि गांव में हमारी स्थिति बंधुआ मजदूर जैसी थी। वहां भेदभाव और छुआछूत मानते थे। पानी भी ऊपर से पिलाते थे। गांव में यादव सबसे ज्यादा छुआछूत रखते हैं। हमको बहुत ज्यादा दबाव में रखते हैं। साथ ही लगातार गाली गलौज भी करते हैं। यहां विद्यालय में एकदम छुआछूत नहीं हैं। सब बच्चे साथ में खाते हैं। बड़वानी में किसी भी बच्चे को शिक्षा का अधिकार के अंतर्गत प्रवेश नहीं मिला है। रोजगार गारंटी कानून में भी पिछले दो वर्षों से काम नहीं मिला है। शिक्षा की स्थिति को जहां पहले से बेहतर बनाते हैं। वहीं स्वास्थ्य के लिए उन्हें अभी भी बड़वानी (17 कि.मी.) जाना पड़ता है।

सबकी भाषा अब एक सी हो गई है और सभी निमाड़ी बोलते हैं। मंदिर न होने से वहां की पूजा छोड़ होली दीपावली जैसे सभी त्योहार मनाते हैं। इनका खास त्योहार कार्तिक पूर्णिमा (दीपावली) को आता है जब वे 'रासबाबा' के मंदिर में पूजा करते हैं। वे उन्हें ओंकार महाराज भी पुकारते हैं। विस्थापन से पड़े सामाजिक बदलाव का यह एकमात्र अच्छा उदाहरण था।

खेड़ी बसाहट, जिला बड़वानी

खेड़ी बसाहट, बड़वानी जिला मुख्यालय से करीब 15 किलोमीटर की दूरी पर है। इस बसाहट में खेड़ी, बगूद, पिपलूद एवं देहला गांव के विस्थापित आकर बसे हैं। जिला मुख्यालय से महज 15 किलोमीटर की दूरी के बावजूद इस बसाहट की दुर्दशा अकल्पनीय है। यहां हमारी मुलाकात जुआनसिंह से हुई जो कि यहां के सरपंच हैं। इसके अलावा बातचीत में राजाराम, सीताराम नसिया, दगन और मंगूबाई से चर्चा हुई। इनमें से छगन को विकलांग पेंशन मिलती है।

जुआन सिंह का कहना था कि यहां इस बसाहट में आने वाले अधिकांश भूमिहीन आदिवासी एवं दलित समुदाय के हैं। विस्थापन के पूर्व किसानों के खेतों में मजदूरी करते थे और अभी भी मजदूरी ही करते हैं। अब पिपलूद व बड़वानी में खेती में मजदूरी के अलावा मकान बनाने के काम में भी मजदूरी करने लगे हैं। यहां आए हुए इन्हें 8–9 साल हो गए हैं। सभी को नकद मुआवजा मिला था। नया घर बनाने के लिए 5 हजार रु. यातायात व्यय एवं 80000 रु. कुल मुआवजा मिला। गांव के लोगों को यहां एक साथ बसाया गया है। राजाराम का कहना था कि मुआवजा एक सा नहीं मिला। सभी को उनके पुराने मकान के आधार पर मिला था। यह 15–20–25 हजार से लेकर अधिकतम 80000 रु. तक था। हम सबने खुद मजदूरी करके मकान बनाए हैं। चूंकि ज्यादातर विस्थापित मजदूर वर्ग के हैं इसलिए यदि पुराने स्थान पर रहते तो पैसे खत्म हो जाते। इसलिए जितनी जल्दी हो सके हम सबने मकान बना लिए।

मकान बना लेने के बाद भी ये लोग यहां संतुष्ट नहीं हैं। उनका कहना था कि वहां की तो बात ही कुछ और थी। नर्मदा मैया बगल में थी। पानी की स्थिति भी अच्छी थी। वैसे भी गांव अभी डूब में नहीं आया है। ऐसे में किसान तो वहीं पर ही रह रहे हैं। दलित परिवारों का यह अवश्य मानना है कि पुनर्वास स्थल पर शिक्षा की स्थिति पहले से काफी बेहतर है। भील समाज अभी भी भीली ही बोल रहा है और दलित समुदाय की भाषा निमाड़ी है। अन्य मामलों में उनका कहना है कि पेड़–पौधे न होने से यहां गर्मी बहुत ज्यादा है। मूल गांव में पेड़ पौधे बहुत थे। जबकि यहां पीने के पानी की बहुत दिक्कत हैं और पानी लाने में बहुत समय जाता है। पास के खेत में मोटर चल रही हो तो वहां से पानी भर कर लाना पड़ता है। बसाहट के ट्यूबवेल में तो पानी ही नहीं है।

यह पूछने पर कि गांव में तो डूब नहीं आई तो वापस नहीं जाना चाहते? इस पर उन सबका कहना था अब यहां इतना पैसा लगाकर मकान बना लिया है इसलिए वापस भी नहीं जा सकते। यदि सब लोग एक साथ वापस जाने को तैयार हो जाएं तो वापस जा सकते हैं। इस बसाहट के आसपास रोजगार उपलब्ध न होने से भी लोगों को काफी परेशानी है। उनका कहना है कि सरकार को गरीबों के लिए कुछ तो करना ही चाहिए।

खेड़ी बसाहट से लौटते हुए निमाड़ की पथरीली और उपजाऊ दोनों प्रकार की जमीनें समानांतर दिखाई दे रही थीं। कहीं पत्थरों से अटी छोटी पहाड़ियां थीं तो कहीं काली उपजाऊ मिट्टी। खेतों के अलावा अन्यत्र हरियाली कम ही दिखाई दे रही थी। भूगर्भशास्त्रियों का मत है कि नर्मदा के अस्तित्व में आने के पूर्व विंध्य और सतपुड़ा का निर्माण हो चुका था। नर्मदा नदी के दोनों ओर स्थित पर्वतों को संभवतः सृष्टि के आदिपर्वत कहा जा सकता है। हिमालय का निर्माण इन दोनों पर्वतों के अस्तित्व में आने के बहुत बाद में हुआ है। मालवा व निमाड़ के सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डॉ. वी.एस. वाकणकर ने लिखा है, 'किसी समय निमाड़ का सम्पूर्ण प्रदेश आद्य (पुरातन) भूमध्य सागर के जल से ढंका था। उसी दौरान ओंकारेश्वर के बालुकाश्म का निर्माण हुआ। यह विंध्यशैली का है और इसमें जीव सृष्टि का सर्वथा अभाव है। कुछ करोड़ वर्ष बीतने पर इस मध्य सागर में जीव सृष्टि का विकास हुआ तथा बाग, जीरावद क्षेत्र में जीवाश्मों अर्थात सीप, घोंघे कांटेदार प्राणी आदि से भरा पत्थर तैयार हुआ। यह बाग शैली नाम से विख्यात है। किसी भूस्थित्यंतर (भूमि के स्थान परिवर्तन) के कारण विंध्य पर्वत का जन्म हुआ, जिस समय विंध्य बालुकाश्म ऊपर उठा, यहां का जलस्तर उत्तर की ओर चला गया तथा उसी समय ऊपर उठने से निर्मित दरारों से जो लावा निकला उससे मालवा का पठार बना।' कहीं न कहीं इसी घटना में नर्मदा और निमाड़ की धरती के जन्म की आदि या भौगोलीय गाथा छिपी है।

मध्यप्रदेश पुरातत्व विभाग ने बांध की डूब में आने वाले कुछ स्मारकों और मूर्तियों को पुर्नस्थापित किया है। करीब 10 वर्ष पूर्व ऐसा एक स्मारक देखा था। तब उस पर कार्य चल ही रहा था। अब तक तो वह पूरा हो गया होगा। यह सोचकर आगे बढ़े।

पुरातत्वीय सामग्री की साज–संभाल

इंदौर से खलघाट और वहां से धरमपुरी के पास स्थित पीपल्यागढ़ी से आगे 'निमाला फाटा' से आगे जाकर पहाड़ पर कुछ मूर्तियों एवं अधूरे से मंदिर को पुनर्स्थापित किया गया है। इन्हें डूब क्षेत्र से लाकर यहां रखा गया है। इन्हें जिस तरह से यहां स्थापित किया गया है उसे देखकर कोई नहीं कह सकता कि मध्यप्रदेश के पुरातत्व विभाग में किसी भी प्रकार की विशेषज्ञता, कल्पनाशक्ति या तकनीकी कौशल पाया जाता है। ये स्थल बहुत ही बुरी स्थिति में हैं। यहां का कोई पहुंच मार्ग ही नहीं है। मूर्तियों को

बिना किसी खूबसूरती के सीमेंट की दीवारों में चुन दिया गया है। इसके आसपास बड़ी–बड़ी झाड़ियां उग आई हैं। मुख्य सड़क पर इन तक पहुंचने हेतु कोई बोर्ड नहीं है। इतना ही नहीं स्थल पर लिखे बोर्ड भी जंग खा चुके हैं।

वहीं दूसरी ओर नर्मदा नदी के आसपास के इलाके को रेत खदान ठेकेदार बुरी तरह से खोदे डाल रहे हैं। कुछेक ने तो इस हेतु मशीनें भी स्थापित कर ली हैं। नदी के दोनों ओर के तट कमोवेश छलनी हो चुके हैं। कहा जाता है कि नदी किनारे की रेत नदी के लिए फेफड़े का काम करती है। लेकिन यहां तो फेफड़े ही नष्ट किए जा रहे हैं। ऐसे में नदी किस प्रकार बच पाएगी? इतना ही नहीं बड़े पैमाने पर हो रहे अवैध रेत उत्खनन से आसपास के इलाकों को भी खतरा उत्पन्न हो गया है। यह सबकुछ इस वजह से संभव हो पा रहा है क्योंकि कागजों पर तो ये इलाका डूब में आ रहा है। ऐसे में जो कुछ भी निकाल सकते हैं उसे निकालने के वैध–अवैध दोनों ही प्रयास सतत् जारी हैं। इसके पश्चात हम धरमपुरी से आगे स्थित बाकानेर से करीब 10 किलोमीटर अंदर की ओर बड़ा बरदा गांव पहुंचे। वहां पास ही स्थित एक पहाड़ी के नीचे डूब में आए एक पुराने मंदिर को नर्मदा के किनारे से उठाकर पुर्नस्थापित किया गया है। स्थानीय लोग इसे शंकर मंदिर के नाम से पुकारते हैं। करीब 10 वर्ष पूर्व जब पहली बार इस मंदिर को देखा था तब इसकी मौलिकता बची हुई थी और यह अपने मूल स्वरूप में ही था। लेकिन अब काले पत्थर के इस पुरातत्वीय महत्व के मंदिर को बहुत भद्दे तरीके से रंगीन आइल पेंट से पोत दिया गया है। इसके आसपास के क्षेत्र की साफ सफाई का भी कोई ख्याल नहीं रखा जा रहा हैं इतना ही नहीं इस महत्वपूर्ण मंदिर तक पहुंचने के लिए संकेत नहीं लगाए गए हैं तथा स्थल पर किसी भी तरह की कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। इस अत्यंत निम्न गुणवता के कार्य एवं रखरखाव के अभाव ने मुंह में जैसे किरकिरी सी ला दी थी। लगातार यह महसूस हो रहा था कि लापरवाही का चरम यदि कहीं है तो उसे नर्मदा घाटी में महसूस किया व देखा जा सकता है।

विंध्य के पर्वत जहां एक ओर सृष्टि के निर्माण में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं वहीं दूसरी ओर साहित्य में भी इसका अनूठा योगदान है। गुणाढ्य की बड़कहा (वृहतकथा) कथा सरित्सागर को विश्वकथा साहित्य की एक अनूठी पुस्तक माना जाता है। यह पुस्तक प्राकृत भाषा में लिखी गई है। इसके बारे में राधावल्लभ त्रिपाठी लिखते हैं, 'रामायण और महाभारत को छोड़कर वृहतकथा संस्कृत साहित्य को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला ग्रंथ है और गुणाढ्य को इस परंपरा ने वाल्मिकी के समान ही आदरणीय माना है। गुणाढ्य दक्षिण में गोदावरी के तट पर बसे प्रतिष्ठानपुर के आंध्र राजा सातवाहन के समकालीन थे। पुराणों के अनुसार राजा सातवाहन का समय 495 ई.पू. से 490 ई.पू. है, वहीं आधुनिक इतिहासकार सातवाहन व शालिवाहन को एक मानकर गुणाढ्य का समय 78 ईस्वी के आसपास का मानते हैं। लेकिन इसकी विशेषता यहीं तक सीमित नहीं है, उनके अनुसार वास्तव में कथा सरित्सागर विश्व कथा साहित्य

को भारत की अनूठी देन है। इसमें अलिफ लैला की कहानियों में से अनेक का मूल रूप खोजा जा सकता है। यही नहीं कथा सरित्सागर के माध्यम से यह भी जाना जा सकता है कि गुणाढ्य के कथाग्रंथ में ईसप की नीति कथाओं, विश्व के अनेक देशों में प्रचलित मूर्खों की कहानियां, यात्रा विषयक कथाओं और परीकथाओं के बीज विद्यमान थे।' अर्थात एक तरह से कथा सरित्सागर कहानियों का आदि ग्रंथ है और इसकी रचना विंध्या व सतपुड़ा के जंगलों से ही शुरु हुई थी। इसकी शुरुआती गाथा है,

'पार्वती ने देखा आज शिव प्रसन्न हैं। बहुत हंस हंस कर बोल रहे हैं। तो फिर उन्होंने वहीं अनुरोध दोहरा दिया हमें कोई सुंदर–सी कथा सुना दीजिए। शिव अंततः उन्हें वृहतकथाएं सुनाते हैं। कथा सुन पार्वती तृप्त हुई और उन्होंने अपनी सखी जया विजया से कहा कि मैं तुम्हें ऐसी कहानी सुनाती हूं जो आज तक किसी ने न सुनी होगी और वे वृहत्कथा सुनाने लगीं। जया ने उन्हें टोक कर कहा कि देवी यह कथा तो उन्होंने सुनी हुई है और वे आगे की कथा सुनाने लगीं। पार्वती क्रोधित हो शिव के पास पहुंची। शिव ने आरोप नकार दिये। इस पर जया के पति पुष्पदंत जिसने उसे कहानी सुनाई थी, को बुलाया गया। उसने स्वीकार किया कि उसने छिपकर कहानी सुनी। पार्वती क्रोधित हो गई। इस पर पुष्पदंत के मित्र माल्यवान ने साहस कर पार्वती से क्षमादान की प्रार्थना की। लेकिन वे और क्रुद्ध हो गई और उन्होंने दोनों को मनुष्य योनि में जाने का श्राप दे दिया।

पति को श्राप मिलने का सुनकर जया भी दौड़ी आई। तीनों ने मिलकर दया की भीख मांगी। आखिर पार्वती द्रवित हुई और शॉपमुक्ति का उपाय बताते हुए उन्होंने कहा 'सुप्रतीक नाम का एक यक्ष शापग्रस्त होकर काणभूति के नाम से ''विंध्य'' के वन में पिशाच बन कर रहता है। सुनो पुष्पदंत, जब मनुष्य योनि में तुम उसे यही कथा सुना दोगे तो तुम्हारी शापमुक्ति हो जाएगी। यह माल्यवान उस काणभूति से यह कथा सुनकर मनुष्य योनि में इसका प्रचार करेगा, तब इसकी मुक्ति होगी।' इसके बाद वे दोनों मनुष्य योनि में जा गिरे। समय बीतता गया। अपने प्रिय सेवकों को मृत्युलोक भेजने की आज्ञा पार्वती को कचोट रही थी। एक दिन उन्होंने भगवान शिव से पूछा कि वे दोनों कब कैलाश पर्वत लौटेंगे।

शिव मुस्कराए और कहा, पहले तो शाप दे दिया अब करुणा से द्रवित हो रही हैं, पर हमें अच्छा लगा। धरती पर जाकर पुष्पदंत तो बहुत बड़ा व्यक्ति बन गया है। पार्वती ने पूछा 'क्या बन गया है वहां?

वह देखो, शिव ने धरती की ओर बहुत नीचे दिखाते हुए कहा, उस व्यक्ति को देख रही हो?

वहां विंध्य के वन में? कौन है वह?

वह पुष्पदंत है। वह पाटलिपुत्र के राजा नंद का मंत्री वररुचि बन गया है और वह शापग्रस्त यक्ष के पास तुम्हारी प्रिय कथाएं सुनाने जा रहा है। वह वररुचि कात्यायन के नाम से भी जाना जाता है और व्याकरण का पंडित बन गया है।

वररुचि के मुंह से वृहत्कथा सुनकर पिशाच योनि में विंध्य के बीहड़ में रहने वाला यक्ष काणभूति श्राप मुक्त हुआ।

वृहत्कथा या कथा सरित्सागर में करीब 49 कहानियां संकलित हैं। वैसे महाकवि सोमदेव ने बाद में अन्य कई कथानक इसमें जोड़ दिए थे। परंतु विंध्य के पर्वतों में रची गई ये कथाएं आज सारी दुनिया के कथा साहित्य की जननी मानी जाती हैं। इसके बरस्क आज हम जो इस इस घाटी के डूबने की कहानी लिख रहे हैं। क्या वह पहली बार किसी ''आदि'' के 'अंत'' की गाथा होगी?

बहरहाल विंध्य के साथ–साथ चलती हैं सतपुड़ा की पर्वत श्रृंखलाएं। सतपुड़ा यानि कि सातपुड़ा। पुड़ का अर्थ होता है तह, परत या तल वाला पर्वत। सतपुड़ा की सात उपत्यकाय (उप श्रृंखलाएं) भी हैं। इसकी पर्वत श्रृंखलाएं अलग–अलग ऊंचाईयों वाली हैं और पूर्व से पश्चिम की ओर फैली हुई हैं। हम सब सप्त आकाश या सातवें आसमान की बात करते हैं। जो कि शायद सिर्फ कल्पनालोक में ही अस्तित्वमान है। वहीं दूसरी ओर ये सप्ततलीय सतपुड़ा पर्वत हमारे सामने ठोस रूप में एक प्रतीक की तरह खड़ा है। मगर हम इस ठोस स्वरूप को कल्पना में बदल देना चाहते हैं, बिना यह जाने बूझे कि इसके प्रत्येक तल में कितनी विविधता बसी हुई है।

पुनर्वास तो धोखा है

विंध्य और सतपुड़ा की सांस्कृतिक व साहित्यिक विरासत को विचारते हम बड़वानी जिला मुख्यालय से करीब 8 किलोमीटर की दूरी पर स्थित नर्मदा के तट पर स्थित गांव पिछौड़ी पहुंचे। जब हम दूसरे छोर यानि खापरखेड़ा पर खड़े थे तो कमल ने वहां से पिछौड़ी गांव दिखाया था। तब वहां बहुत थोड़े से लोग चहलकदमी करते दिख रहे थे। आज शाम हम इसी गांव में थे। पिछौड़ी सोंडल पट्टी का पहला गांव है। इस गांव में करीब 768 परिवार रहते हैं। इसमें से 90 प्रतिशत से अधिक भिलाला आदिवासी हैं। इसके अलावा यहां कहार, मछुआरे, मानकर, यादव/धनगर व हरिजन भी निवास करते हैं। पुनर्वास योजना के तहत इन परिवारों को 9 अलग–अलग स्थानों पर बसाया जाएगा। इसी से यह सिद्ध हो जाता है कि पुनर्वास नीति में जो एक गांव को एक इकाई मानकर बसाने की बात कहीं गई थी वह कितनी झूठी है। उसका क्रियान्वयन व अनुपालन हो ही नहीं रहा है। यहां के 18 परिवारों को खलघाट के पास नयागांव में जमीन दी जा रही हैं। उस स्थान पर चरनोई के लिए भूमि, जंगल और पहाड़ नहीं है। साथ ही पानी भी उपलब्ध नहीं है।

इस गांव में मछुआरों/कहारों के करीब 20 परिवार निवास करते हैं। शाम हो जाने की वजह से पुरुष वर्ग अपनी पूरी तरन्नुम में थे और महिलाएं ही ठीक से बात कर रहीं थीं । उनका कहना था कि उनकी समस्याएं भी कमोवेश उनके ठीक सामने नदी पर स्थित चिखल्दा जैसी ही थी। फर्क सिर्फ इतना था कि ये लोग केवट समुदाय

से नहीं हैं यानि व्यावसायिक तौर पर नांव चलाने का काम नहीं करते। केवल मछली पकड़ने एवं बेचने का कार्य करते हैं।

इस गांव में एक सामान्य विचार यह उभर कर आया कि इस क्षेत्र के निवासी सामुहिकता में रहने के आदी हैं। वे मात्र 5–10 परिवारों को एक साथ बसाने को बहुत गंभीरता से ले रहे हैं। सभी का मानना था कि जहां शहरी समाज अपनी पढ़ाई लिखाई या निजता में रहना पसंद करता है वही डूब क्षेत्र में रह रहे समुदाय के पास जीने का आधार उसकी सामुदायिकता ही है। यदि उससे यह भी छीन ली गई तो उनके जीवन का आधार ही नष्ट हो जाएगा और सबकुछ नष्ट हो जाएगा। यहां डूब में आने से शायद 42 घर बच रहे हैं। इन्हें सर्वेक्षण में छोड़ दिया है। लेकिन डूब में पूरे घर आ रहे है।

हमने पूछा भील और भिलाला में क्या फर्क है?

उनका जवाब था उनसे (भील) न तो रोटी का व्यवहार है न बेटी का। दोनों ही एक दूसरे से व्यवहार नहीं रखते। ये लोग यह नहीं जानते ऐसा क्यों होता है। लेकिन इसके बावजूद कहते हैं वे तड़बी यानि छोटे समाज से आते हैं। हम दोनों की भाषा में बहुत फर्क है। अंजनवाड़ा और भिलाड़ा उनकी बोलियां है, जलसिंधी में वो भाषा बोलते हैं। अपनी एकदम निमाड़ी भाषा चलती है। यहां भिलाली अलग से कोई भाषा नहीं है। अभी इसमें थोड़ी हिंदी भी चल रही है। रोटो खाए लोए, यह निमाड़ी है। हम तो आपस में निमाड़ी में ही बात करते हैं। पाटी आदि पहाड़ी इलाका है वहां पहाड़ी भाषा बोलते हैं। वो पुर्‌यो बोलते हैं, निमाड़ी में छोरा–छोरी बोलते हैं। हिंदी में बुढ्‌ढा, बुढ्‌ढी, निमाड़ी में डोकरा डोकरी और पहाड़ी में अलग बोलते हैं। भिलाला के उपनाम/सरनेम भी अलग हैं, जैसे अवास्या, बढ़ोले, वास्कले। अलग–अलग समुदाय के अलग सरनेम हैं।

उनका कहना था कि हमारा मुख्य कार्य खेती है। हम शुरु से परंपरागत तौर पर खेती करते हैं। पूरे आदिवासी खेती पर निर्भर हैं। हल बक्खर सभी प्रयोग में लाते हैं। अभी मक्का, कपास, तुअर, मूंग, मूंगफली, चवला, मिर्ची, सब्जी, सोयाबीन, ज्वार, बाजरा लगाते हैं। हमारा खास तीज त्यौहार दीपावली है। इसमें बैलों को सजाते हैं, लक्ष्मीपूजन करते हैं, घर में त्योहार मनता है। लोग अपनी आर्थिक स्थिति के आधार पर पूजा में चीज रखते है। यहां पर नए अन्न आने पर कोई विशेष त्योहार नहीं मनाते। पहाड़ी इलाकों में नवई मनाते हैं। फसल पकने के मौसम में नवमी मनाते हैं। फसल पके या नहीं हम तो उसी तिथि पर नवमी मनाते हैं। श्रावण की नवमी याने राखी के पहले आने वाली नवमी। नारियल पूर्णिमा (रक्षा बंधन) को अपने कुल देवता के यहां नारियल चढ़ाते है। सबके कुल देवता अलग–अलग हैं। एक ने कहा मेरी बिजासन (देवी) माता है। वही एक अन्य का कहना था कि हमारे तो देवता हैं, खड़तल बाबा। किसी का कहना था पुराने भाट आते हैं वे बताते हैं कि हमारे पूर्वज कहां से आए हैं।

5 साल से हमारे भाट राजस्थान से आते हैं। दो भाई आते हैं। गोपाल और शिवा। अब उनमें बटवारा हो गया है। शिवा यहां आता है पोथी लेकर। वह राजस्थान में चित्तौड़ से आता है। उनका कहना है कि हमारे पूर्वज चित्तौड़ के आसपास से आए होंगे। दो–तीन पीढ़ी से ज्यादा हो गए यहां आए। वे हमारे पुराने पूर्वज बता देते हैं। ज्यादा पुरानी बात हम नहीं बता सकते। हमारे भाट ने अभी नहीं बताया। कुछ के कुल देवता बहुत दूर भी हैं। उसका कहना है जब राजस्थान में अकाल पड़ा था तब हम लोग आए। हमारा भाट तो शराब पीकर टनाटन आता है। फिर उसकी जो मर्जी होती है वही बताता है। इनके शादी ब्याह बाकी समाज जैसे होते हैं। दहेज की जबरदस्ती नहीं है। लेकिन लड़की का पिता देता है। इनमें कुटुंब में और एक गोत्र में शादी नहीं होती। काफी रिवाज हिंदुओं जैसे है।

अब जमीन कहां बता रहे हैं?

खलघाट के पास बता रहे हैं। अभी उसका तय नहीं कर रहे हैं। 2006 में वहा बसाया। वहां अभी तक एक भी नहीं गए। अब 16 को दिसम्बर जाना है। वहां पानी कम आ रहा था। अतिक्रमण नहीं हटा रहे हैं। वहां लोगों ने सीमांकन तक नहीं करने दिया।

नए स्थान पर जाने से क्या तीज त्योहार में फर्क आएगा। इस पर उनका कहना था।

काफी फर्क रहेगा। उस वातावरण में घुलते मिलते हमारी उम्र निकल जाएगी। यहां अपने इतने लोग रहते हैं। यहां हम आएंगे तो फासला हो जाएगा। बहुत फर्क आ जाएगा। धामनोद के पास बायपास पर जमीन है। पुनर्वास स्थल में प्लाट भी हैं। लेकिन अभी तो वहां अतिक्रमण है। उन लोगों का मानना है कि मुआवजा कम मिला है। एनवीडीए के अफसरों ने कहा है कि वे पूरी कार्रवाही करके देते हैं। (पुस्तक प्रकाशन तक इन लोगों को खलघाट में जमीन दे दी गई है। इस प्रकार सरदार सरा. वर प्रभावितों में से पहली बार 16 परिवारों को जमीन के बदले जमीन मिली है)

बात को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा कि हमारे कुल देवता भी यहीं हैं। हमें तो यही आना पड़ेगा। वह स्थान डूब में नहीं आएगा। हर बार यहां आने पर एक हजार रु. खर्च होगा। वैसे भिलाला समाज में सभी बली प्रदान नहीं करते। कुछ करते हैं। वास्कले व रावत खाना पीना नहीं करते हैं। हमारी रिश्तेदारी अभी धार जिले में ज्यादा है। किसी की बहू है तो किसी बेटी वहां की है। जो काम अभी 100 रु. में जाता है वह अब 1000 रु. में होगा। 600 भिलाला में से केवल 16 लोगों को जमीन दे रहे हैं। बाकी को एसआरपी दे रहे हैं। जो 25 प्रतिशत से कम डूब में आ रहे थे उन्होंने एसआरपी ले लिया है। गांव के मकान से पूरे विस्थापित हो रहे हैं। सोचने की बात है अपना समाज आज एक साथ है जब बिछड़ जाएगे तो फरक तो पड़ेगा। पूरे लोग आपस में बिछड़ रहे हैं। बाप–बेटे भी आपस में बिछड़ रहे हैं। अभी तो 2 कि.मी. दूरी में भी लोग अपने काका को देखने नहीं आए। खेती करने वाले इकट्ठा नहीं होते। फासला बढ़ गया तो साल भर में भी नहीं मिल पाएंगे।

निमाड़ की सांस्कृतिक त्रासदी

विस्थापन की इस पूरी त्रासदी में संस्कृति कहीं पीछे छूटती जा रही है। आज तो सबकी प्राथमिक समस्या तो डूब से बचना या उसका सामना है। वैसे जिंदा रहने की जद्दोजहद में भी इतने संकटों के बावजूद उन्हें यदि किसी का संबल है तो अपनी संस्कृति का और डर है तो इसी के छूट जाने का। क्योंकि यही वह धागा है जो सबको जोड़कर रखता है। सरदार सरोवर बांध के डूब क्षेत्र में आ रहे मध्यप्रदेश के पश्चिमी निमाड़ से आज हमारी रवानगी हो रही थी। नर्मदा के तट पर बसी इस सभ्यता को गंगा जमुनी संस्कृति जैसा आकर्षक सामाजिक नाम या नारा तो नहीं मिला लेकिन यह सांप्रदायिक सद्भाव के साथ ही साथ आरण्यक व नगरीय सभ्यता की पोषक भी रही है। वहीं दूसरी ओर उत्तरी भारत को पश्चिमी दक्खन और दक्षिण भारत से जोड़ने का मार्ग भी रही है। यहां से चलते–चलते निमाड़ के दो निर्गुणी संतों संत सिंगाजी और संत अफजल साहब की वाणी भी सुनते चलते हैं।

कबीरदास की मृत्यु के एक वर्ष पश्चात संवत् 1576 (सन् 1519 में) संत सिंगाजी का जन्म हुआ था यानि आज से करीब आज से 493 वर्ष पूर्व। उन्होंने अपने बारे में लिखा है,

जन्म खजूरी में भयो, गौली घर अवतार।
माता गौरा को पय पियो भूमि का भार।।
संवत् पंद्रह सौ छित्तर जानी, जन्म भयो बड़वानी।
वैसाख सुदी नौमी सारा, प्रगट भये दिन बुधवारा ।।
वहां चलकर आए हरसूद, करी नौकरी प्रगटे हुजूर।।

कहते हैं सिंगाजी गवल यानि पशुपालक समाज के थे और एक धोबी के कार्यों से दुखी होकर उन्होंने अपने माता–पिता को खजूरी (खरगोन जिला) छोड़ने की सलाह दी और अपने सामान और जानवरों (300 भैसों) के साथ हरसूद (वर्तमान खंडवा तहसील) में आकर बस गए थे। उनका एक भजन है –

ऐसा दरिया है भरपूर, मन तू देखे हुजूर ।
पढ़ता पंडित वेद पुकारे, वो ही बतावे दूर ।।
नयन खोल कर देख दीवाने, झिलमिल दर से नूर।
मुल्ला होकर बांग पुकारे, अनहद बाजे तूर।।
कहे जन सिंगा सुनो भाई साधो, जहां कोटिक उगिया सूर।।

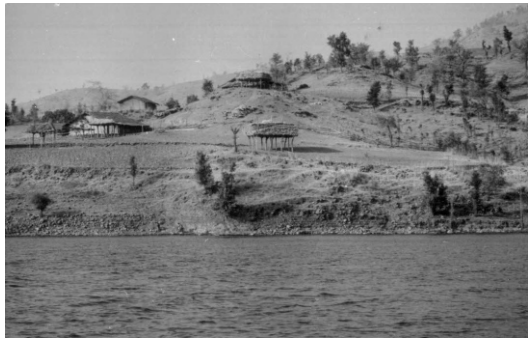
इसका अर्थ है, हे मन तू अपने अंदर देख। वहां पर प्रकाश का दरिया (नदी) पूरी तरह से भरा है। प्रकाश की यही नदी ब्रम्ह है और साधना के माध्यम से तू इसे अपने मन के भीतर ही खोज सकता है। पंडित वेद पढ़कर उसे दूर–दूर बताता है।

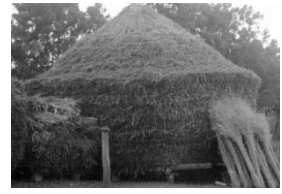
हे मन तू नयन खोलकर देख उस ब्रम्ह का सौंदर्य झिलमिलाता हुआ दिखाई देगा। मुल्ला मौलवी उसे पाने के लिए बांग देते हैं लेकिन वह ब्रम्ह तो तेरे अंदर है। वहां अनहद नाद हो रहा है। अनहद का सूर्य बज रहा है। सिंगाजी कहते हैं कि उस ब्रम्ह का प्रकाश ऐसा और इतना है कि मानों करोड़ों सूर्य उदित हो गये हों।

संत सिंगाजी कबीर की परंपरा के लोक संवाहक हैं। निमाड़ की इसी धरती पर उनका सृजन परवान चढ़ा और बिना किसी लाग लपेट के वे सबको अपने में समेटते नजर आते हैं। संत सिंगाजी की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए पश्चिम निमाड़ में एक और निमाड़ी निर्गुण संत अफजल साहब हुए हैं। कहा जाता है कि करीब 200 से 225 वर्ष पूर्व उन्हें बड़वानी के लोगों ने गलियों, बाजार व चौराहे पर एकतारे की लय पर गाते सुना। वे कभी कबीर के भजन गाते तो कभी सिंगाजी के। तो कभी कबीर की उलट बासियों जैसी अपनी अनूठी रचनाएं गाते,

अफजल, पवन पुरब से आय कर, पहाड़ दिया गिराय।
पीपल कुंजर ले उड़ी, सागर दियो सुखाय।
अफजल, मीन चली सुई चुगन कु, सुई किया अहार।
चूहे ने बिल्ली खाई, ये कयसी चली बहार।।
अफजल जल धुंआ उड़, जल ना ताता होय।
पावक लागा जल में, विरला बूझे कोय।।

परंतु निमाड़ में आज उलटबांसी का ही जमाना है। विकास के नाम पर विस्थापन जारी है और स्थानीय लोग बजाए खुश होने के बेघरबार हो रहे हैं। यह विकास की उलटबांसी ही तो है। पहले दोहे का भावार्थ है, पूर्व दिशा से पवन ने आकर पर्वत को ढहा दिया, चींटी हाथी को लेकर उड़ गई और सागर सुखा दिया। यह कैसी अजीब पहेली है। परंतु नर्मदा घाटी ने वह सब कुछ देख लिया जो कुछ दशकों पहले तक कल्पनातीत था। इन दोनों विभूतियों को याद करते हुए हमने बड़वानी से आगे का सफर तय किया।





महाराष्ट्र
आंतरिक विस्थापन भी विनाशकारी

महाराष्ट्र के नर्मदा तट के किनारे निवास करने वाले वनवासी एक बहुत सुंदर वर्षा गीत गाते हैं, जिसका भावार्थ है,

गाजण–गोटू

(बारिश में जो बिजली चमकती है और बादल गरजते हैं उसे गाजण गोटू कहते हैं।)
बादलों का गांजण गोटू जल्दी–जल्दी भागता है
और ये बिजली जिसके हाथ पैर नहीं हैं,
जब कड़कड़ाती है तो
पूरे पहाड़ों में जोरदार बारिश होती है
जैसे कि बादल खुद ही धरती पर आ गए हों।
वो पहाड़ से सट के चलते हैं
इसलिए उन्हें टुंगी–टुंगी कहते हैं।
उसी समय नदी किनारे की रेत में
डोइली के पौधे उगने लगते हैं
और उस पर कोमल पत्ते आने लगते हैं,
इसे ही पोपलयो पान कहते हैं
थोड़े दिनों में पोपल्यो पान में फूल खिलते हैं,
इसे पुजारी फूल कहते हैं
फूल के फल को गंगोजी डोबी कहते हैं,
फल में दारु भरकर पूरब की ओर

दो बूंद डालते हैं,
जिंदगी का लेखा जोखा व भविष्य जानने वालों के नाम
फल से कुछ बूंद गिराते हैं बादलों के नाम
फिर धरती की चारों दिशाओं को तृप्त करते हैं
कुछ बूंदे देवमोगरा माता के नाम से और
कुछ बूंदे कोलपासा भगवान के नाम से गिराते हैं
ठीक वैसे ही गांव में बैठे भगवान के नाम से गिराते हैं

शताब्दियों तक भगवान को चढ़ावा चढ़ाने के बाद भी आदिवासियों को जंगल से बेदखली को क्या कहा जाए? एकाएक संजय संगवई की पुस्तक का यह अंश याद हो आया '15 मार्च 1999 को महाराष्ट्र के गांवों के सैकड़ों विस्थापित आदिवासी जिला मुख्यालय नंदुरबार में कलेक्टर और पुनर्वास अधिकारियों से भिड़ गए। उन्होंने जनसुनवाई में विस्थापन और पुनर्वास संबंधी दावों का बहुत बारीकी से अध्ययन किया। बाद में वे सरकारी अधिकारियों को उस एकमात्र स्थान पर ले गए जहां की भूमि को कृषि योग्य कहा जा सकता था। जब उस स्थल पर पहुंचे तो पहले से विस्थापित लोगों ने दावा किया वे तो उस जमीन पर पहले से ही खेती कर रहे हैं। अंततः डिप्टी कलेक्टर ने स्वीकार किया कि कोई भी जमीन उपलब्ध नहीं है।'

ऐसी विकट परिस्थितियों में महाराष्ट्र के डूब प्रभावितों ने अपना संघर्ष जारी रखा। हम पहले ही जिक्र कर चुके हैं कि बांध के खिलाफ देश में पहला विरोध सन् 1921 में महाराष्ट्र में ही पुणे के निकट मुल्शी घाटी में टाटा द्वारा बनाए जा रहे बांध का हुआ था। गौरतलब है उसके विस्थापितों को आज तक पूरा न्याय नहीं मिल पाया है। वहीं दूसरी ओर हम पाते हैं यहां के भीलों में संघर्ष का जबरदस्त माद्दा है और सन् 1818 से 1831 तक चला उनका संघर्ष भील विद्रोह के नाम से जाना जाता है।

यही सब सोचते और बातचीत करते हुए हम आगे बढ़ते जा रहे थे।

वड़छिल : नदी नजदीक और बाजार दूर था

बड़वानी में रेहमत से बात करने के बाद वडछिल को लेकर उत्सुकता बढ़ती जा रही थी। बड़वानी से निवाली, पानसेमल से हो कर हम महाराष्ट्र की सीमा में पहुंचे। पानसेमल पहुंचते ही मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र का संगम दिखाई देने लगता है। थोड़ी सी दूरी पर (8 कि.मी.) पर महाराष्ट्र लग जाता है। यहां घुसते ही पहले–पहल सामना एक खांडसारी (शकर मिल) मिल से हुआ। इसके आसपास रस निकल चुके गन्ने से बनीं झोपड़ियों का अंबार लगा था। सिर्फ इनकी छत पर प्लास्टिक शीट थीं। शक्कर बनाने वाले मौसम में आसपास के क्षेत्रों से आकर मजदूर इनमें रहते हैं, जिनमें किसी

भी प्रकार निजता नहीं होती। आसपास गंदगी का अंबार था। हमारे जीवन और जीभ में मिठास घोलने वाला यह समुदाय जिन परिस्थितियों में रह रहा था उसे देखकर मुंह कसैला हो गया और लगने लगा कि शक्कर (चीनी) की मिठास के पीछे कितनी कड़वाहट छिपी हुई है। मंदाना फाटा पार करके हम वड़छिल पहुंचे।

वड़छिल अब नंदूरबार जिले का हिस्सा है। पूर्व मे यह धुले जिले में आता था। यहां हमारी भेंट केशव भाऊ से हुई। वे पुराने कार्यकर्ता हैं। लेकिन दुर्भाग्यवश उनका एक पैर काटना पड़ा है, इसके बावजूद उनके उत्साह में कोई कमी नहीं आई है। वे आज भी पूरी बसाहट की देखरेख व नेतृत्व करते हैं। वड़छिल अब शाहदा ब्लाक जिला नंदूरबार, महाराष्ट्र में आता है। यहां बसे लोगों का मूलगांव नीमगव्हाण था जो कि धड़गांव तालुका, जिला धुले (धूलिया) का हिस्सा रहा है। यानि विस्थापन व पुनर्वास महाराष्ट्र से महाराष्ट्र में ही हुआ है।

गौरतलब है, सरदार सरोवर बांध के खिलाफ संघर्ष की शुरुआत महाराष्ट्र से ही हुई थी। शायद इसकी एक वजह यह भी रही है कि सबसे पहले डूब में महाराष्ट्र का क्षेत्र ही अपने वाला था। इसी परिप्रेक्ष्य में महाराष्ट्र में सन् 1985 में नर्मदा धरण ग्रस्त समिति, गुजरात में नर्मदा असरग्रस्त समिति और मध्यप्रदेश के पश्चिमी निमाड़ के टवलई में नर्मदाघाटी नव निर्माण समिति का गठन हुआ। सभी जगहों पर अपनी–अपनी स्थानीय समस्याओं को लेकर गतिविधियां चलती रहीं। इसी दौरान सन् 1990 में फेरकुंआ संघर्ष के दौरान हुए लांग मार्च ने राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय मीडिया का ध्यान खीचा। जिसके परिणामस्वरूप देश विदेश में बांधों के औचित्य पर नई बहस प्रारंभ हुई और इसी मंथन में नर्मदा बचाओ आंदोलन का अस्तित्व उभरा।

इन मामलों में बातों का सिलसिला क्रमवार चला पाना काफी कठिन होता है। केशव भाऊ भी कभी वर्तमान में आते तो कभी एकाएक अतीत में चले जाते। उनकी स्मृति में घटनाएं आज भी पूरी स्पष्टता से अंकित हैं। सन् और तारीख में थोड़ा उलझ जाते हैं। मगर परत दर परत स्थितियां खोलते जाते हैं। उनसे बात करते हुए कमोवेश किसी हिंदी फिल्म का आभास होने लगता हैं। बात वर्तमान से शुरु होती है और एकाएक इतिहास (फ्लेश बैक) में चली जाती है। कभी संघर्ष की उत्तेजना एकाएक उभरने लगती है तो कभी बिछड़े गांव का सांस्कृतिक परिदृश्य सामने आने लगता है। राजनेताओं व अफसरों की खलनायकी कभी उजागर होती है तो उसके बरस्क साथियों का स्नेह व संघर्ष भी प्रकट होने लगता है।

उनकी कहानी को उन्हीं के तरीके से समझने की कोशिश करते हैं। उन्होंने बताया कि सन् 1985 से हमारा संघर्ष चल रहा था। सन् 2004 में महाराष्ट्र की अक्कलकुंआ तहसील के अलिविहीर गांव में सत्याग्रह हुआ। हम सबने अलिविहीर गांव के जंगल पर कब्जा कर लिया था। यहीं पर उनकी कहानी ने मोड़ लिया और वे इतिहास (फ्लेशबेक) में चले गए। वे बताने लगे कि शुरुआत में हमसे कहा गया कि

गुजरात में सरदार सरोवर बांध बन रहा है। आपको गुजरात में सिंचित जमीन दी जाएगी। हमने कहा कि हम गुजरात नहीं जाएंगे, हमें तो महाराष्ट्र में ही जमीन चाहिए। इस पर कहा गया कि गढ़ चिरौली, ठाणे ऐसे दूसरे जिलों में जमीने हैं, वहां दे देते हैं। हम सबने वहां जाने से भी इंकार कर दिया और मांग की कि हमें तलौदा, शाहदा में से किसी एक जगह जमीन दो। सरकार ने कहा यहां जमीन नहीं है। शरद पंवार तब मुख्यमंत्री थे, उन्होंने भी यही कहा। हमने पता किया कि क्षेत्र में 18000 हेक्टेयर वन भूमि है जो कि केंद्र सरकार की सम्पत्ति है। सन् 1988 तक हमने सतत विकास की मांगे रखीं। साथ ही यह भी कहा कि गांव को एक साथ बसाना चाहिए। सन् 1988 में तीनों राज्यों महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश और गुजरात के डूब क्षेत्र के जनसंगठन एकसाथ हो गए थे।

नर्मदा बचाओ आंदोलन के गठन के बाद 'हमारे गांव में हमारा राज' का विचार सामने आया। इसका मतलब था जल, जंगल और जमीन पर स्थानीय निवासियों का ही नियंत्रण हो। सन् 1993 से इस विचार पर अमल प्रारंभ हो गया। लेकिन सन् 1998 में हम सबको गांव से हकालने के लिए 10000 पुलिसवाले आ गए। बड़ा कठोर संघर्ष हुआ और इसमें हमारा एक 15 वर्षीय साथी रहमल वसावे पुलिस की गोली से मारा गया। शासन कठोर हुआ तो हमारा निश्चय भी और दृढ़ होता गया। सरकार भी अचंभित थी। उन्होंने एक दिन में पुनर्वास स्थल जाने का रास्ता तैयार कर दिया। जो लोग सन् 1992 में उजड़ गए थे उन्हें आखिरकार सन् 2004 में जमीन मिली।

हमें लग रहा था कि अब यह बात शायद यहां समाप्त हो जाएगी, लेकिन एकाएक उन्होंने बताया कि नर्मदा घाटी में हमारी जमीन कम थी। यहां ढाई एकड़ जमीन मिली है तथा इस जगह पर 300 परिवारों का पुनर्वास हुआ है। तभी वे बोले सन् 1991 में चारों राज्यों, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, गुजरात व राजस्थान के मुख्यमंत्रियों की बैठक मुंबई में हुई थी। मैं इस प्रतिनिधि मंडल में गया था। वहां मैंने पूरी निडरता से जमीन के बदले जमीन और गांव के बदले गांव की मांग चारों मुख्यमंत्रियों के सामने रखी। चिमनभाई पटेल नाराज हो गए। प्रमुख कार्यकर्ता होने के नाते मुझे तोड़ने की कोशिश करते हुए और मुख्य कार्यकर्ता मानते हुए समझौता कर लेने के लिए एक मुख्यमंत्री ने मुझे 50 एकड़ जमीन अलग से देने का लालच भी दिया। लेकिन मैंने इस लालच में पड़ने से इंकार कर दिया।

केशव भाऊ एकाएक वर्तमान में लौटे और बोले हमारे इस नए गांव में शराबबंदी है। शराब की एक भी दुकान नहीं है। अगले ही क्षण अपने कटे पैर को देखते हुए बोले, पहले हम दिन में 30 किलोमीटर का चक्कर लगाकर बाजार करके आते थे। पैदल चलते थे। ऐसा हम 8 दिन में तीन दिन करते थे। अब तो लोगों को एक कि.मी. के लिए भी मोटरसाइकिल चाहिए। जंगल में हम (आदिवासी) अपने समाज में रहते थे। किसी से हमारा कोई लेना देना भी नहीं था। गांव में शिक्षक भी नहीं थे। सिर्फ नाम करने को 15 अगस्त और 26 जनवरी को ही गांव में आते थे। (भारत की आधुनिक

शिक्षा प्रणाली पर इससे बेहतर और क्या टिप्पणी हो सकती है) तब हमें पता चलता था कि हमारा कोई राष्ट्रीय झंडा और गान भी है।

पीढ़ी दर पीढ़ी हम ऐसे ही सुख से अपना जीवन बिताते आए थे। हमारे यहां बारहों महीने लगने वाली फसलें जैसे ज्वार, मक्का, उड़द, बांदिया व बटी (मोटा अनाज) होती थीं। नदी पास में थी और बाजार दूर था। नदी हमारी बची खुची जरुरतें पूरी कर देती थी। यदि हमारे पास कुछ अतिरिक्त होता था तो जरुरतमंद को दे देते थे। मछलियां सिर्फ घर के लिए ही मारते थे। यदि थोड़ी ज्यादा मिल जाती थी तो बाजार में बेच देते थे। जंगल से गोंद और लाख मिल जाता था। इसे बेच देते थे। अस्पताल जाने की जरुरत ही नहीं पड़ती थी। बिना पैसे के औषधि, पानी और लकड़ी मिल जाती थी। सच मानिये नर्मदा से हमारा जीवन बहुत आनंद से बीतता था। बकरी पालते थे। जब भी एकदम से धन की आवश्यकता पड़ती थीं तो इसे बेचकर काम चला लेते थे। साल भर में 5 हजार रु. भी ऊपर से मिल जाते थें तो लगता था कि हम बहुत मजे में हैं।

लेकिन अब?

यहां पर तो 200 क्विंटल अनाज भी उगा लें तो घर पर नहीं आता। सीधे बाजार में चला जाता है। खाने के लिए भी बाजार से अनाज खरीदना पड़ता है। रासायनिक खाद और दवाई में पैसा खर्च करना पड़ता है। यहां तो खेत तैयार करने व बुआई के लिए भी पैसा लगता है। वहां तो लाह (सामूहिक निःशुल्क श्रम) से सारे काम हो जाते थे। अब तो खेती से पूर्ति नहीं होती। हम सभी पर कर्जा है। यदि मेरी व्यक्तिगत बात करें तो मुझ पर करीब 8 लाख का कर्जा है।



वड़छिल पुर्नवास बस्ती

अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा वैसे कुछ मामलों में हमने आदिवासी संस्कृति बचा कर रखी है। जैसे बस्ती में घर बनाने में लाह की परंपरा बरकरार है। विवाह, इंगलदेव पूजन, होली सभी साथ–साथ आनंद से मनाते हैं। एकाएक उन्हें पुनः कुछ याद हो आया और बोले धड़गांव से 30–30 किलोमीटर पैदल चलते थे। अब एक कि.मी. भी पैदल नहीं चलते। पैर की बीमारी पर 11 लाख रु. खर्च हो गए। हमारी कमाई का ज्यादातर पैसा शाहदा के अस्पतालों को ही जाता है। सरकारी स्वास्थ्य सेवाएं एकदम खराब हैं। बस्ती के अस्पताल में डॉक्टर ही नहीं है। अचानक ही उन्होंने कहा कपास आदि की फसल को हर साल 10–12 लाख में बेचते हैं लेकिन फिर भी बस्ती के प्रत्येक व्यक्ति पर 3–4 लाख का कर्जा है।

वर्तमान स्थिति पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने बताया कि पुनर्वास बस्तियों में से अधिकांश में एकता नहीं है। नर्मदा के किनारे की हमारी जमीनों में सिंचाई थी। हमारी मांग थी कि सिंचाई वाली जमीन ही मिले। लेकिन दलालों ने अपने लोगों को सिंचाई वाली जमीनें दिलवा दीं। 8 साल हो गए हमारी जमीनों में अभी तक सिंचाई की सुविधा नहीं मिली है। खातेदारों के वयस्क पुत्रों जो कि करीब 150 हैं, को जमीन नहीं मिली। मेरा तो मानना है कि बिना मुआवजा लिए युवकों को अपना मूलगांव नहीं छोड़ना चाहिए।

मूलगांव का जिक्र आते ही उन्होंने नया मोर्चा खोल दिया। वे बोले, हमारे मूलगांव के निवासियों को चार जगहों पर बसा दिया। यहां संख्या का बड़ा महत्व है। अब ग्राम पंचायत में हमारे लोग हार जाते हैं। इसीलिए दबाव में रहना पड़ता है। यहां सबसे ज्यादा नीमखेड़ी और डोमखेड़ी के लोगों को लाकर बसाया गया है। हमारी बस्ती अभी राजस्व ग्राम में नहीं आती। ढाई साल बाद इसे राजस्व ग्राम घोषित करेंगे। यहां पानी की जबरदस्त समस्या है। पानी 800 फुट नीचे चला गया है। अभी तक 730 फुट गहरे बोर से पानी आ रहा है। यहां पर रास्ता (सड़क) घर से ऊंचा बना दिया है। इससे पानी घर के अंदर भर जाता है। ग्रामीण इलाकों में भवन निर्माण जमीन की स्थिति के अनुरूप होता था। (नर्मदा के किनारे बसे अधिकांश गांव ढलान पर बसे हैं। इससे इनमें पानी भरने की समस्या सामने नहीं आती)

केशव भाऊ से चर्चा समाप्त कर हम गांव (पुनर्वास बस्ती) में अंदर की ओर चले। यहां का विकास बहुत ही सुंदर तरीके से हुआ है। रहवासी अपने पारंपरिक घर की सारी सामग्री यहां लेकर आ गए थे। उसी को पुनः इकट्ठा कर यहां घरों का निर्माण किया है। हर घर में ढेर सारे वृक्ष भी नजर आते हैं। साफ सफाई भी है। कुल मिलाकर बाहर से यह पुनर्वास स्थल अत्यंत मनोहारी दिखाई देता है।

हमने केशव भाई से औपचारिक तौर पर विदाई ले ली थी और वडछिल में कुछ अन्य लोगों से चर्चा कर शाहदा पहुंच गए थे। लेकिन अगले दिन शाहदा में एकाएक वे दिखाई पड़े। पूछने पर बताया कि जिला मुख्यालय नंदूरबार में नर्मदा नियंत्रण प्राधिकरण के अधिकारी आए हुए हैं, तो उनसे मिलने जा रहे है। इसी बीच चर्चा में

उन्होंने बताया कि नीम के बड़े–बड़े पेड़ होने की वजह से उनके गांव का नाम नीमगांव पड़ा। वैसे यह मूलतः डोमखड़ी का एक मोहल्ला (फालिया) था। सन् 1958 में विनोबा ने इस गांव का दौरा किया था। 8 दिन देश विदेश के लोग वहां रहे। इसके बाद वहां एक शाला भी बनी। शराबबंदी भी हुई और भूदान भी हुआ। लेकिन दोनों ही चीजें बाद में नहीं टिकी। सन् 1985 में नर्मदा बचाओ आंदोलन के बाद स्थितियों में थोड़ा परिवर्तन आया है।

वंशावली की बात बताते हुए वे कहते हैं उनके पूर्वज मथवाड़ राजस्थान के चित्तौड़ से आए। वसावा एवं तड़वी अलग–अलग हैं। वसावा और भीलों में आपास में शादी होती है। आंदोलन से इनके आपसी संबंध सुधरे हैं। इस तरह की पहली शादी केशुभाऊ ने ही की थी। वैसे अभी भी कई बस्तियों में लोगों के आपसी मिलन में अभी भी दिक्कतें हैं। बोली (भाषा) की वजह से भी समस्याएं आ रही हैं। एक गांव में कई बोलियों के लोगों का निवास होने लगा है। इस वजह से भी बंट रहे हैं। शराब की दुकानें भी लगने लगी हैं। सिर्फ वड़छिल में ही एकता दिखाई दे रही है। नर्मदा बचाओ आंदोलन की जीवनशाला ठीक से नहीं चला पा रही थी। अतएव शासन को हस्तांतरित कर दी। आंदोलन के पास पैसे की दिक्कत थी और सरकार का भी यही रोना है। चार के बदले एक शिक्षक है। आज 120 बच्चों पर एक शिक्षक है। आंदोलन का शिक्षक पढ़ाने के अलावा और भी कई सामाजिक कार्य करता था। लेकिन पैसे की कमी ने सबकुछ समाप्त कर दिया।

वापस वड़छिल लौटते हैं। वड़छिल (शोभा नगर पुनर्वास बस्ती) में ही हमारी भेंट जाहरिया अरदिय वसावे से हुई। उनके मूल गांव में कोई पढ़ा लिखा नहीं था। सन् 1991 में नर्मदा बचाओ आंदोलन ने वहां जीवनशाला प्रारंभ की। जाहरिया ने भी वहीं पढ़ाई की और बाद में वे लम्बे समय तक नर्मदा बचाओ आंदोलन की जीवनशाला में शिक्षक रहे हैं। जाहरिया का मूल गांव नीमधवान था जो कि धूलिया (अब नंदुरबार) जिले के धड़गांव ब्लाक में आता था। वे मूलतः असावा आदिवासी हैं। पुनर्वास से पहले उनसे 2 हेक्टेयर जमीन का वादा किया गया था। लेकिन अभी केवल एक हेक्टेयर भूमि दी गई है। महाराष्ट्र सरकार अब दबाव डाल रही है कि बकाया एक हेक्टेयर के बदले 10 लाख रु. नकद ले लिए जाए। इनका 9 वर्ष पूर्व विस्थापन हुआ है। पुनर्वास स्थल पर नया घर बनाने के लिए धन नहीं मिला है। वैसे यहां चार गांवों नीमगांव, शुरुग, डोमखेड़ी, सलबदा के लोगों को बसाया गया था।

यह पूछने पर कि उन्हें कहां रहना अच्छा लगता है। तो उन्होंने बिना किसी हिचक के तुरंत जवाब दिया कि उधर ही अच्छा लगता था। वहां जानवरों का चारा भी मिल जाता था, सब्जी भी बहुत मिल जाती थी। खेती में खाद भी नहीं डालनी पड़ती थी। बीज भी खुद का ही होता था। केवल कपड़ा और नमक ही खरीदना पड़ता था। जंगल से अंबाड़ी की भाजी के बदले चार किलो नमक मिलता था। अपने गांव से बाजार करने कवांठ (गुजरात) जाते थे।

उनके मूलगांव में मनने वाले तीज त्योहार पर बातचीत करने पर उन्होंने काफी विस्तार से इस विषय पर चर्चा की। जिन महत्वपूर्ण त्योहारों का जिक्र उन्होंने किया वे थे,

इंदल पूजन : इसमें भगवान की मान उतारते हैं। यह तीन या पांच साल में एक बार मनाया जाता हैं। इसमें आस–पास के गांव के लोग इकट्ठा होते हैं। कलम (कंबो) के पेड़ की तीन टहनियां लगाते हैं, इसे जुआर के दाने डालकर फसाते हैं। रातभर पूजा करते हैं और नाचते हैं। सुबह तीनों डंडियों को निकालकर पानी में टहनियों का विसर्जन कर देते हैं।

फिटौरा : वैद्य (यानि बढ़वे) को बुलाकर इंदल जैसी मानता की जाती है। ये लोग आने वाले समय की बात (भविष्यवाणी) करते हैं।

गुआणा देवी : तीन साल में एक बार गांव के पशुधन, बैल, गाय, बकरी की पूजा होती है। पूरा गांव एक साथ पूजा करता है। अभी भी पूरा गांव बैठकर पूजा की तारीख तय करता है। यह पूजा बारिश के बीच में (साधारणतः सावन के महीने में) की जाती है। यदि तीन साल में पूजा नहीं होती तो क्रमशः 5वें या 7वें साल में होती है। हम लोग विषम संख्या ही मानते हैं सम नहीं।

निलपी देव : बारिश प्रारंभ हो जाने के बाद घर का मुखिया बिना देव को चढ़ाए हरी सब्जी नहीं खा सकता। पहले उसकी पूजा करनी होती है। ऐसी मान्यता है कि निलपी देव गांव की, बैल की और सभी चीजों की रक्षा करते हैं। गांव के लोग ही निलपी देव का स्थान तय करते हैं और फिर वहां पूजा करते हैं।

दीपावली : दीपावली का इन समाजों में बहुत महत्व नहीं है। इसे सिर्फ सिंघाड़ा पार्टी (नाच–गाना) के रूप में ही मनाते हैं

होली : यह हमारे लिए सबसे महत्व का त्योहार है। इसक लिए अलग–अलग नियमों का पालन करते हैं। इसमें उसे (गांव के बुजुर्ग को) 5 दिनों के नियमों का पालन किया जाता है। इसके अंतर्गत रोज नहाना, खाट पर नहीं बल्कि जमीन पर सोना, एक ही समय खाना–खाना, शुद्धता एवं सफाई से रहना एवं ब्रम्हचर्य का पालन करना पड़ता है। तीन होली या पांच होली पूरी करना अर्थात तीन या पांच गांवों की होली की परिक्रमा पूरी करके ही यह नियम पूरा होता है। इसके बाद बाबा भूदिया (कमर में व सिर में मोरपंख लगाते हैं और घुंघरु बांधते हैं) का स्वांग रचते हैं। सभी लोग मिलकर गेर नाचते हैं। जाहरिया ने बताया कि इस वर्ष नर्मदा बचाओ आंदोलन के साथियों ने भी वडछिल में ही होली मनाई थी। इसमें 20 हजार से ज्यादा लोग इकट्ठा हुए थे।

पारंपरिक शादी के बारे में पूछने पर उन्होंने बताया कि शादी का समारोह चार दिन का होता है। इसमें एक दिन लड़की वाले लड़की वालों के यहां आते हैं। ऐसे ही लड़के वाले अगले दिन लड़की के घर जाते हैं। बाकी दिन आपस में मिल जुल

कर शादी का जश्न मनाते हैं। उन्होंने बताया कि हमारे समाज में लड़के वालों को लड़की के परिवार को हुण्डा (दहेज) देना पड़ता है। इस गांव का हुण्डा 30 हजार है। कई समाज में यह पांच हजार ही है। यह पूछने पर कि आपके समाज में यह इतना क्यों है? तो उन्होंने कोई संतोषप्रद जवाब न देते हुए सिर्फ इतना ही कहा कि यह तो गांव पंचायत का निर्णय है। शादी के लिए बैल और बकरी के अलावा कई बार तो खेत भी बेचना पड़ता है। खर्चा भी बहुत होता है क्योंकि दोनों ओर के लोग एक दूसरे के यहां आते हैं तो खाना पीना सभी होता है। शादी तय करने की प्रक्रिया के बारे में उन्होंने बताया कि पहले तो मां–बाप ही शादी तय करते थे। अब लड़के–लड़कियां आपस में मिलकर भी तय कर लेते हैं। लेकिन हुण्डा (दहेज) तो हर हाल में देना पड़ता है।

यह पूछने पर कि पुनर्वास स्थल पर आने के बाद त्योहारों, रीति रिवाजों और शादी ब्याह जैसे समारोहों में कुछ फर्क आया है? तो उन्होंने बताया कि थोड़ा परिवर्तन तो आया हैं नाते–रिश्तेदारी, संस्कृति सभी में थोड़ा बहुत परिवर्तन तो आया ही है। वहां जितना प्रेम और अपनापन था वह यहां दिखाई नहीं पड़ता। यहां बहुतेरे अलग–अलग समाज के लोग मिल गए हैं। उनकी परंपराएं हमारी परंपराओं में घुसने लगी हैं। इससे हमारी अपनी परंपरा के खत्म होने का खतरा बढ़ता जा रहा है। अब तो आदिवासियों में बड़े पैमाने पर धर्मांतरण भी हो रहा है। वेतन देने पर (बहुत कुरेदने पर भी स्पष्टता नहीं हो पाई कि इन लोगों को नौकरी पर रखने के बदले धर्मांतरण किया जाता है या किसी और तरह का लालच दिया जाता है।) पर कुछ लोग ईसाई और मुसलमान हो गए हैं। पैसे के लालच में ही धर्म बदलने में लग गए हैं। विश्व हिंदू परिषद भी अब इस प्रक्रिया में शामिल हो गया है।

बोली/भाषा पर बात करने पर उन्होंने बताया कि मूलगांव व आसपास पावरी, भिलाली और राठवी में बात करते थे। यहां पुनर्वास स्थल पर भी आकर हम लोग घरों में तो पावरी ही बोलते हैं। बाहर ज्यादातर मराठी का प्रयोग करते हैं। बच्चों की शिक्षा तो मराठी में ही होती है। घरों में अजीब सी स्थिति हो गई है। बच्चों की बोली बहुत बिगड़ रही है। हम और हमारे बच्चे शुद्ध मराठी भी नहीं बोल पाते हैं।

उन्होंने बताया कि यहां आकर हमारी पारंपरिक स्वास्थ्य प्रणाली पूरी तरह से नष्ट हो गई है। वहां जड़ी बूटियों का इस्तेमाल करते थे यहां पर हम नई चिकित्सा पद्धति पर ही निर्भर हैं। घरेलू उपचार की सामग्री ही जंगल से मिलती थी तो अब उसका अभाव हो गया है। शहरी चिकित्सा पद्धति बहुत खर्चीली है और हमारा बहुत सारा पैसा इसी में खर्च हो जाता है। वैसे मूलगांव में डॉक्टर का सहयोग भी बहुत मिलता था।

दोनों स्थानों की जलवायु की तुलना करते हुए उन्होंने बताया कि दोनों में बहुत अंतर है। वहां ठंडक थी। जंगल भी था तो गर्मी महसूस नहीं होती थी। यहां तो बेतहाशा गर्मी पड़ती है। वहां बारिश भी ज्यादा गिरती थी। पानी की किल्लत भी

नहीं थी। जमीन के नीचे से भी पानी नहीं निकालना पड़ता था। नर्मदा में नहाने चले जाते थे। वहां बीज अपने थे। कम सिंचाई में और कई बार तो बिना सिंचाई के ही फसल पैदा हो जाती थी। हमें तो सिंचित जमीन देने का वादा किया गया था। अभी तक आधी जमीन दी है वो भी बिना सिंचाई वाली। बिना सिंचाई के इस जमीन में कुछ होता ही नहीं है। बहुत से ऐसे लोग जो पहले यहां आ गए थे, जमीन न मिलने की वजह से वापस मूलगांव चले गए हैं। वहां अभी भी जैसे–तैसे गुजर तो हो ही जाती है।

यहां सामने आई कोई अन्य परेशानी के बारे में उनका कहना था कि उन लोगों के पुनर्वास स्थल पर आने से पहले बहुत चोरी होती थी। पुनर्वास के बाद चोरी बंद हो गई है। आसपास गूजर लोग बड़ी संख्या में बाद में आकर बसे हैं। उन्होंने यहां काफी जमीने खरीदी हैं यदि वे लोग यहां नहीं आते तो हमें शायद कभी भी शांति से रहने का मौका नहीं मिलता।

वड़छिल में गिरधर नूरा पावरा से हुई भेंट ने कुछ नए आयाम हमारे सामने रखे। गिरधर का मूलगांव 'माल' है। इसे डोमखेड़ी का एक मोहल्ला भी कहा जा सकता है। पहले इनका गांव धूलिया जिले के धड़गांव में आता था। वे भी आदिवासी हैं पर साथ ही स्वयं को हिंदू पावरा कहलाना भी पसंद करते हैं। उनके परिवार में एक लड़का और दो लड़कियां हैं। उनका व्यक्तिगत इतिहास बहुत रोचक है। नर्मदा बचाओ आंदोलन के संपर्क में आने के पहले वे दूसरी ''फेल'' थे। सत्याग्रह के दौरान पढ़ाया जाता था। इससे उनमें अध्ययन के प्रति रुचि जागृत हुई। वहां कार्यकर्ताओं के माध्यम से पढ़ाई का कार्य होता था। धीरे–धीरे उन्होंने अलग–अलग संस्थाओं के सहयोग से बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। उन्होंने बताया कि केशवभाई तो विनोबा भावे से पढ़े हैं। सन् 1991 में इनकी पहली पीढ़ी थी जिसने पढ़ाई शुरु की थी। अभी महाराष्ट्र में आठ, मध्यप्रदेश में दो एवं गुजरात में तीन बच्चे बी.ए. और एम.ए. कर चुके हैं।

गिरधर भाई ने स्वयं को शिक्षित करने के बाद समुदाय के लोगों को पढ़ाने का कार्य प्रारंभ किया। नर्मदा बचाओ आंदोलन द्वारा संचालित जीवनशाला में उन्होंने 18 वर्षों तक अध्यापन कार्य किया। अब क्यों नहीं कर रहे हैं? जवाब में उनका कहना था कि आर्थिक तंगी की वजह से अब निभा पाना कठिन होता जा रहा है। वैसे वड़छिल में जीवनशाला बंद हो गई है और महाराष्ट्र सरकार भी इस ओर बहुत ध्यान नहीं दे पा रही है। महाराष्ट्र की ही जावदा बसाहट में अभी भी जीवनशाला संचालित हो रही है। एक बार पुनः अतीत में लौटते हुए जैसे स्वमेव कह उठते हैं, यहां पढ़े बच्चे बी.ए., एम.ए. पास हो गए हैं। खेलों में भी इन्होंने अंतर्राष्ट्रीय पहचान बनाई है। देश–विदेश में नाम रौशन कर रहे हैं। उनका कहना था कि बच्चे अब शिक्षक एवं कार्यकर्ताओं की जवाबदारी भी संभाल रहे हैं।

अपने पैतृक गांव की बात याद करते हुए उनका कहना था कि पूरे गांव के घरों में लाह (सामूहिक श्रम) का बोध था। हमारे गांव में न तो कोई मजदूरी करता था न करवाता था। सभी लोग मिल जुलकर काम निपटा लेते थे। मेरी पत्नी को भी जूना (पुराना) गांव ज्यादा अच्छा लगता था। वहां तो ढेर सारे पेड़ थे। यहां के सारे पेड़–पौधे हम लोगों ने ही लगाए हैं। यहां से नर्मदा जी भी 70–80 किलोमीटर दूर हैं इसीलिए हमसे कईयों की जमीनें असिंचित ही बनी हुई हैं।

हम अपनी बात समाप्त कर वहां से बाहर निकले। एक बार नए बसे इस हरे–भरे गांव पर निगाह डाली। जाहरिया भाई ने हमें पूरी बस्ती घुमाई। पीछे की पहाड़ी पर भी ले गए। वहां से नजर आया कि दूर–दूर तक कहीं और ऐसी हरियाली नहीं है जैसी कि वड़छिल की इस बस्ती में नजर आती है। हमने तो जंगल में मंगल वाली कहावत सुनी थी। लेकिन वड़छिल के इन नए बाशिंदों ने अपने रहने के लिए जंगल जैसी अनुकूलता बनाने की जो कोशिश की है, वह वास्तव में अनूठी है।

यहां आकर महसूस हुआ कि कम से कम कुछ दिन प्रत्येक पुनर्वास बस्ती में लगाए जाएं। शायद यह कभी संभव हो।

यहां तो सबेरे उठते ही पैसे चाहिए

वाड़ी जावदा, शाहदा तालुका, नंदुरबार

शाहदा से पुनर्वसित बस्ती वाड़ी जावदा जाते समय रास्ते में पेड़ के नीचे कवड़ाई देवी का स्थान मिला। उन पर बड़ी संख्या में मिट्टी के घोड़े चढ़े हुए थे। पता करने पर बताया कि सुख शांति के लिए कार्तिक पूर्णिमा पर घोड़ा चढ़ाया जाता है। इस हेतु कोई मानता आदि नहीं मानी जाती है। यह बात भी सामने आई कि आदिवासी, खासकर भील, अब अपने को ठाकुर कहलाने लगे हैं।

यह बस्ती नंदुरबार जिले के शाहदा तालुका में स्थित है। शाहदा में ही ओरसिंह टीलिया पलटे से मुलाकात हो गई ओर सिंह सन् 2000 से 2009 तक, नर्मदा बचाओ आंदोलन की जीवनशाला में शिक्षक रहे हैं। शिक्षण छोड़कर अब वे नर्मदा बचाओ आंदोलन के पूर्णकालिक कार्यकर्ता बन गए हैं। सिंह मूलतः भील समुदाय के हैं। इस बसाहट में कुल 280 भूखंड हैं और सन् 2005 से लोगों ने यहां आना शुरु किया था। बसाहट वाले इस नए गांव में भरुढ़, अट्ठी, केली थुआनी, सांवरिया दिगर और बिलगांव से आकर लोग बसे हैं। यानि कुल 6 गांव के। यहां हमारी मुलाकात अट्टी के डेडिया पेसरा वसावे एवं भरढ़ के मालसिंह गुलाबसिंह पावरा, रहेंजा तेरसिंह पावरा, ओरसिंह व कांतिलाल बुला पारवा से हुई। बातचीत से पता लगा कि इनके परिवारों की सदस्य संख्या काफी है। जैसे रहेजा तेरसिंह के 4 लड़के, 4 लड़कियां, मालसिंह के 1 लड़का, 5 लड़कियां, डेडिया पेसरा के 6 लड़के और 4 लड़कियां हैं। यहां आकर बसे अधिकांश, पावरा, आदिवासी समुदाय के हैं। ये लोग यहां पर औसतन 7 वर्ष पूर्व आकर बसे।

यहां निवास कर रहे अधिकांश आदिवासी वर्ग के हैं और उनका जीवन कृषि और जंगल दोनों पर आधारित रहा है। पुनर्वास स्थल पर अब इनके पास अधिक विकल्प नहीं हैं। बहुत सीमित मात्रा में खेती है और जंगल तो अब इनके लिए सपने जैसा ही है।

वाडी जावदा में इकट्ठा हुए लोगों का कहना था कि हमारे मूलगांव में अभी भी बहुत से लोग रह रहे है। सरकार कुछ को डूब से बाहर भी बता रही है। इनका मानना है कि यदि सभी गांवों में गणना करें तो अभी भी कम से कम 1000 परिवार वहां छूट गए हैं। अकेले अट्ठी गांव में अभी 400 घर बकाया (बचे हुए) हैं। यहां तो अभी मात्र 70 परिवार आए हैं। बाकी सबका भी नाम पुनर्वास में है। वे मानते हैं नर्मदा बचाओ आंदोलन की वजह से ही डूब बची हुई है। यदि बांध पूरा बन गया तो न मालूम कितने लोग डूब में आ जाएंगे। अभी तो ठीक से सीमांकन भी नहीं हुआ है। (जबकि पुनर्वास प्रारंभ हुए 7 वर्ष बीत चुके हैं) इस नई जगह सिंचाई भी असफल हो गई है। बोरिंग भी फेल हो गए हैं। कईयों की तो बोरिंग कराने की हैसियत भी नहीं है। गांव में सामूहिक बिजली भी नहीं है। सभी को अपने–अपने कनेक्शन लेने पड़ रहे हैं। इसमें विद्युत मंडल बहुत धन मांगता है। कई लोग तो इतना पैसा भर भी नहीं पा रहे हैं।

इनका मूलगांव यहां से 150 किलोमीटर की दूरी पर है। यहां पर सामान लाने के लिए केवल 750 रु. ही दिए गए थे। मूल गांव से सिर्फ लकड़ी ही ला पाए हैं। बाकी का सामान वहीं छोड़कर आना पड़ा। खेती के लिए मिली जमीन भी दो तरह की है। कुछ को अच्छी जमीन मिली तो कुछ को बंजर। लेकिन नाले का पानी पूरी जमीन में घुस जाता है और इससे फसल खराब हो जाती है। इस गांव में विद्यालय है। गांव में स्वास्थ्य केंद्र का भवन भी है लेकिन चिकित्सा सुविधा नहीं है। इसके लिए 10 कि.मी. जाना पड़ता है।

खेती, किसानी, भोजन, उपज

चर्चा के दौरान जब आहार (भोजन) पर चर्चा प्रारंभ हुई तो जैसे एक नया संसार ही उद्घाटित होने लगा। बात खाद्यान्न या अनाज से शुरु हुईं। उन्होंने बताया कि खेतों से मक्का, ज्वार, बाजरा, उड़द, चवला, तुअर, बांदी (बंटी) मिलता था। वहीं सब्जियों में अंबाड़ी, मिर्ची, भिंडी उगाई जाती थी। वन से मिलने वाली सब्जियां (खाने वाली पत्तियां) थीं हेगुआ, मटला, मुखा, वगा, केवड़ी, फांगा। इसके अलावा अनेक प्रकार के कंद, वाज, आबड़ा, सिरबाला, कवलिया, सांभर फूल, वाल, कुंटले, छीराफुले, कंद्रा, ढुंगला, आहलिया, सिवला (नर्मदाजी के किनारे पालक जैसी सब्जी) और पाणछेला (पानी से निकलता है) प्रमुख हैं। बच्चे जब जंगल में जाते थे तो ये सब ले आते थे। ये सब जंगल में अपने आप पैदा हो जाते हैं।

इसके बाद फलों की बात प्रारंभ हुई। इसकी भी लंबी सूची उनके पास है। इनमें प्रमुख हैं, सीताफल, आंवला, कुहब, महुआ, आम, इमली, गोंदा, बोर (बेर), चारोली, बेल, टेंभर, अहण, अकनिया, जामुन, सुलाढिया और खडदा मन। इसमें से अनेक फलों के

नाम भी हमने पहली बार ही सुने थे। यह बात भी हमारे ध्यान में आई कि इन वनों के डूब में आने से कितनी विशाल जैवविविधता भी पानी में समा गई है।

जंगल से मिलने वाले पदार्थों में शहद भी महत्वपूर्ण है। सामान्यतौर हम मानते हैं कि शहद में विविधता नहीं होती। लेकिन इन लोगों ने बताया कि शहद जिसे ये 'मद' भी कहते हैं की चार किस्में इनके जंगलों में पाई जाती थीं। इन्हें शहद की मक्खियों के आकार, नाम एवं स्वभाव के अनुसार वर्गीकृत किया गया है। पहली मक्खी है 'बावर'। यह एक बड़े आकार की मक्खी है जो कि सामान्य वृक्षों पर अपना छत्ता बनाती है। दूसरी है 'मोअर'। इसकी खासियत यह है कि यह अपना घर जमीन पर ही बनाती है। तीसरी तरह की मक्खी है, 'कोइंता'। यह एक छोटी और बारीक किस्म की मक्खी है, जो कि पेड़ के अंदर के खोखले (कोटर) स्थान में अपना घर बनाती है। इसका शहद खाने के लिए पेड़ को थोड़ा सा काटकर शहद निकालते हैं। चौथे प्रकार की मक्खी 'मद' कहलाती है। यह एक मध्यम आकार की मक्खी है, जो कि सिर्फ घने पेड़ों पर ही रहती है। नए स्थान पर इन्हें शहद भी बहुत कम ही मिल पाता है।

इनका कहना था कि हम जंगल में कभी भूखे नहीं रहे। थोड़ी मात्रा में ही सही लेकिन ये लोग वहां तुअर, उड़द और तिल्ली बेच लेते थे। यदि किसी वर्ष ज्वार ज्यादा हो जाती थी तो उसे भी बेच लेते थे। इसी प्रकार वनोपज के रूप में प्राप्त गोंद, आंवला, महुआ और शहद (मद) भी बेचा जाता था। महुआ का तेल निकालकर भी बेचते थे। गौरतलब है भारत में 40 प्रतिशत आबादी बिना बोए अनाजों और सब्जियों पर जिंदा है। इनका समीपवर्ती बाजार कवांठ (गुजरात) था। यहीं पर आकर ये अपना सामान बेचते थे और बदले में ज्यादातर कपड़े एवं नमक खरीदकर ले जाते थे।

खान–पान के बाद इनके सामुदायिक चरित्र पर बातचीत प्रारंभ हो गई। यहां पर दो आदिवासी समुदाय, पावरा और भील निवास करते है। इन दोनों में ज्यादा अंतर नहीं है। हां भाषा/बोली को लेकर अंतर साफ नजर आता है। पावरा आदिवासी पावरी बोली बोलते है। वही भील आदिवासी भिलाली के साथ ही साथ इनकी सहायक ढोगरी, नेवरी और डेहवली में संवाद करते हैं।



इनके त्योहार एवं अनुष्ठान कमोवेश एक से ही हैं। इनमें प्रमुख हैं,

इंदल पूजा

वाग्देव पूजा

गांव देव पूजा : इसमें सारा गांव एक साथ इकट्ठा होकर निसरगा (प्रकृति) की पूजा करता है।

बामण देव : इसमें सिर्फ नारियल से ही पूजा करते हैं।

खलवाड़ी : इसमें फसल आने के बाद जब उसे खलिहान में डालते हैं, तब पूजा करते हैं।

गांव शिव : पास–पास के दो गांव मिलकर सम्मिलित रूप से शिव की पूजा करते है। दोनों गांवों की सीमा जहां मिलती है वहां पर एक बड़ा पत्थर गाड़ते हैं और उसकी पूजा करते हैं। ऐसी मान्यता है कि इससे दोनों गांवों के संबंध अच्छे बने रहते हैं।

हल पूजा : बारिश की समाप्ति एवं अनाज के पक जाने के बाद हल की पूजा करते हैं और इस पूजा के बाद ही नया अन्न (अनाज) खाते हैं।

निलपी देव : बारिश के प्रारंभ होने के बाद जंगल में जो कुछ भी उगता है या खेती से भी जो कुछ उत्पन्न होता है वह निलपी देव के पूजन के बाद ही खाया जाता है। इसमें गेहूं के जवारे की पूजा करते हैं। यह पूजा पावरा व भील दोनों में कमोवेश एक सी होती है। इसकी पूजा विधि अत्यंत रोचक है। गांव के पांच बुजुर्ग इस पूजा को सम्पन्न करते है। ये पांचों पांच दिनों तक खाट (चारपाई) पर नहीं बैठते। इनके बर्तन और पानी भी अलग ही रहता हैं। कपड़े भी नए बनाए जाते हैं और ये अलग सोते हैं। पूजा के पहले दिन में अपना सिर दही से धोते हैं। पांच दिन बाद सुबह 8 बजे पूजा शुरु होती है। सामान्यतया यह शाम को 4 बजे तक समाप्त हो जाती है। लेकिन कई बार ये पूजा रातभर भी चलती है। इसमें सिंदूर एवं नारियल चढ़ाते हैं तथा बली प्रदान भी करते हैं।

राणी काजल की पूजा : सामान्यतया यह अनुष्ठान वाग्देव की पूजा के साथ कर लिया जाता है। यदि कभी बारिश नहीं गिरती (वर्षा नहीं होती) तो इनकी अलग से पूजा की जाती है। इसमें रातभर गाते हैं और यह माना जाता है कि कोई राणी काजल को सता रहा है इसीलिए पानी नहीं बरस रहा है।

होली : इसमें लोग अलग–अलग रूप धरकर निकलते हैं, स्वयं का मोरपंख, बांस से श्रंगार करने के अलावा पूरे शरीर पर चित्रकारी करते हैं। धूम–धूम कर और घर–घर जाकर पैसे मांगते हैं। किसी मन्नत के लिए होली की मानता रखते हैं और उसके पूरा हो जाने पर रूप धरते हैं।

नई जगह पर बसने के बाद इनके तीज त्योहारों के मनाने पर काफी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा हैं। नदी और जंगल से सबकुछ मिल जाता था। यहां तो सभी सामान खरीदना

ही पड़ता है। इससे थोड़ा फरक तो पड़ता है। फिर यहां का पर्यावरण (मौसम) व पर्यावास (इलाका) भी अलग है। वहां ठंडक रहती थी। नदी और पहाड़ भी हमारे ही थे। नदी से मछली मिल जाती थी। पुनर्वास स्थल पर गाय–भैस भी नहीं पाल सकते। इसी वजह से त्योहारों में पहले जैसा उत्साह नहीं दिखाई पड़ता। उनकी पीड़ा इस एक वाक्य से पूरी तरह अभिव्यक्त होती है कि 'यहां तो सुबह उठते ही पैसे चाहिए।'

पावरा समुदाय की अपनी कुछ विशिष्टताएं हैं। ये अपनी बीड़ी खुद बनाते हैं। साथ ही इनमें गायणा (कथा गायन) की परंपरा रही है। इसमें ये वाद्यों की पूजा करते हैं और विभिन्न गायणे गाते हैं। इनमें प्रमुख हैं : वाग्देव, करण देव (अनाज) नर्मदा नदी, पहाड़ व राणी काजल के गायणे। शादी–ब्याह से संबंधित अनुष्ठान पर इनका कहना है कि यह कार्य दो दिन में सम्पन्न होता है। पहले दिन हल्दी लगती है। इसके बाद एक रात व एक दिन खाना व नाश्ता होता है। सभी लोग पारंपरिक वाद्य बजाकर नाचते हैं। इनमें लड़की के पिता को दहेज देना पड़ता है। गांव के सभी लोग मिलकर मदद करते हैं। आजकल 4000 रु. दहेज चल रहा है। इसमें लड़की के कपड़े, जेवर व खाना शामिल है।

पैसा होगा तो पानी मिलेगा

बाड़ी जावदा से चिखली का रास्ता भी काफी लंबा है। यहां पहुंचते–पहुंचते शाम हो गई थी। झुरपुटे में चिखली को ढूंढ पाना भी काफी कठिन कार्य था। मुख्य सड़क से करीब 3 किलोमीटर अंदर है चिखली पुनर्वास बस्ती। यहां पहुंचने के लिए कोई विशेष संकेत भी दिखाई नहीं दिए। हमने मांगलिया को फोन लगाया। उनके अनुसार किस्मत से कभी–कभी ही फोन लगता है, यानि हमारी किस्मत अच्छी थी। उन्होंने अपने बेटे को साइकल से हमें लेने भेजा। दो बच्चे हमें लेने आए थे। हमने कहा कि उनमें से एक हमारे साथ बैठ जाए। लेकिन उनका कहना था, पास में ही तो है। क्या फर्क पड़ता है। वे रास्ते बताते हुए आगे चल रहे थे। जिस सड़क पर हम चल रहे थे उससे आभास हो रहा था कि इस पर साइकल और कार एक ही गति से चल सकती हैं।

मांगलिया कालिया पावरा के घर में घुसते ही अनुभव हुआ जैसे कि हम किसी और लोक के घर में आ गए हैं। लकड़ी पर नक्काशी से सजा उनका घर बला का खूबसूरत दिखाई पड़ रहा था। एक बड़े कमरे को अपनी सुविधा और आवश्यकतानुसार जिस प्रकार विभाजित किया गया वह अचंभित करने वाला था और आधुनिक 'इंटीरियर डेकोरेटर्स' के लिए एक सबक। साड़ियां और सारे कपड़े खुले में रखे थे लेकिन उनके सहेजे जाने में सौंदर्य बोध साफ झलक रहा था।

मांगलिया कालिया पावरा मूलतः आदिवासी पावरा समुदाय के हैं। उनका मूलगांव भादल था। जो कि झरकन नदी के किनारे था। यह नदी आगे जाकर नर्मदा में मिलती है। भादल धड़गांव तहसील का हिस्सा था, जो कि नंदूरबार (पूर्व में धूलिया) जिले में

आता है। अब उन्हें नंदूरबार जिले की शाहदा तहसील और ब्लाक के चिखली पुनर्वास स्थल पर लाकर बसाया गया है। इनके पिताजी और भाई अभी पुराने गांव में ही रह रहे हैं। उनसे कहा जा रहा है कि अभी डूब नहीं आ रही है। (यानि पिता और पुत्र को अलग–अलग करने के बाद आकलन हो रहा है कि अभी डूब नहीं आएगी। यह पुनर्वास अधिकारियों और सरकार का षड़यंत्र है जिससे कि सामूहिक प्रतिरोध की संभावनाएं धीरे–धीरे समाप्त हो जाएं) इनके मूलगांव में कुल 200 घर थे। इसमें से अन्य 40 को गुजरात के खेरवाड़ी जो कि अक्कलकुआं डेडिया पार से आगे है, में बसाया गया है। चिखली में इस गांव के 60 घर हैं। बाकी सब अभी मूलगांव में ही हैं।

यह पूछने पर कि क्या अभी भी पुराने लोगों के संपर्क में हैं? मांगलिया और वहां इकट्ठा अन्य लोगों का तो सब्र का बांध ही टूट गया। अब उनके चेहरे पर उदासी और बेबसी साफ नजर आने लगी थी। उन्होंने कहा कि आप तो देख ही रहे हैं कि यहां जगह होने के बावजूद हमें एक साथ नहीं बसाया गया। इसे बदमाशी नहीं तो और क्या कहा जा सकता है। हमें काफी दूर–दूर बसाया गया है। यदि खेरवाड़ी को लें तो यहां से जाने का (एक तरफ का) किराया 200 रु. बैठता है। यदि हम पुराने गांव जाना चाहें और तरणमाल के रास्ते से जाएं तो 40 रु. लगते हैं। लेकिन यहां से पूरे एक दिन पैदल चलना पड़ता है। दूसरा रास्ता धड़गांव होकर जाता है। इसमें भूषिया तक पहुंचते हैं वहां से बोट से जाना पड़ता है। इस रास्ते से जाने में 150 रु. लगते हैं। मांगलिया और अधिकांश लोगों का कहना था कि वे पिछले 1 वर्ष से अपने मूलगांव नहीं गए हैं। मांगलिया के पिताजी और भाई एक बार जरुर आए थे।

मांगलिया के चार लड़के और तीन लड़कियां हैं। वे मूलगांव में भी खेती करते थे और यहां भी खेती करते हैं। 5 वर्ष पूर्व उनका विस्थापन हुआ है। यहां उन्हें जमीन के बदले जमीन की नीति के अंतर्गत 5 एकड़ जमीन मिली है। साथ ही 60x90 का एक भूखंड घर बांधने (निर्माण करने) हेतु मिला है। नया घर बनाने के लिए कोई धन नहीं मिला, अलबत्ता पुराने घर का सामान यहां लाने के लिए यातायात व्यय अवश्य ही मिला है। उनका कहना है कि यहां की जमीन कम उपजाऊ है और कीटनाशक तथा रासायनिक खाद के उपयोग की वजह से खेती अत्यंत खर्चीली भी है।

बात तीज त्योहारों पर केंद्रित हुई। यहां इकट्ठे हुए लोगों का कहना था कि मूलगांव में होली बहुत धूमधाम से मनाते थे। मोरपंख, कांसे के घुंघरु बांध कर नाच करते थे। दीवाली पर बैल को अनाज खिलाते थे और उसका श्रंगार करते थे। यहां कुम्हार से मदद लेकर ढाबा (दिया रखने का बर्तन) बना लेते हैं और उसे खुद ही पका लेते हैं।

इंदलपूजन – यह 5 या 9 साल में एक बार होता है। इसका मेला लगता है। रातभर नाच गाना चलता है। अनुष्ठान का पूरा सामान इकट्ठा होता है। जो इंदलपूजा करता है वह ही सभी को खाना खिलाता है। अंदाजन 3000 तक लोग

इकट्ठा हो जाते थे। ऐसे में कम से कम दो हजार लोग तो 'भादी की खिचड़ी' (जो जंगलों में पकती है) खाते हैं।

वाग्देव पूजन : बारिश के मौसम में जब अनाज कुछ पक जाता है तब उसकी पूजा करने के बाद ही खाते हैं। इसमें भुट्टे, चवला, काचर चढ़ाए जाते हैं। पूजा के बाद ही नया अनाज खाया जा सकता है। वाग्देव पूजन को लेकर एक अन्य महत्वपूर्व अनुष्ठान गाय के बच्चे (बछड़े/बछड़ी) को लेकर होता है। उस वर्ष में जिन भी गायों ने बच्चों को जन्म दिया हो ऐसी गायों का दूध इकट्ठा कर (उसी गांव के लोग) उसमें ज्वार का घाटा (थूली) पकाते हैं। इसमें दूध के अलावा और कुछ भी नहीं डाला जाता। बनने के बाद गांव के सभी लोगों को यह प्रसाद देते हैं। ऐसी मान्यता है कि देवता के नाम से ही यह प्रसाद अत्यन्त सुस्वाद लगने लगता है। यहां पिछले साल 5 साल में पहली बार छोटे रूप में इस पूजा को करने का प्रयास किया हे।

नवई : इसमें देवपूजन के बाद ककड़ी को बारीक काटकर उससे अपने–अपने घर की पूजा करते हैं।

शुरुआत में खेती किसानी पर बातचीत में ही छूट गई थी। लोगों का कहना है कि मूलगांव में ज्वार, बाजरा, मूंगफली, मक्का, चवला, मूंग, उड़द, भादी (चावल के छिलके भी तरह का बारीक अनाज) और तिल्ली उपजाते थे। तिल्ली, मूंगफली और तुअर को बाजार में बेचते थे। बाजार करने ककराना (मध्यप्रदेश में डही से 18 किलोमीटर दूर) जाते थे। वहीं से अंबाड़ी के बीजों के बदले नमक लेकर आते थे। नए स्थान पर कपास, ज्वार (बहुत कम) सोयाबीन एवं गेहूं लगाते हैं। मूल गांव में खाद और दवाई की खरीदने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। यहां तो सभी कुछ बाजार से खरीदना पड़ता है। अनाज में भी बहुत बीमारी लगती है।

शिक्षा की बात होने पर उन्होंने कहा कि भादल में तो नर्मदा बचाओ आंदोलन की जीवनशाला थी। इनके तीन बच्चे जीवनशाला के माध्यम से ही पढ़ाई आरंभ कर अब 12वीं की परीक्षा दे रहे हैं। स्वास्थ्य को लेकर उनका कहना था कि सरकारी दवाखाना है जरुर मगर बहुत सुविधाजनक नहीं हैं। उनकी पारंपरिक स्वास्थ्य प्रणाली अब कायम नहीं रह गई है। जंगल पास में था तो कई तरह की बीमारियों का उपचार खुद ही कर लेते थे। अब तो पूरी तरह से डॉक्टर के भरोसे हैं और वो क्या करते हैं यह आपसे छुपा थोड़े ही है, जो हम आपको बताएं।

पुनर्वास स्थलों पर सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक अनुष्ठानों को लेकर उनका कहना था। यहां मूलगांव जैसा कुछ भी नहीं है। हमारे आस–पास का समाज भील है। हम दोनों की भाषाएं अलग–अलग हैं। अभी तक हमें उनकी भाषा/बोली समझ में नहीं आती। हमारी भाषा तो पावरी है और हम तो आपस में इसी में बात करते हैं। बात इतनी ही नहीं है यहां बोलचाल व पढ़ाई के लिए तीसरी भाषा (मराठी) का बोलबाला है। बच्चे यहां की भाषा बोलने लगे हैं और हम अपनी ही भाषा बोलते हैं।

ऐसा कितने दिन चल पाएगा? उनका मानना था कि ऐसा बुरा तो है लेकिन सीखनी तो पड़ेगी ही। कोशिश कर रहे हैं शायद सीख पाएं। वैसे घर में अभी भी अपनी ही बोली, पावरी में ही बात करते हैं। नई जगह पर आने के बाद इन्हें जिस पहली समस्या का सामना करना पड़ा वह थी, स्थानीय समुदाय या पहले से बसे समुदाय की स्वीकार्यता। इनका कहना था कि ये लोग पहले तो हमें चोर कहते थे। शुरुआती दौर में बहुत अपमान सहना पड़ा। लेकिन सहने के अलावा और कोई चारा भी नहीं था। पांच सालों में इतना आमूलचूल परिवर्तन आ गया है कि अब वे ही लोग कहने लगे हैं कि हमारे आने से उनके खेतों में चोरी कम हो गई है।

मौसम या जलवायु को लेकर इनका कहना था कि वहां बारिश का पानी बह जाता था। यहां खेतों में पानी भरा रहता है। इससे फसल खराब होने का अंदेशा बना रहता है। यहां गर्मी बहुत ज्यादा पड़ती है। बिजली रहने पर ही पानी मिल पाता है। वहां तो नर्मदा नदी का पानी हमेशा ही मिल जाता था। वहां खर्चा भी नहीं होता था। यहां मोटर खराब होने पर पैसा देना पड़ता है। यदि पास में पैसा होगा तो ही पानी मिलेगा।

किसी को भी यहां पहले जितना (यानि मूलगांव) अच्छा नहीं लगता। वहां वजन भी नहीं उठाना पड़ता था। इसके अलावा यहां खर्च बहुत करना पड़ता है। पहले बैल से ही अनाज निकाल लेते थे। यहां तो बोने से लेकर काटने तक हर काम का पैसा लगता है। हर काम के लिए ट्रेक्टर बुलाना पड़ता है। चारे की कमी की वजह से गाय भैस भी नहीं पाल सकते। वहां थोड़े भी पैसे होते थे तो अच्छे से सब निकल जाता था। यहां तो तुरंत कर्जा करना पड़ता है। दवाई हो, बीज हो या खाद सभी कुछ उधार लाना पड़ता है। समय पर पैसा न मिलने पर चांदी रखकर (गिरवी) पैसा निकालना पड़ता है। बहुत ही कष्ट से उन्होंने बताया कि चांदी रखने पर भी 36 प्रतिशत प्रतिवर्ष (3 रु. सैकड़ा प्रतिमाह) की दर से ब्याज देना पड़ता है।

इन सबको यहां आए पांच साल हो गए हैं लेकिन अभी तक बस्ती में बिजली नहीं है। 8000 रु. में सोलर लाइट खरीदी है। बिजली का कनेक्शन न मिलने की वजह पूछने पर उन्होंने बताया कि जिन लोगों की पहले यह जमीनें थीं (यानि सरकार ने जिनसे अधिग्रहित की/खरीदी) उन्होंने बिजली का बिल नहीं भरा था। वह बिल बकाया था। विद्युत बोर्ड का कहना था कि नया कनेक्शन देने से पहले पुराना बिल भरना पड़ेगा। हमारी शिकायत पर एक अधिकारी निलंबित भी हुआ। (शायद राजस्व विभाग का)। लेकिन कनेक्शन नहीं मिला। रिश्वत देकर खेतों में बिजली जला रहे हैं। अंत में उन्होंने कहा कि इस पुनर्वास बस्ती में 200 प्लॉट हैं। अभी केवल 100 का आबंटन हुआ है। 100 खाली हैं। किसे देंगे पता नहीं। यह पूछने पर कि क्या अभी भी अपने मूल गांव लौटना चाहते हैं? तो उन्होंने कहा क्यों नहीं। इसके बाद ठंडी सांस लेते हुए मांगलिया ने कहा 'परिवार बढ़ने पर तो पहाड़ों पर लौटना ही पड़ेगा।'

चिखली के लोगों की यह स्वीकारोक्ति कि परिवार बढ़ने पर पहाड़ों पर जाना ही पड़ेगा से साफ हो जाता है कि पुनर्वास नीति केवल तात्कालिकता के आधार पर बनाई गई है। इसमें भविष्य की कोई कल्पना नहीं की गई है, जो कि विशेषतः आदिवासी समाज को विस्थापन में ध्यान में रखी जानी चाहिए थी। बहरहाल यह किस नीति निर्माता के ध्यान में नहीं आया कि हजारों–हजार वर्षों से नगरीय समाज में रहने के बावजूद अनुसूचित जाति के लोगों को उनके अधिकार संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार नहीं मिल पा रहे हैं। ऐसे में आदिवासी समाज की वर्तमान पीढ़ी क्या नगरीय या नकद व्यवस्था के प्रति स्वयं को तत्काल अनुकूल बना पाएगी? कोई इक्का–दुक्का उदाहरण हो सकता है जो कि ऐसा कर पाए लेकिन क्या इस अपवाद को सभी पर लागू किया जा सकता है? अपनी इस यात्रा में हम नर्मदा से बहुत दूर आ गए थे। लेकिन बीच–बीच में आदिवासियों के अपने–अपने समुदायों को लेकर होने वाले विवादों से नर्मदा व ताप्ती की कहानी याद हो आई।

नर्मदा और तापी (ताप्ती) की कहानी

मथवाड़ी समुदाय का मानना है कि बांस की एक जड़ से पानी का प्रवाह के शुरु होने से नर्मदा की उत्पत्ति हुई है। नर्मदा के उद्‌गम के नजदीक से ही ताप्ती या तापी का भी उद्‌गम हुआ है। इन दोनों ने ही समुद्र से विवाह किया। कुछ समय पश्चात दोनों में झगड़ा हो गया और दोनों ही घर से निकल गई। नर्मदा अपने साथ घी, चवलई की भाजी और टुमल लेकर चल पड़ी। वहीं ताप्ती ने छांछ को अपने साथ बांध लिया। ऐसी मान्यता है कि नर्मदा के प्रवाह में हरे रंग की एक सीधी लकड़ी जैसी दिखाई देती है और चवलई की भाजी इसी में अटकी है। इतना ही नहीं यह भी माना जाता है कि नर्मदा जो घी लेकर चली थी, उसी के कारण नर्मदा के पत्थर इतने चिकने हो गए हैं और छांछ की वजह से ताप्ती का पानी छांछ जैसा दूधिया हो गया है। नर्मदा और ताप्ती के आपसी झगड़े के थोड़े दिन बाद पति यानि समुद्र ने दोनों को संदेशा भेजा कि देखें कौन सी पत्नी मेरे पास पहले पहुंचती है। इस पर ताप्ती समतल और सीधे रास्ते से बही तो दूसरी ओर नर्मदा पहाड़ों पर से बहने लगी। इस प्रकार ताप्ती तेज वेग से बहकर शीघ्र ही समुद्र तक पहुंच गई या उसमें मिल गई। इस पर समुद्र ने कहा की छोटी पत्नी तो आ गई, मगर बड़ी कहां रह गई। तब उसने नर्मदा की खोज के लिए गिरमटू मासी को भेजा। मासी ने नर्मदा को ढूंढकर उससे कहा कि तू अभी तक यहीं है, जबकि ताप्ती पहले ही पहुंच गई है। यह सुनकर नर्मदा को बहुत गुस्सा आया। इसी गुस्से में वह झाड़, जंगल, पहाड़ सभी को रौंदते हुए समुद्र में जा मिली और तापी के संगम को भी बहा दिया। दोनों की इसी दुश्मनी के चलते आज भी नर्मदा नदी में ताप्ती का और ताप्ती नदी में नर्मदा का नाम नहीं लिया जाता। ऐसी मान्यता है कि नाम लेने से व्यक्ति पानी में डूबकर अपने प्राण गवां बैठता है।

एक सम्पन्न विस्थापित

महाराष्ट्र के नंदुरबार जिले की तलौदा तहसील की राजवा पुनर्वसन बस्ती में जहांगीर बलवा पावरा से मुलाकात इस यात्रा में दूसरी बार अचंभित कर रही थी। वड़छिल के केशु भाऊ के मुख से सुनी गई उनकी कार्यशैली और कृषि उपकरणों की सूची ने जहां अचंभित किया था, वहीं जहांगीर भाई का पूरा कलेवर कमोवेश चमत्कृत कर रहा था। सफेद बुर्राक पोषाख और टोपी। सारी आधुनिक सुविधाओं से लैस घर।एक सफेद बोलारो में अपने सहयोगियों के साथ उनका आना, जहांगीर भाई की हैसियत साफ बता रहा था। वे इस इलाके में राष्ट्रवादी कांग्रेस दल के महत्वपूर्ण नेता हैं। उन्होंने बताया कि उनका मूलगांव सिक्का है जो कि वर्तमान गांव से करीब 50–55 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। उनका विवाह सावरा दीगर में हुआ। ये दोनों ही डूब क्षेत्र में आते हैं।

जहांगीर भाई का लहजा अभी भी उनके आदिवासी सौंधेपन को दर्शाता है। तमाम ऊंच नीच हो जाने के बावजूद उनमें गजब का आत्मविश्वास है और वे अपनी कमजोरियां और की गई गलतियों को छुपाने की बहुत कोशिश भी नहीं करते। हमने उनसे बात की शुरुआत दोनों स्थानों में आए परिवर्तनों से की। गौरतलब है जहांगीर भाई सन् 1992 में विस्थापित हो गये थे। यानि पूरे दो दशक पहले। उनका कथन आदि से अंत तक एक रौ में आ गया। हमें शायद एकाध जगह ही उनसे कोई सवाल पूछना पड़ा हो। उनका कहना था

हम पहले महुआ की शराब पीते थे। अब वह तो मिलती नहीं इसलिए ठेके की पीना पड़ती है। पहले उल्टी–दस्त का इलाज तो कर ही लेते थे, अब तो वह भी नहीं कर पाते। डॉक्टर के पास भागते हैं। अब अनाज ज्यादा पकने लगा है तो दूसरी तरफ कर्जा बहुत बढ़ गया है। पहले खेती और बाकी के काम सब मिलजुल कर करते थे, अब कोई भी हाथ से काम नहीं करना चाहता। स्थितियां यहां तक बिगड़ गई हैं कि अब बिना पढ़े–लिखे भी खेती में काम नहीं करना चाहते। (स्वयं जहांगीर भाई के 3 लड़कों में से बड़ा, एम.एस.सी. और बी.एड. पास है और शिक्षक है। दूसरा अभी इंजीनियरिंग की पढ़ाई कर रहा है। एक लड़का खेती करता है।) उनका मानना है कि कुछ दिनों में खेती संकट में पड़ जाएगी।

इधर सट्टे का व्यसन भी बहुत बढ़ गया है। मोबाइल ने भी संकट बढ़ाया है। एकाएक उन्हें कुछ याद आता है और वे कह उठते हैं पहले बिना तेल का खाना भी खा लेते थे। लेकिन अब ऐसा कर पाना संभव नहीं है। उन्होंने बताया कि वे सन् 1985 से नर्मदा बचाओ आंदोलन के साथ कार्य कर रहे थे। सन् 1991 में उनके मतभेद हुए और वे अगस्त 1991 को इससे (आंदोलन) से अलग हो गए। (गौरतलब है कि जहांगीर भाई को आंकड़े मुखाग्र हैं या अलग होने की टीस अभी तक बाकी है।) मणिबेली संघर्ष के बाद वे अलग हुए। संघर्ष के दौरान जंगल वाले लोग जेल गए थे,

तब मैं उन्हें मनाने के लिए झूठ बोला। इससे मेधा दीदी (मेधा पाटकर) नाराज हो गई। मुझे दलाल कह दिया। मैं तो छोटे–छोटे कार्यक्रम करता था। तब 70 गांव जंगल गांव (वन ग्राम) थे, रेवेन्यु ग्राम नहीं। इसके बावजूद वे अपनी बस्ती का नाम मेधा पाटकर के नाम पर रखना चाहते हैं। इस हेतु उन्होंने महाराष्ट्र सरकार से पत्राचार भी किया था, लेकिन शासन की नीति है कि जीवित व्यक्ति के नाम से गांव का नामकरण नहीं हो सकता।

चर्चा को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने बताया कि मैंने 26 अगस्त 1992 को 12 गांव की मीटिंग बैठाई। मुझे तो सन् 1992 में ही जमीन मिल गई थी। उसी साल मैं वहां रेवा नगर में आ गया। वहां सरकार ने टीन के घर बना दिए थे। सन् 1994 में यहां पर जगह मिली। मूल गांव से घर का सारा सामान ले आए थे उसी से नई जगह घर बनाया जिसमें आज आप बैठे हैं। संस्कृति के बारे में बात करने पर उन्होंने कहा कि बुरी बात यह है कि आदिवासी को हिंदू पावरा या हिंदू भील लिखना पड़ता है। त्योहारों व अनुष्ठानों के बारे में भी उनकी जानकारी काफी मजबूत थी। उन्होंने बताया कि देव पूजा करते हैं जिसमें प्रत्येक गांव एवं पूरा गांव एक साथ पूजा करते हैं। इंदल पूजा में खूब बड़ा ढोल बजाकर पूजा करते है। होली को उन्होंने बहुत बड़ा कार्यक्रम बताया।

दीवाली को लेकर उनका कहना था कि पावरा और भील दोनों ही मनाते हैं। इस दिन खेती के काम आने वाले पशुओं की पूजा करते हैं।

देव दीवाली के लिए उनका कहना था कि इसे अपने द्वारा नियत समय पर मनाते हैं। इस दिन मुर्गा काटते हैं और दारु पीते हैं। लेकिन लोगों को अगले दिन खिलाते हैं।

छोटा उदयपुर और झाबुआ के पावरे अलग–अलग तरह से होली मनाते हैं। जब तक पूजा नहीं कर लेते तब तक कोई नया अन्न नहीं खाते। यहां की हर पूजा में बली प्रदान अनिवार्य है। एक पूजा में खल्ला खंबा रखते हैं और उस पर जुआर फेकते हैं। इसके बाद एक मुर्गा एवं एक मुर्गी काटते हैं। इसी तरह गिरहण माता एवं झुपी राजा (दरवाजा व देहरी) की भी पूजा करते हैं। चर्चा जारी रखते हुए वे बताते हैं कि अब त्योहारों को लेकर उत्साह बहुत कम रह गया है। पहले त्योहारों में सभी जाते (शामिल होते) थे। अब नए बच्चे तो होली तक में नहीं जाते।

जंगल के बारे में बात करते हुए उनकी आंखों में चमक उभर आई। वे बोले वहां कम से कम 200 तरह की सब्जियां और फल मिलते थे। अनाज भी बगर (बिना हल चलाए) देते थे। तीन चार तरह का अनाज हो जाता था। बीज की कमी होने पर उधार ले लेते थे। फसल आने पर वापस कर देते थे। यहां तो अब आधुनिक खेती होती है और सिर्फ पैसे से ही खेती होती है। वहां तो श्रमदान होता था। सभी छोटे बड़े का सम्मान रहता था। पीढ़ी के बदलने से भी बदलाव तो आता ही है। यहां पर

हम गेहूं, कपास, मक्का, केला और पपीता लगाते हैं। किसी भी तरह की पारंपरिक फसल नहीं उपजाते। एक बार फिर अनायास ही कहते हैं, मेरा गांव यहां से 55 किलोमीटर दूर है। तापी नदी भी 15 किलोमीटर है। नर्मदा से तो सीधा संपर्क ही नहीं बचा।

मौसम को लेकर उनका कहना था कि इसमें हर साल बदलाव हो रहा है। जंगल कटने से फरक पड़ रहा है। पहले मौसम अच्छा था। जंगल में खाने पीने की ढेर सारी चीजें मिल जाती थीं। शहद भी मिल जाता था। यहां तो सबकुछ खरीदना ही पड़ता है। पानी की स्थिति पर उनका कहना था कि इस इलाके में बोर भी नहीं होता। कुंए बावड़ी से पानी लेना पड़ता है।

शादी ब्याह के बारे में बात करने पर उनका कहना था अब तो भील एवं पावरे में भी शादी होने लगी है। दहेज अभी भी लड़के वाले ही देते हैं जो कि समाज द्वारा ही नियत होता है। अभी पावरे में 9,150 रु. का दहेज दिया जा रहा है। कुछ समय से भील स्वयं को नीचे वाला समाज समझने लगे थे। इसलिए अपने नाम की पीछे पावरा लगाने लगे। वैसे बड़वी और तड़वी वगैरह भील में आते हैं। पावरा समुदाय मध्यप्रदेश के बड़वानी के इलाके में भी रहता है। वहां वे पाखे एवं पटले उपनाम (सरनेम) लगाते हैं।

उनका कहना है कि रोजरा में सिक्का, भरढ़, शैलग्घा, थुआनी, केली, जुनवने, भादल, डोमखेड़ी और हुण्डय और रोशमल से लाकर विस्थापितों को बसाया गया है। इस बस्ती में 400 से 500 परिवार रहते हैं। अभी सभी को एक हेक्टेयर जमीन ही मिली है।

काफी समय बाद उन्होंने अपना इस इलाके में आने का इतिहास बताया। उनके अनुसार 'पावरे मूलतः राजस्थान से गुजरात में आए फिर मध्यप्रदेश में। इसकी एक रोचक कहानी भी सुनाते हुए कहते हैं, हमारा मूल गांव पावागढ़ है और पैतृक गांव छोटा उदयपुर तालुका का कवांठ है। हम लोग 370 साल पहले जामली गांव आ गए थे। हमारा कुटुंब मीणा राजा (मैणा बावड़ी या मीणा की बावड़ी) के यहां पहुंचा। एक जावरा जोड़े की नई–नई शादी हुई थी। हम उसे राजा के सामने नचा रहे थे। राजा बोला ये औरत (दुल्हन) हमें दे दो। हमारे लोग बोले कि पहले रीति रिवाज हो जाने दो उसके बाद दे देंगे। इसके बाद ये लोग रातों–रात वहां से भाग आए और यहां आकर बस गए।

जैसा कि शुरु में ही कहा था कि जहांगीर भाई का वैभव साफ दिखाई देता है। उन्होंने बताया कि उनके लड़की की शादी में 13.50 क्विंटल चावल खर्च हुआ था। इस पर हमने पूछा सामान्य घरों में कितना लगता है, तो उनका जवाब था 2 से 3 क्विंटल। शादी की बात करते हुए उन्होंने कहा हम तो चावल से नहीं जुआर (ज्वार) से पूजा करते हैं और साथ ही साथ दारु से भी।

अंत में उन्होंने कहा कि भैया मैं तो अभी भी घर पर महुआ की ही (शराब) बनाता हूं।

अब इसके आगे क्या कुछ कहा जाए? उनसे हुई बातचीत ने चर्चा को एक नया मोड़ प्रदान कर दिया था। विश्वास व अविश्वास के मध्य झूलता संघर्ष कई स्थानों पर शून्य होता नजर आता हैं वहीं दूसरी ओर आदिवासी समुदाय में भी किसी एक व्यक्ति का वर्चस्ववादी हो जाना भी एक तरह के सांस्कृतिक संकट की पूर्व अनुभूति जैसा ही था। यदि किसी आदिवासी के यहां शादी में 13.50 क्विंटल चावल लगा हो तो उसकी आर्थिक हैसियत का सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है। जबकि दूसरी तरफ अधिकांश विस्थापित आदिवासी आर्थिक संकट में हैं। इतना ही नहीं यह शहरी या गैर आदिवासी संस्कृति की बुराईयों को अंगीकार कर लेने की स्वीकारोक्ति भी है। बहरहाल कुछ हकबकाए और विभ्रम सी स्थिति में हम वापस शाहदा लौट आए।

महुआ का पेड़ हमारा नहीं है

बांध पीड़ितों के बीच नर्मदा बचाओ आंदोलन के अतिरिक्त महाराष्ट्र के नंदुरबार जिले की तलौदा तहसील में स्थित लोक समन्वय प्रतिष्ठान सक्रिय है और प्रतिभा शिंदे इस समूह का नेतृत्व करती हैं। वे लम्बे समय तक नर्मदा बचाओ आंदोलन के साथ काम करने के बाद अब अलग से कार्य कर रही हैं।

प्रतिभा शिंदे, जिन्हें इलाके में प्रतिभा ताई के नाम से पुकारा जाता है, ने अपनी बातों का सिलसिला कुछ मर्मस्पर्शी घटनाओं से किया। उन्होंने बताया कि पुनर्वास हेतु 7 घनत्व वाला 4200 हेक्टेयर जंगल काटा गया। काटते समय महुआ के पेड़ों को छोड़ दिया गया। ऐसी ही एक जगह जब मैं सुबह 9 बजे पहुंची तो वहां मौजूद लोगों से पूछा कि नौ बज चुके हैं अभी तक फूल क्यों नहीं उठाए। इस पर वहां मौजूद लोगों ने कहा कि ये फूल बगल वाले खेत में हैं और यह खेत पड़ौस के गांव वाले का है। इसलिए वे ही इसे ले सकते हैं। गौरतलब है तब तक वह स्थान किसी को भी आबंटित नहीं हुआ था। इसलिए ये पूरा वर्ग एक अलिखित समझौते या परंपरा का पालन करता है, कि जो अपना नहीं है उसे छूना भी नहीं है।

एक और घटना उन्होंने जोरदार लूला पावरा की बताई। वह मूल गांव में पुलिस पाटिल (ग्राम चौकीदार) थे। जब वह रोजवा पुनर्वास बस्ती में आए तो बहुत बीमार रहने लगे थे। उनका वजन भी करीब 15 किलो कम हो गया था। इलाज से भी फायदा नहीं हुआ। एक रात वह जोर–जोर से रोने लगे। बोले मुझे सपने में नर्मदा की याद आ रही थी। मैं वहां मछली पकड़ रहा था। इसके बाद से उन्हें नींद न आने की बीमारी सी हो गई। प्रकृति के साथ जीने का जो सुकून था वह उनसे छिन गया था। रोजवा (पुनर्वास बस्ती) और रेवा (एक तरह का ट्रांजिट कैंप शिविर) दोनों ही स्थानों पर विस्थापितों की मानसिक स्थिति काफी खराब थी। करीब 15–20 लोगों का तो मानसिक इलाज करवाना पड़ा। ये सभी पुरानी स्मृतियों से बाहर नहीं आ पा रहे

थे। पहाड़ों पर चढ़ना और वहां उन्हें प्राप्त व्यक्तिगत स्वतंत्रता की अनुपलब्धता भी उन्हें अत्यंत विचलित करती रहती है।

विस्थापन के पूर्व उनके अपने–अपने गांव के अपने–अपने समुदाय, तीज, त्योहार, रीति रिवाज और अनुष्ठान थे। इन नई परिस्थितियों में एक गांव को आठ–आठ गांवों में बांट दिया गया है और दूसरी ओर एक पुनर्वास बस्ती में आठ–आठ गांवों के लोगों को बसा दिया गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि गांव के हिसाब से फालिये तो (मोहल्ले) बन गए हैं और वहां अपने–अपने गांवों की पंरपराएं आधे अधूरे ढंग से प्रचलित हैं। यहां तक कि होली जैसे सामूहिक त्योहार भी अब फालिया के अंदर ही मनाए जाने लगे हैं।

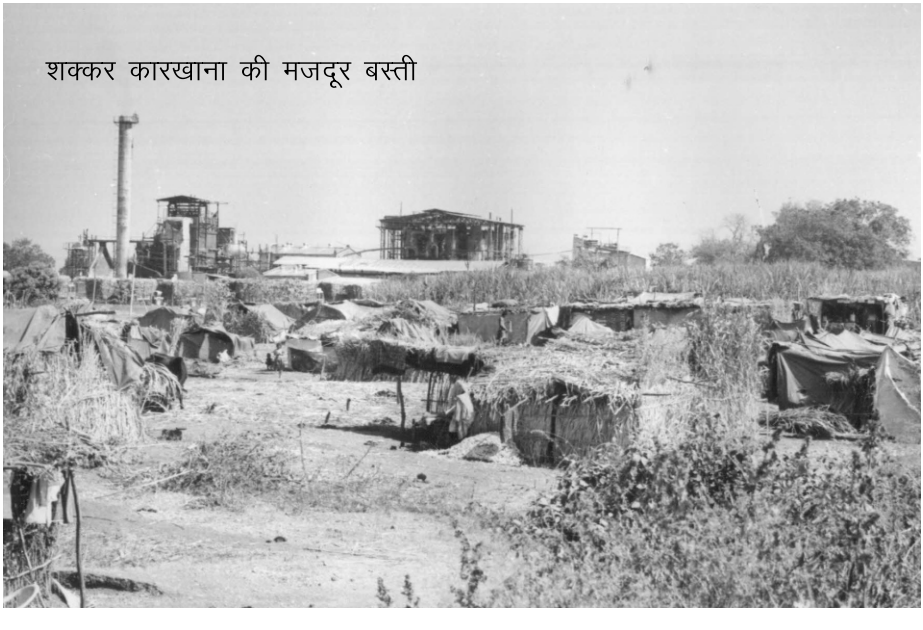
इसीलिए रोजवा (पुनर्वास गांव) न तो आदिवासी गांव बन पाया और न ही बस्ती की तरह ही विकसित हो पाया। यहां ग्राम की संस्कृति विकसित ही नहीं हुई एवं बसाहट के इतने वर्ष बीत जाने के बावजूद सामूहिकता की भावना भी विकसित नहीं हो पाई। चर्चा को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा कि पहले यदि किसी घर में मौत हो जाती थी तो हर घर से एक लकड़ी अंतिम संस्कार के लिए आती थी। मौत वाले घर में जमीन पर एक रुमाल डाल दिया जाता था। सभी उसमें पैसे डालते जाते थे। इससे मृत्यु संस्कारों का खर्च वहन किया जाता था। अब यहां ऐसी कोई परंपरा देखने को ही नहीं मिलती।

महिलाओं की स्थिति पर उनका कहना था कि महिलाएं (विस्थापन के बाद) न तो देहाती/पहाड़ी रह पाई हैं और न ही शहरी बन पाई हैं। गांव से मिला उनका अपना नैसर्गिक सौंदर्य कहीं खो गया है और नई लड़कियां लिपिस्टिक को ही जैसे आधुनिकता का पैमाना मानने लगी हैं। नौवारी साड़ी, नाटी साड़ी और लुगड़ा भी छूटता जा रहा है। बात बाहरी आवरण तक सीमित होती तो भी इससे समझौता किया जा सकता है और समय व स्थान परिवर्तन को एक कारण माना जा सकता है। लेकिन सांस्कृतिक पतन इसके आगे राह बना चुका है। नई बसाहट में मुक्त महिला और लैंगिक समानता समाप्त हो गई है। अब पुरुष प्रभुत्व बढ़ता ही जा रहा है। यदि आंदोलन की बात करें तो पहले महिलाएं अधिक संख्या में आती थीं। अब लगातार कम होती जा रही हैं। इससे भी गंभीर बात यह है कि वे अब निर्णय प्रक्रिया से भी बाहर होती जा रही हैं। इसको समझाते हुए वे कहती हैं, मूल गांव में होली पर भोंगरिया (भगोरिया) में लड़के–लड़कियां अपनी पसंद की शादी कर लेते थे। नई जगह पर ऐसा हो पाना भी संभव नहीं रहा। दहेज भी बढ़ता जा रहा है और लड़कों की शादियां भी जल्दी टूट रही हैं।

बात को नई दिशा देते हुए वे कहती हैं कि आदिवासी समुदाय पहले नमक और कपड़े ही बाजार से लाता था। महुआ के तेल में सब्जी बना लेते थे। धड़गांव तक यही चलता था। अब तो पैसे (धन) की संस्कृति बन गई है। पहले तो सब्जियां तक

स्वयं ही उपजाते थे। अब तो अन्न और सब्जी दोनों ही बाजार से खरीदने पड़ते हैं। सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश को भारतीय आदिवासी समाज में अलग–अलग कर देख पाना कमोवेश असंभव ही है। आदिवासी समुदाय वाचिक परंपरा वाला समुदाय है। एक उदाहरण देते हुए वे बताती हैं कि भरढ़ के बटु पाटिल को अपनी 22 पीढ़ियों के नाम याद थे। नए लोग तो अब अपनी तीन पीढ़ी भी नहीं बता पाते। मूल गांव में जमीन के लीपने में ही विभिन्न प्रकार के डिजाइन डाल देते थे। नई जगह पर ऐसा कुछ नहीं करते। पहले अपने हथियार और खेती के औजार भी खुद ही बना लेते थे। आदमी के मरने पर दाह संस्कार में धनुष बाण भी रखते थे।

यहां गायणों की भी अपनी परंपरा रही है। छोटे–छोटे अंचलों में आदिवासियों के भिन्न समुदाय निवास करते थे। जैसे धढ़गांव में पावरा और तलौदा के आसपास भील निवास करते थे। वैसे पावरा का विस्थापन अभी कम हुआ है। अपने–अपने समुदाय में रहने से ही इनकी बोली भी कायम रह पाती है और इसमें विकास भी होता। विस्थापन ने बोलियों को भी बहुत नुकसान पहुंचाया। विस्थापन से सर्वाधिक पीड़ित भी महिलाएं ही हैं। पारिवारिक कार्यक्रमों और अनुष्ठान अभी भी मूल गांव में होते हैं। इसलिए उन्हें अक्सर 70–80 कि.मी. तक सफर करना होता है। महिलाओं से संबंधित चर्चा के चलते उन्होंने बताया कि पहले घर समारोह में गीत होते थे। घर घट्टी (हाथ से पीसने वाली चक्की) पर भी गीत चलते थे। घर घट्टी का चलन बंद होने से उसके साथ गाने वाले गीत भी खत्म हो गए। इतना ही नहीं पुनर्वास स्थल पर ढोल भी कम हो गए हैं। होली का श्रंगार भी कम हो गया है।



शक्कर कारखाना की मजदूर बस्ती

उनका मत है कि आधी–अधूरी पढ़ाई भी इस समस्या की जड़ है। विस्थापित समुदाय को इतनी शिक्षा दे दी है जिससे कि उसकी खेती में रुचि ही कम हो जाए। मराठी में दी जा रही शिक्षा का उनके लिए अर्थ है 'सजा'। (वैसे मराठी में शिक्षा देने को सजा देने के पर्यायवाची के रूप में भी प्रयोग में लाया जाता है।) इस सजा को वे या तो अपनी नियति मान लें या फिर एक ऐसे समाज के हिस्सा बन जाएं जहां कि बिना विद्यालयीन शिक्षा के लगातार अपमानित होना पड़ता है। एकाएक उन्होंने कहा कि यहां के पारंपरिक आदिवासी नृत्य में 55 स्टेप्स (पदचाल) होते थे। लेकिन अब तो फिल्मी या सीडी पर बज रहे संगीत पर ही नाचने का चलन बढ़ता जा रहा है।

वे बताती हैं कि इस क्षेत्र में मांदल (आम की लकड़ी से बनी ढोलक) केवल मरने पर ही बजाया जाता है। इस पर विशिष्ट प्रकार की ताल बजाई जाती है जो कि मृतक के घर के सामने तब तक बजाई जाती है जब तक कि उस व्यक्ति का अंतिम संस्कार (शवदाह) नहीं हो जाता। आदिवासी समुदाय में अस्पृष्यता के विद्यमान होने का यह एकमात्र उदाहरण माना जा सकता है। मादल बजाने वाले व्यक्ति के जिम्मे एकमात्र कार्य मृत्यु की दशा में मृतक के घर के सामने मादल बजाना ही होता है। यह समाज के सबसे निचले पायदान पर होता है। इसे मजदूरी तक करने की अनुमति नहीं होती। बदले में गांव के लोग उसका साल भर का खर्चा उठाते हैं। जिससे कि उसकी गुजर बसर हो सके।

मूल गांव में रह रहे आदिवासियों की जीवनशैली में खुलापन था। अब यह लेन देन व खिलाने पिलाने में भी पूरी तरह से नहीं रह गया है। पहले झगड़े भी आपस में निपट जाते थे। अब कई बार पुलिस स्टेशन भी जाना पड़ जाता है। आंख की शर्म समाप्त होती जा रही है। जमीन के झगड़े भी बढ़ गए हैं। इसी के साथ लड़कियों को भगा ले जाने के मामलों में भी वृद्धि हुई है। चर्चा को और विस्तार देते हुए वे कहती हैं कि विस्थापन के बाद (पुनर्वास बस्तियों में) आदिवासियों में आत्महत्या के मामलों में भी वृद्धि हुई है। इसे असंस्कृतिकरण का प्रभाव भी कह सकते हैं। पहले आदिवासियों में आत्महत्याओं के मामले सुनाई ही नहीं पड़ते थे। वैसे भी आदिवासियों का पुनर्वास सिर्फ जमीन के बदले जमीन देकर (सरदार सरोवर वाले मामले में तो शर्त भी पूरी नहीं की गई है) नहीं किया जा सकता। आवश्यकता है संस्कृति की पुर्नस्थापना की। लेकिन क्या ये संभव है? हम पुनर्वास और पुर्नस्थापना को आर्थिक उन्नति से जोड़कर देखते हैं। लेकिन हमें इस बात का लेखा जोखा करना होगा कि विस्थापित समुदाय की आर्थिक स्थिति पहले से बेहतर हुई या बदतर। यदि रोजवा (पुनर्वास स्थल) की बात करें तो यहां वन विभाग ने खसरा नं. 435 के अंतर्गत भूमि बांट दी थी। इसके बावजूद जब लोग इस पर खेती करने जाते थे तो वन विभाग के लोग उन्हें गिरफ्तार कर लेते थे। जो 4200 हेक्टेयर जमीन विस्थापितों को बसाने के लिए तय की गई थी उस पर पहले से लोग बसे हुए थे। इनका नए लोगों जिन्हें आबंटन हुआ था, से संघर्ष हुआ। किसी न किसी रूप में यह आज भी जारी है।

इस बात को ध्यान में रखना होगा कि जब आप किसी को लाते हो तो वह अपने साथ अपनी संस्कृति भी लाता है। जो नई जगह आते हैं, वे अलगाव महसूस करते हैं और जो पहले से रह रहे होते हैं उन्हें यह प्रक्रिया अतिक्रमण दिखाई देती है। (वास्तव में दोनों ही अपनी–अपनी जगह पर ठीक हैं) इसके अलावा अभी भी ऐसे लोग हैं जिन्हें नोंद (सूचीबद्ध) नहीं किया गया है। यहां पर आने के बाद इनके बर्तन तक बदल गए हैं। पहले इनके बर्तन मिट्टी और कासें के होते थे। अब तो ये दिखाई ही नहीं देते। अनाज भी बदल गए हैं। एक आत्मनिर्भर समाज बाजार आश्रित समाज में परिवर्तित हो गया है। इस बात को भी ध्यान में रखना होगा कि मजदूरी करने हेतु बाहर जाना तो बहुत बड़ी बात है 'पावरा' कभी मजदूरी ही नहीं करता था। महिलाएं भी किसी के यहां जाकर काम नहीं करती थीं। लेकिन पुनर्वास स्थल पर आकर लाहा (सामुहिक श्रम) की परंपरा भी समाप्त हो गई। इस क्षेत्र में सतपुड़ा के 24 गांव आते हैं। ये लोग कभी पलायन नहीं करते थे। इनके पास 5 एकड़ खेती लायक जमीन भी है लेकिन अब इन्हें पलायन करना पड़ता है। पहले इन्हें जितनी जरुरत होती थी उतना ही प्रकृति से लेते थे। अब इनकी भी हवस बढ़ गई है। उपभोक्तावादी संस्कृति इन पर भी हावी होती जा रही है। पारंपरिक सामाजिक, नैतिक व नैसर्गिक मूल्य भी समाप्त होते जा रहे हैं। सामुदायिकता भी कमोवेश समाप्त होती दिख रही है। सबसे दुखद स्थिति यह है कि स्त्री पुरुष असमानता बढ़ती जा रही है।

उन्होंने कहा कि मैं लगातार यह कहती रही हूं कि पहले लोग अपनी आवश्यकतानुसार ही प्रकृति से लेते थे और इस लेनदेन की प्रक्रिया की एक क्रमवार श्रंखला थी, जिसमें क्रमशः सामुदायिक नवाई, इसके बाद जानवर, फिर प्रकृति, तत्पश्चात उत्सव और सबसे अंत में व्यक्ति और उसका परिवार आता था। जानवर के साथ इनका रिश्ता कमोवेश परिवार से भी अधिक प्रगाढ़ था। अब ये जानवरों को कुछ देना ही नहीं चाहते। पहले तो जानवरों को उनका हिस्सा दे देने के बाद ही स्वयं खाते थे। अपने खेत में हुई पैदावार से ही पूजा करते थे। अब इनका प्रकृति से प्यार टूटता जा रहा है। वैसे यहां तो जंगल भी नहीं है। प्रतिभा शिंदे जिस समाज को लेकर अभीभूत थीं वह एक ऐसा समाज है, जो कि अपने पालतू जानवरों को अपने बच्चों से ज्यादा प्यार करता है। किसी आदिवासी के मुंह से बैल शब्द सुनकर ही उसमें से टपकता प्यार व स्नेह हमारे कानों को रस से भर देता है। जंगल में जानवरों और मनुष्यों के सहअस्तित्व को देखकर आज भी रोमांच हो आता है। वहीं नई पुनर्वास बस्तियों में मात्र मनुष्यों की उपस्थिति फिर वह चाहे सगे संबंधी ही क्यों न हों, आदिवासी समुदाय को अपूर्णता का बोध कराते हैं। उनसे मिलकर लगता है जैसे वे अपनी एक संतान से बिछुड़ से गए हैं।

हम महाराष्ट्र की पुनर्वास बस्तियों को खंगालते हुए गुजरात की ओर बढ़ रहे थे। कुछ ही दूरी पर अक्कलकुआं नामक स्थान मिला। यह इस्लामिक परंपरा के अध्ययन का बहुत बड़ा केंद्र है। दुनियाभर से विद्यार्थी यहां आते हैं। इसी कस्बे के चौराहे से

दाये हाथ पर एक बड़ी पुनर्वास बस्ती देवमोगरा बसाहट है। यह एक बड़ी बस्ती है। इस बस्ती के कुछ लोगों से हमारी मुलाकात अक्कलकुंआ में ही हो गई। उनसे हुए बातचीत से पहले देवमोगरा की कहानी पर गौर करते हैं। देवमोगरा इस क्षेत्र के आदिवासियों के सर्वाधिक पूज्य देवी हैं।

पोहला पांढर (अनाथ पांढर) या देवमोगरा की कथा

डाब के जंगलों के बीच बाइजोन्या नाम का राजा राज्य करता था। उसी जंगल में एक आदमी रोज अपने ढोर चराने आता था। एक दिन उसने एक पेड़ के नीचे जमीन से दूध निकलते देखा। वहां वह अपनी कुल्हाड़ी से खोदने लगा तो जमीन के भीतर से आवाज आई कि अरे, मुझे चोट लग रही है, तब वह हाथ से मिट्टी हटाने लगा। थोड़ी मिट्टी हटाने के बाद उसे खाकरे के पत्ते से ढकी एक टोकनी दिखाई दी। पत्ते हटाने पर उसे उसमें एक बहुत सुंदर बालिका मिली। वह उसे लेकर राजा के पास गया। राजा को कोई संतान नहीं थी। राजा ने बच्ची को तुरंत अपने पास रख लिया और उस आदमी को चांदी के घड़े में स्वर्ण मुद्राएं भरकर दान में दीं। इसके बाद राजा का भाग्य भी बदल गया। उसे संतान व संपत्ति दोनों ही मिलीं। बड़ी हो जाने पर रानी गंधारी ने उसका नाम पांढर देवी रख दिया। लोग उसका पोहला पांढर भी कहते और चूंकि वह जंगल में मिली थी, इस कारण लोगों ने उसका नाम 'देवमोगरा भी रख दिया। बहुत सुंदर, कांतिवान और मधुभाषी होने के कारण वह अत्यंत लोकप्रिय भी थी। आगे चलकर राजा तारामहल और रानी उमरावाणु के पुत्र राजा पांठा से देवमोगरा का विवाह हुआ। विना ठाकुर देवमोगरा का भाई था।

इस अंचल में देवमोगरा से संबंधित कहानियों की पूरी श्रंखला विद्यमान है। देवमोगरा की लोकख्याति व व्यापकता को समझने के लिए उपरोक्त वृतांत के आगे इस कथानक को जोड़ना आवश्यक है।

आदिवासी समाज सही अर्थों में प्रकृति पुजारी है। वैसे ये अपनी उत्पत्ति महाद. व (शंकर) से मानते हैं। इनका संपूर्ण जीवन जंगल और खेती पर आधारित है। अपनी उपासना पद्धतियों और धार्मिक अनुष्ठानों में भी ये पूर्णतः प्रकृति के उपासक ही प्रतीत होते हैं। अनाज को ये अन्न देवता मानते हैं और कमोवेश प्रत्येक उत्सव की शुरुआत अन्न देवता की पूजा से करते हैं। सतपुड़ा के आदिवासियों के माध्यम से ही आदिवासियों की विवाह पद्धति, पूजा पाठ व अंतिम क्रिया की जानकारी मिलती है। पीढ़ियों से उनकी कथाओं के संदर्भ प्रकृति से जुड़े हुए ही हैं। वाघ देव यानि पशुओं के देवता, नंदखो यानि धान्य (अन्न) देवता, हिरकुल्यो यानि कृषि के देवता, माल्या देव याने साग भाजी के देवता। अतएव यह बात सहज ही समझी जा सकती है कि उनकी खाद्य परंपरा उनके जीवन में कितना महत्व रखती है।

सतपुड़ा पहाड़ियों का मध्य स्थान है 'डाब'। उसके आसपास नाहलापाटी, दुबलापाटी, नोयरपाटी व देहपाटी, चार प्रांत माने जाते हैं। गुजरात के नर्मदा जिले के सागबारा तालुका में आदिवासी देवस्थान याहामोगी याने देवमोगरा माता का मंदिर स्थित है। इस मंदिर में होली के पूर्व प्रतिवर्ष 7–8 लाख लोग आते हैं। यहां हर वर्ष महाशिवरात्रि के दिन से यात्रा प्रारंभ होती है। इस यात्रा में लोग संपत्ति और संतान के लिए मानता मानते हैं। सवाल उठता है यहीं और इसी दिन क्यों। इस प्रश्न का उत्तर नीचे लिखी गाथा में मिलता है और जो पोहला पांढर की कहानी शुरु हुई थी।

राजा बाइगेन्या की कन्या देवमोगरा का विवाह राजा पांठा से इस शर्त के तहत हुआ कि वे सात वर्ष तक घरजमाई बन कर रहेंगे। राजा ने शर्त मान ली और वह सात वर्ष तक घरजमाई बनकर रहा। इससे पिता व अन्य रानियां उनसे नाराज हो गए। सात वर्ष बाद जब वे देवमोगरा के साथ घर गए तो पिता तारामहल ने उन्हें घर में प्रवेश नहीं करने दिया और इतना ही नहीं उन्हें राज्य से भी बाहर कर दिया। दोनों जंगलों में भटककर कष्टों को सहन करने लगे। अंत में जहां अभी यह मंदिर बना हुआ है वहां आकर बस गए। बाद में उनकी अन्य रानियां भी वहीं आकर रहने लगीं और देवमोगरा से उनका विवाद होने लगा। इस पर राजा पांठा ने देवमोगरा की झोपड़ी अलग बनवा दी।

इसके बाद कई वर्षों तक देवमोगरा (याहामोगा) ने दबे कुचले लोगों की खूब मदद की। वह हरेक की तकलीफ में दौड़ कर जाती और इस तरह लोग उसे बहुत पसंद करने लगे। उसकी मृत्यु के बाद राजा पांठा और विना ठाकुर ने उसकी सोने की मूर्ति बनाकर वहां स्थापित कर दी। इस मूर्ति के एक हाथ में दूध का बर्तन और दूसरे हाथ में गाय बांधने की डोरी है। कालान्तर में बाहरी आक्रमणों की वजह से वह मूर्ति जमीन में चली गई। इसके बाद वह चोरी हो गई। काफी समय पश्चात वह मूर्ति सागबार संस्थान के संस्थापक उमड्या वासवा को जंगल में मिली। जिस दिन मिल वह दिन माघ मास की अमावस्या यानि महाशिवरात्रि का दिन था। इसी वजह से यहां महाशिवरात्रि के दिन बड़ी पूजा और मेला भरना प्रारंभ हो गया। सबसे आश्चर्य की बात यह है कि जो वासवा आदिवासी मुस्लिम हो गए हैं उन्होंने भी यह पूजा नहीं छोड़ी और वे आज भी यहां आते हैं।

इस कहानी से दो महत्वपूर्ण बातें उभरकर आती है। एक तो यह कि आदिवासी अपनी संस्कृति को सर्वोपरी मानते है। वहीं दूसरी ओर राजा पांठा द्वारा देवमोगरा की अलग झोपड़ी बना देना यह सिद्ध करता है कि इस समाज में असमानता का कोई स्थान नहीं था और रानी के लिए अलग महल या मकान नहीं बल्कि एक झोपड़ी ही बनवाई गई थी।

महाराष्ट्र की हमारी आखिरी बस्ती देवमोगरा पुनर्वसन बस्ती थी। यह अक्कलकुंआ तालुका जिला नंदुरबार में स्थित है। यहां हमारी भेट नरपत हिमजी पाडवी जो पूर्व

सरपंच हैं, से हुई। वे देवमोगरा पुनर्वसन बस्ती में रहते हैं। सन् 1995 में वे इस बस्ती में आए थे। उनका मूलगांव डनेल है। उन्होंने बताया कि इस बसाहट में डनेल, मुकड़ी, बामणी, गमण, सिंदुरी, चिमलखेड़ी, डनखेड़ी, नीमधवां, सुरुंग, डोमखेड़ी, बरद एवं पिपलसु यानि कुल 12 गांवों के लोग रह रहे हैं। कुल 550 परिवारों के करीब 3,500 लोग यहां रह रहे हैं। अभी सभी को 1–1 हेक्टेयर जमीन मिली है, बाकी की एक हेक्टेयर मिलना बाकी है। नरपत कुल चार भाई हैं इनमें से दो को एक हेक्टेयर भी नहीं मिली है और चौथे भाई को जमीन की पात्रता नहीं है। उनका कहना है कि यहां पूरे भील (पावरा व वसावा) ही निवास करते हैं।

आदिवासी कुल में मनाए जाने वाले सभी त्योहार यहां मनाए जाते हैं। जिसमें दीवाली और होली प्रमुख हैं। साथ ही पोला मनाते हैं, जिसमें गाय–बैल की पूजा होती है। इसके अलावा दशहरा व नवरात्रि मनाते हैं। गरबा भी मनाते हैं। (भील आदिवासियों में गरबा की परंपरा ही नहीं थी। यह उनके ग्रामीण समाज के संपर्क में आने के बाद ही प्रारंभ हुआ है) यहां के काठी स्टेट में नवरात्रि का मेला भरता था। वे पाडवी थे और यहां भील राजा थे। इसके अलावा इंदल पूजा, वाग्देव पूजन एवं नवई पूजन भी होता है। ये लोग कोशिश करते हैं कि अभी भी सारे त्योहार पारंपरिक तरीके से ही मनाए जाएं।

बस्ती में विस्थापितों को गांव के हिसाब से लाइन में बसाया गया है। लेकिन वर्ग के हिसाब से फालिए नहीं बने। इसका अर्थ यह हुआ कि एक ही गांव में बाहरी 12 गांवों को बसाया गया है। ऐसे में आपसी सामंजस्य कैसे होगा? उन्होंने बताया कि गांव में शादी ब्याह पहले जैसे ही होते हैं। लड़के वाले लड़की वालों को दहेज देते है। खाना–पीना सहित लड़की वालों को 50,000 रु. देना पड़ता है। उन्होंने बताया कि उनके तीन लड़के और तीन लड़कियां हैं। इस पर हमने पूछा कि फिर वे कैसे इतना दहेज दे पाए? उनका जवाब था कि आपसी समझबूझ से शादियां 20–25 हजार में भी हो जाती हैं।

पुराने गांव से यहां की दूरी करीब 60 किलोमीटर है। पुराना गांव नर्मदा नदी के किनारे ही बसा हुआ था। वहां किसी भी प्रकार की समस्या नहीं थी। सिर्फ नमक के लिए बाहर आना पड़ता था। महुआ का ही तेल बना लेते थे। सभी तरह की सब्जियां भी मिल जाती थीं। इसके अलावा उड़द, तुअर और बरडी (चावल) भी लगा लेते थे। यहां पर कपास, मक्का, सोयाबीन, गन्ना और केला भी लगाते हैं। यहां से वहां (जंगल) अच्छा था। शहर के नजदीक रहने पर 20 टका (प्रतिशत) अधिक मिलने पर भी घाटा होता है।

आपस में ये अभी पुरानी भिलाली ही बोलते हैं। स्कूल जाने के बावजूद बच्चे घर पर भिलाली में ही बात करते हैं। वैसे नई बस्ती के पास भी जंगल तो है लेकिन उतना घना नहीं है। गाय ढोर भी पहले से कम हैं और चरनोई का स्थान भी नहीं

है। देवमोगरा में होली के समय यात्रा भरती है। गुजरात में होली के 15 दिन पहले से मेला भरता है तब यहां का भील समाज व अन्य आदिवासी वहां जाते हैं।

मिट्टी के बारे में उन्होंने बताया कि यहां की जमीन अच्छी है और सिंचित है। एकाएक उन्होंने बात बदली और बोले, यदि मेधा पाटकर यहां हमारे इलाके में नहीं आती तो हम मर ही जाते। वो हमारे लिए देवी सरीखी हैं। उन्होंने ही तमाम गांवों को सर्वे (सर्वेक्षण) में शामिल करवाया। मैं सन् 1987 में मेधा पाटकर के साथ गांव–गांव फिरा (घूमा)। सब लोगों से संवाद शुरु किया। पुलिस की मार सही, जेल भी गए। इसके बावजूद अभी तक सरकार का रवैया सहानुभूतिपूर्ण नहीं है। वो अभी भी लोगों का सामान जबरदस्ती बसाहट में रख जाती है। महाराष्ट्र के 33 गांवों के 1500 लोगों का पुनर्वास अभी भी बाकी है, लेकिन सरकार फिर से एसआरपी (विशेष सहायता पैकेज) देना चाहती है। अभी पिछले दिनों फिर से मेधा ताई के साथ नर्मदा पट्टी में घूमा था। प्रतिभा शिंदे कहती हैं कि पैसा ले लो। मेधा ताई कहती हैं पैसा नहीं लेना है। सच बात तो यह है कि जिन्होंने पैसा ले लिया है वे सभी अब फस गए हैं। बातचीत के बीच में जामसिंह मोतिया वसावे वहां आकर बैठ गए थे। उनका मूल गांव गमण है। हमने उनसे कुछ जानना चाहा तो उनका कहना था कि नरपत भाई ने सभी कुछ तो कह दिया है। बहुत आग्रह करने पर उन्होंने इतना ही कहा कि 'हम तो वहीं पर अच्छे थे।'

नरपत के जाने के बाद हमारी भेंट लुवारिया डेमिया तड़वी, उग्रवाणिया गुमना वसवी (उपसरपंच) और वजारा बाटा अवरा से हुई। एकाएक हमने उनसे परिवार के बारे में पूछ लिया। ये सभी मध्य वय के दिख रहे थे। लुवारिया डेमिया तड़वी के 4 लड़के, 3 लड़किया, उग्रवाणिया के 3 लड़के, 7 लड़कियां और वजारिया के 5 लड़के 5 लड़कियां हैं। इन्हें सिंचाई वाली 5 एकड़ जमीन मिली है। इनका पुराना गांव पिंपलसु था। इनका भी कहना था कि पुराना गांव ही अच्छा था। वहां सब तरह की सब्जी और फल बिना खरीदे ही मिल जाते थे। यहां तो सब खरीदना पड़ता है या खेती में लगाना पड़ता है। दिन पर दिन जीने की मुसीबत होती जा रही है। हम तो वहीं जाना चाहते हैं। लेकिन वहां वापस लौटना भी अब संभव नहीं है। यहां आकर तो फस गए हैं। खर्च भी ज्यादा हो गया है। पांच एकड़ में 10 लोगों का गुजारा कैसे हो सकता है। कायदे से एक आदमी का तेल मसाला भी ठीक से नहीं आता। वहां तो केवल नमक बाहर से लाते थे। तेल के लिए तिल्ली कूटकर डाल देते थे। यहां तो मजदूरी करनी पड़ रही है। वहां तो गोंद वगैरा भी बेच लेते थे, प्याज भी बोरे से भरकर रखते थे। यहां तो अब 20 रु. किलो में प्याज खरीदना पड़ते हैं। इसी महंगाई की वजह से खर्च की समस्या खड़ी हो गई है और वार त्योहार मनाना भी कठिन होता जा रहा है।

इन दोनों का मानना था कि वहां बहुत अच्छा लगता था। हवा भी अच्छी थी और नर्मदा से सीधा साफ सुथरा पानी भी मिल जाता था। वहां तबियत भी ज्यादा खराब नहीं होती थी। ज्यादातर इलाज तो जड़ीबूटी से कर लेते थे। यहां तो रोज

दवाखाने जाओ और जितना कमाओ सब डॉक्टर को दे दो। उन्होंने एक महत्वपूर्ण तथ्य उजागर किया कि देवमोगरा पुनर्वास बस्ती में आने के बाद कम से कम 10 लोग आत्महत्या करके मर गए हैं। एक आदमी को जमीन नहीं मिली तो उसने आत्महत्या कर ली। एक और मामले में यह हुआ कि सात लड़कों के बीच में केवल एक हेक्टेयर भूमि आबंटित हुई। सभी चिंता में पड़ गए कि अब गुजारा कैसे करेंगे। घबराकर एक लड़के ने आत्महत्या कर ली। यहां व्यसन की आदत भी बढ़ती जा रही है। इससे भी दिमाग खराब हो रहा है। दिमाग का संतुलन भी बिगड़ रहा है। जुआ खेलने की आदत भी पड़ गई हैं इससे जमीन पर कर्जा बढ़ रहा है। दूसरी तरफ फसल की वजह से भी कर्जा चढ़ता जा रहा है।

बाहरी दुनिया की पूरी गंदगी अब हमारे बीच में भी फैलती जा रही है। यहां तो भैस, बकरी, गाय भी नहीं पाल पाते। इसलिए घी–दूध भी नहीं मिलता। वहीं दूसरी तरफ दहेज बढ़कर 50000 रु. हो गया। लड़के तो लड़की ढूंढने में ही लगे रहते हैं। ठंडी आह भरते हुए उन्होंने कहा कि अपने गांव में तो 2000 रु. में शादी हो जाती थी। अब तो कर्जा लेकर शादी निपटाना पड़ती है। दहेज के बिना शादी होती ही नहीं है। लड़के वाले तो बहुत दिक्कत में आ गए हैं। उनकी समस्याएं यहीं पर खत्म नहीं हो जाती हैं। पुराने गांव के कम से कम 100 लोगों को अभी तक जमीन के पट्टे नहीं मिले हैं। कहीं पर एक ही जमीन दो लोगों को दे दी है। इस वजह से बहुत सारे लोग अब गुजरात में मजदूरी करने जाने लगे हैं।

महाराष्ट्र की यात्रा यहां कमोवेश पूरी हो गई। अक्कलकुआं से कुछ ही दूरी से गुजरात प्रारंभ हो जाता हैं सरदार सरोवर बांध को लेकर गुजरात की भावना से हम सभी परिचित हैं। पिछले 40 वर्षों से हर स्थान व परिस्थिति में गुजरात की बात ही सुनी गई है। महाराष्ट्र एवं मध्यप्रदेश को तो कमोवेश गुजरात के दुश्मन की तरह ही प्रस्तुत किया जाता है। गुजरात पुनर्वास को लेकर भी बहुत जबरदस्त दावे करता रहा है वह अपने यहां आदर्श पुनर्वास की दुहाई देकर बांध की ऊंचाई भी पूरी कर लेना चाहता है। वहां पर 80–90 के दशक में विस्थापन प्रारंभ हो गया था। हम इस सोच के साथ गुजरात में प्रविष्ठ हुए कि अब हमें सुव्यवस्थित पुनर्वास मिलेगा और संतुष्ट जनमानस से हमारा सामना होगा।



गुजरात
वह औरत और बांध का सच

गुजरात में प्रवेश करते ही बाबा महरिया की चिट्ठी में गुजरात को लेकर उनके विचार याद हो आए। उन्होंने कहा था 'हम गुजरात जाएंगे तो हमें बड़े–बड़े जमीन वाले पाटीदार और बनियों के साथ रहना होगा। वे हमें दबाएंगे भी। गुजरात में तो वहीं रहने वाले आदिवासियों की जमीनें तीस–चालीस साल पहले छीन ली थीं। आज भी छीन रहे हैं। पहले तो वहां भी आदिवासियों की बस्ती ही थी। फिर हम तो अनजाने लोग हैं। हमें न तो वहां की बोली आती है और न कायदा कानून। सम्पर्क और राज भी उन्हीं बड़े लोगों का है। इतनी लागत की खेती यदि हमसे न हो तो पैसे के लिए हमें उनके पास जमीनें गिरवी रखनी पड़ेगी और धीरे–धीरे वे हमारी जमीनें छीन लेंगे। वहां के खास रहने वालों की छीन ली हैं तो हमारी कैसे छोड़ेगे? फिर हम अहमदाबाद या गांधीनगर के चक्कर लगाते रहेंगे, पर दूसरी जमीन कौन देने वाला? यह बात जान लो कि यहां हमारे बाप दादा की जमीन है जिस पर हमारा हक है। यह छूट जाए तो हमारे हाथ गैंती फावड़ा, तगाड़ी लगेगा–दूसरा कुछ नहीं।'

गुजरात को भारत का आदर्श राज्य की संज्ञा दी जा रही है। यह बताया जा रहा है कि यहां कुबेर ने सभी को उपकृत किया है और गुजरात में गरीबी, कुपोषण व अन्याय के होने की बात करने वाले वास्तव में गुजरात की उन्नति से जलते हैं। लेकिन हमें लगा कि बाबा महरिया ने करीब दो दशक पहले कुछ स्थापनाएं अपने पत्र के माध्यम से की हैं और हमें गुजरात की पुनर्वास बस्तियों में जाकर उसकी पड़ताल करनी है। जिस पहली बस्ती में हम पहुंचे वह गुजरात के सर्वाधिक समृद्ध बड़ौदा जिले में स्थित है।

हम सबसे पहले पहुंचे गुजरात के बड़ौदा जिले की डबोई तालुका की करनेट वसाहट क्रमांक 1 में।

करनेट बसाहट में गुजरात में सरदार सरोवर बांध की डूब में आए गांवों के विस्थापितों को रखा गया है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह गुजरात से गुजरात में हुआ विस्थापन व पुनर्वास है। यह बसाहट गदेर, केवड़िया कॉलोनी (जहां सरदार सरोवर बांध स्थित है) से 20 किलोमीटर की दूरी पर है। यहां हमारी भेंट वसावा कांजी भाई, बलिया भाई वसावा, अछरी भाई बलिया भाई संख्या से हुई। इनका मूलगांव जिला नर्मदा (भड़ूच) के राजपीपला तालुका का माकड़खेड़ा है। ये वसाहट इनके मूल गांव से 90 किलोमीटर की दूरी पर है। अब वहां जाने के लिए इन्हें 70 रु. किराया देना पड़ता है और 30 किलोमीटर पैदल चलना पड़ता है।

ये लोग यहां पर सन् 1992–93 में यहां आ गए थे। वहां जंगल में इनके नाम से 12 हेक्टेयर यानि करीब 70 गुंठा जमीन की पावती मौजूद है। इनका कहना है, विस्थापन के बाद कुल 5 एकड़ कृषि भूमि देकर (5 गुंठा) सरकार ने छुट्टी पा ली है। इससे भी बुरी बात यह है कि आज तक यह जमीन इनके नाम से नहीं हो पाई है। एसएसपी (सरदार सरोवर परियोजना) एजेंसी ने पहले जो जमीनें हमें दी थीं, उन पुरानी जमीनें के मालिक पटेल लोग अब दोबारा कब्जे वापस लेने की बात कर रहे हैं। ये जमीनें तो अभी की खरीदी हुई हैं, जबकि इनकी जमीनें तो पीढ़ियों से हमारे कब्जे और नाम पर थीं।

सरकार ने कहा था कि जो भी 1–1–1987 को 18 साल (वयस्क) होगा उसे 5 एकड़ जमीन और प्लाट दिया जाएगा। यह वायदा इस सच्चाई के बावजूद किया गया था कि सरकार के पास इतनी जमीन ही नहीं थी। करनेट वसाहट एक और दो में काफी सारे लोग आए। हमारे गांव के 60–70 लोग भी यहां आए। वैसे पूरे गुजरात में हम सबको जैसे बाट दिया गया है। हमारे घर तोड़ कर हमें यहां डाल दिया और फिर कहा कि जमीन देंगे। हमारे रहने के लिए पहले टीन शेड बनाए थे और कहा था कि घर बनाने के लिए 45000 रु. देंगे। बाद में टीन वगैरह के पैसे काटकर कुल 34000 रु. मिले। ये भी सिर्फ उन्हें ही मिले थे जिन्हें की जमीने मिल गई थीं। यहां (मूल गांव) के फालिए के करीब 100 कुटुंब (परिवारों) को एक साथ बसाया गया। इस बसाहट में अधिकांश वसावा हैं। कुछ राठवा और तड़वी भी हैं जो पहले कवांठ तालुका में रहते थे। जो लोग नसवाड़ी में ढोर चराने आए थे उनको जमीनें दे दीं और वतन वाले (गांव वाले) रह गए।

इनका पुराना गांव डूब में आ गया है जंगल और पहाड़ भी नहीं बचे। अभी भी 100 परिवारों का पुनर्वास बाकी है। लेकिन इसके बावजूद फॉरेस्ट (वन विभाग) वाले परेशान करते हैं। हमने उनसे पूछा कि यदि उनका गांव डूब में आ गया है तो अब लोग आते जाते कैसे हैं? इस पर उन्होंने बताया कि पैदल आते हैं। केवड़िया से हरिपुरा तक वाहन से आते जाते हैं और हरिपुरा से गांव करीब 30 किलोमीटर पड़ता है तो उतना पैदल चलते हैं। बाजार करने के लिए 30 कि.मी. पैदल चलना पड़ता है।

दोनों बताते रहे कि पुराने गांव में सागवान ज्यादा था। जंगल से ढेर सारी चीजें मिल जाती थीं और हम खेत में भी काफी किस्में लगाते थे। फल, सब्जी और लकड़ी सभी कुछ वहां पर मिलता था। इसी रौ में वे वहां मिलने वाली खाद्य सामग्री गिनाने लगे। वहां उन्हें कांदा (प्याज), सूरन, सेगवा (शकरकंद जैसा कंद) बालोर (सेम) मुखी भाजी, निम्बोड़ा (अंबाड़ी) खट्टी भाजी, बैंगन, मिर्ची और ककड़ी मिल जाते थे। यदि अनाज की बात करें तो तुअर, मूंग, अरहर, मक्का, मोर, बादी, कुदरा, बंटी, चवला, ज्वार और उड़द यानि कम से कम 11 तरह का अन्न तो मिल ही जाता था। जो कुछ बाजार में आसानी से बिकता है और जमीन में हो पाता है यहां वहीं लगाते हैं जैसे कपास, मक्का, गेहूं, चावल और अरंडी। बस्ती के लोगों का मानना था कि यहां आकर बहुत नुकसान हुआ है। वैसे चावल की खेती का सुनकर आश्चर्य भी हुआ। लेकिन उनका कहना था कि खेत के कुछ हिस्सों में दलदल या पानी भरता है तो वहा चावल लगा लेते हैं। बाकी तो स्थिति यह है कि यहां घर बनाने के काम में आने वाला बांस तक नहीं पनपता। एकाएक उन्हें याद आया कि महुआ के बारे में तो बताना ही रह गया। उन्होंने बताया कि महुआ इकट्ठा करके उसका तेल निकालकर उससे खाना बना लेते थे। बाजार से तेल भी नहीं खरीदना पड़ता था। साथ ही उन्होंने बताया कि महुआ के साधारण फूल से तेल नहीं निकलता। यह छोटे फूलों से निकलता है और इसके एक महीने बाद फल आ जाता है।

मूल गांव में डूंगरी भाषा (बोली) बोली जाती थी। यह भाषा पड़ौस के गांवों में बोली जाने वाली डूंगर से अलग है। बड़े गर्व से होने बताया कि उनकी भाषा हिंदी अंग्रेजी से भी अलग है। बसाहट में तो इसी में बात करते हैं लेकिन बच्चों की शिक्षा और आसपास गुजराती भाषा का चलन होने से इनकी अपनी बोली पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। वार त्योहारों की बात पर उनका कहना था कि वे दीपावली मनाते हैं। लेकिन सरकारी दीपावली (दीवाली) नहीं मनाते। कार्तिक पूर्णिमा पर अपनी दीवाली यानि देव दीपावली मनाते हैं। इस दिन खाने में दाल भात बनाते हैं और दारु पीते हैं। मोटे (बड़े) ढोल और बांसुरी (बजाक) बजाते हैं। होली पर गेरैया व मोरपंख आदि आदि लगाकर स्वांग बनाते हैं और ढोल पर खूब नाचते हैं। इसके अलावा इंदल और वाग्देव का पूजन करते हैं। वाग्देव पूजन में बांस एवं कागज के घोड़े बनाते हैं। जौ उगाते हैं और जौ के ज्वारे से पूजा करते हैं।

शादी ब्याह का जिक्र आते ही जैसे किसी ने उनकी दुखती रग पर हाथ रख दिया हो। उन्होंने बताया कि शादी में 50000 रु. नकदी के अलावा आधा किलो चांदी और 25000 रु. का सोना लड़के वाले लड़की वालों को देते हैं। इस प्रक्रिया में लड़के वाले तो बिल्कुल खाली (कंगाल) हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो जैसे लड़कियों की खरीद हो रही है। इस सबसे सामाजिक समरसता भी समाप्त हो रही है। (चर्चा में पता चला कि वसावा अछरी के 5 लड़के हैं और वसावा कांजी भाई के 4 लड़के और तीन लड़कियां हैं) उनके हिसाब से मूल गांव की स्थितियां अभी भी इतनी खराब

नहीं हुई हैं। गुजरात की पहली पुनर्वास बस्ती का खस्ताखाल देखकर लगा कि यहां पर अभी भी मूलभूत आवश्यकताओं का अभाव है। इस बात का प्रयत्न ही नहीं किया गया है बसाहट को विस्थापित समुदाय की जीवनशैली के अनुरूप बनाया जाए। बस्ती किसी गांव की जगह शहर की कॉलोनी की तरह विकसित की गई है। इससे साफ जाहिर होता है कि आकल्पकों ने विस्थापित गांव की भौगोलिक, सामाजिक व सांस्कृतिक स्थितियों का ध्यान नहीं रखा। बड़ौदा शहर से नजदीकी के बावजूद तथाकथित आर्थिक समृद्धि भी यहां दिखाई नहीं दे रही थी।

इन्हीं सब पर विचार करते हम अगली बस्ती की ओर चल पड़े। एकाएक विचार उठा कि क्या गुजरात शुरु से ही मध्यवर्गीय बहुलता वाला प्रदेश रहा है और बड़ी संख्या में आदिवासियों की बसाहट के बावजूद क्या यहां कभी विरोध के स्वर नहीं उठे? खोजबीन की तो एक महत्वपूर्ण तथ्य या संघर्ष का विवरण सामने आया।

उन्नीसवी शताब्दी के शुरुआत में जब बिहार (वर्तमान झारखंड) के कुछ हिस्सों और बंगाल में संथाल, मुंडा, हो और खरिया जनजातीय समाज औपनिवेशिक शोषण के खिलाफ आवाज उठा रहे थे, उसी समय गुजरात में भी आदिवासियों ने कई विद्रोह किए। गुजरात में पहला विद्रोह सन् 1838 में पंचमहाल जिले के चंपानेर में रूपसिंह नायक के नेतृत्व में हुआ था। गुजरात के इस संघर्ष में नायकों एवं भीलों ने बढ़ चढ़कर हिस्सा लिया था। वैसे सन् 1897 के बॉम्बे प्रेसीडेंसी गजेटियर में इन आंदोलनों का ठीक से उल्लेख नहीं किया गया है। चलते–चलते थोड़ा बहुत जिक्र कर दिया गया है। रूपसिंह नायक का जन्म पंचमहाल जिले में चंपानेर के नजदीक जादूगोड़ा तालुका के दांडियापुर गांव में हुआ था। बाद में वे नारकोट के गांव पाएली में चले गए। रूपसिंह का संघर्ष बहुसंख्य नायकों को जंगलों और प्राकृतिक संसाधनों पर हक दिलाने के लिए था। इस बीच नारकोट के राजा ने पंचमहाल की दूसरी रियासत, छोटा उदयपुर के राजा की मदद से सन् 1838 में रूपसिंह के पिता की हत्या कर दी। इसके बाद रूपसिंह ने सन् 1838 में ही नारकोट के राजा व अंग्रेजों के खिलाफ संघर्ष आरंभ कर दिया। सन् 1850 में गुजरात में रेलवे लाइन बनाने का काम शुरु किया गया। इस संबंध में लकड़ियों की जरुरतों को पूरा करने के लिए पंचमहाल के जंगलों को ठेकेदारों को दे दिया। अंग्रेजों ने नायकों के बीच उभर रहे असंतोष को भी भांप लिया था। जंगलों के कटान के चलते अंग्रेजों को राजस्व के लाभ के साथ ही साथ आदिवासियों के विद्रोह को दबाने में भी मदद मिली। ये क्रांति या संघर्ष सन् 1859 तक चला। लेकिन इस पर बहुत कम शोध हुआ है। इस क्षेत्र में फैली गाथाओं से इतना ही मालूम पड़ता है कि अंग्रेजों ने रूपसिंह और उसके भाई केवल नायक को गिरफ्तार किया और बाद में छोड़ दिया था। करीब 10 वर्षों तक यह आंदोलन दबा रहा। इसके बाद वाडेक गांव (जम्बूगोड़ा) के नायक जनजाति के जोड़िया भगत रूप सिंह से आकर मिले। इन दोनों ने मिलकर संघर्ष को आगे बढ़ाया। नायक राज की स्थापना के उद्देश्य से जोड़िया भगत ने औपनिवेशिक अंग्रेज शासन के और चंपानेर

रियासत के खिलाफ नायकों को संगठित किया। यह आंदोलन सन् 1868 में अपने चरम पर पहुंचा।

इस क्षेत्र में जोड़िया भगत और रूपसिंह को लेकर अनेक लोककथाएं प्रचलित हैं। इसमें से एक है, 'जोड़िया भगत ने 22 साल की कम उम्र में ही धार्मिक उपदेश देना शुरु कर दिया था। उन्होंने नायक समुदाय में स्थित सामाजिक बुराईयों को दूर कर उसमें अनुशासन स्थापित करने का प्रयास किया। वे जंगलों में रहे, बांस के पेड़ों के पास सोए और उन्होंने अलौकिक शक्तियां प्राप्त कीं। एक रात उन्हें 'देववाणी' सुनाई दी, जिसने जोड़िया भगत को बांस का एक टुकड़ा काटने को कहा। आज्ञा का पालन करते हुए उन्होंने उस टुकड़े को काटा। एक से तलवार तथा दूसरे से छड़ी बनाई जो उनकी अपार और असीम शक्ति का प्रतीक बनी।'

इसके आगे का घटनाक्रम और भी रोचक है। जोड़िया भगत और रूपसिंह ने मिलकर वाडेक गांव में नायक राज की स्थापना की। रूपसिंह नायक राजनीतिक मामलों को देखते थे और गोड़िया भगत सामाजिक व धार्मिक मामले। दोनों ने हर तरह से एक दूसरे की सहायता करते हुए नायक राज के लिए संघर्ष किया। स्थानीय लोगों की मान्यता है कि वस्तुतः नारकोट नायकों की ही रियासत थी जिसे ऊंची जाति के राजाओं ने छीन लिया था। इस संबंध में निर्णायक संघर्ष उस समय शुरु हुआ जब इन दोनों ने नारकोट की पुलिस चौकी पर हमला करा। उस समय नारकोट के राजा जगत बारिया रियासत से बाहर थे। जोड़िया भगत, रूपसिंह और दूसरे नायकों ने थाना प्रभारी शिवलाल और कुछ अन्य लोगों की हत्या कर दी। बाद में उन्होंने जंबूगोड़ा रेल्वे स्टेशन पर भी हमला किया। उस समय छोटा उदयपुर रियासत के राजा शिकार पर निकले हुए थे। नायकों ने उन्हें भी चुनौती दी और अंततः नारकोट, जंबूगोड़ा और छोटा उदयपुर के राजाओं ने नायकों के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। इस तरह सन् 1868 में रियासत के लोगों को भरोसा हो गया कि अब ब्रिटिश राज खत्म हो गया है और नायक राज की स्थापना हो चुकी है।

जाहिर है अंग्रेज भी चुप नहीं बैठे थे। नायकों से बदला लेने के लिए उन्होंने बड़ौदा के राजा सहजसिंह गायकवाड़ की सहायता से सेना का गठन किया। इस ब्रिटिश सेना ने वाडेक और डांडियापुर को कब्जे में ले लिया और संघर्ष (विद्रोह) में शामिल कई नायकों को गिरफ्तार कर 5 से 9 वर्ष की जेल की सजा दी। रूपसिंह नायक उनके बेटे और जोड़िया भगत भी पकड़े गए और उन्हें फांसी दे दी गई। इस सत्ता पलट या विद्रोह की वजह से इस इलाके में बसे नायकों को अंग्रेज संदेह की दृष्टि से देखने लगे थे। विद्रोह को दबाने के बाद अंग्रेजों ने क्षेत्र में बसे प्रत्येक नायक को वहां से बेदखल दिया और उनके स्थान पर 'राठवा' आदिवासियों को बसा दिया। फिलहाल वाडेक, डांडियापुर तथा आसपास के गांवों में एक भी नायक परिवार नहीं रहता। इतना ही नहीं इस इलाके में आज भी प्रचलित है कि 'नायकों को वाडेक, डांडियापुर या जम्बूगोड़ा में नहीं रहना चाहिए क्योंकि वे लोग लंबे समय तक यहां

नहीं रह पाएंगे। नायकों का विश्वास है कि अगर नायक यहां बसते हैं तो वे ब्रिटिश जैसे बाहरी लोगों द्वारा मार दिए जाएंगे।'

लेकिन संघर्षों का यहीं अंत नहीं हुआ। रूपसिंह नायक और जोड़िया भगत की मृत्यु के बाद उन्नीसवी सदी के उत्तरार्ध एवं बीसवी सदी की शुरुआत में इस संघर्ष को महान नायक गोविंद गुरु ने संभाल लिया। संतरामपुर और मनगढ़ के आदिवासियों का मानना है कि गुरु बंजारा थे और राजस्थान के डूंगरपुर के वसिया गांव से यहां आए थे। उन्होंने यहां के आदिवासी गांवों में पालतू जानवरों का व्यापार प्रारंभ किया। गोविंद गुरु इस बात से काफी विचलित थे कि आदिवासी परंपरागत रूप से जमीन, जंगल और अन्य संसाधनों के मालिक हैं लेकिन उनके पास मूलभूत सुविधाएं तक मौजूद नहीं हैं। उन्होंने सनमानगिरी में एक धार्मिक संगठन की शुरुआत की और आदिवासियों के लिए काम करने लगे । गुजरात व राजस्थान की सीमा से सटे मनगढ़ की पहाड़ियों के बीच उन्होंने एक मंदिर की स्थापना कर दी और धार्मिक कार्यों की शुरुआत की। इलाके के आदिवासी बड़ी संख्या में उन्हें अपना गुरु मानने लगे। पूर्णिमा के दिन मेले का आयोजन किया जाने लगा और वे धार्मिक प्रवचन देने लगे। संतरामपुर जैसी रियासतें और अंग्रेज हुकूमत अपने शासन के खिलाफ आदिवासियों की एकजुटता को दबाने में लग गई। अंततः इसी सिलसिले में उन्होंने मनगढ़ की पहाड़ियों पर हमला कर हजारों आदिवासियेां को मार डाला। वही दूसरी ओर इस त्रासदी की जिम्मेदारी लेते हुए गुरु ने मनगढ़ छोड़ दिया और मध्यप्रदेश के कन्नोई में जाकर बस गए।

इस तरह करीब 80–90 वर्ष तक चला आदिवासियों का संघर्ष शांत हो गया। लेकिन इससे यह तो साफ जाहिर होता है कि गुजरात को लेकर जो धारणा बनती जा रही है या बनाई जा रही है वह वास्तविकता से काफी दूर है। यहां भी पिछले करीब 200 वर्ष आदिवासियों के उत्पीड़न के रहे हैं। आजादी के बाद उम्मीद बंधी थी कि अब उत्पीड़न से मुक्ति मिलेगी। भले ही बाकी सबको मुक्ति मिल गई हो लेकिन आदिवासी तो अभी भी मुक्ति पाने की छटपटाहट में धंसे हुए है।

इस छटपटाहट को हमने धरमपुरी बसाहट के **शंकर भाई कागु** में भी महसूस किया।

एक छुपी सच्चाई का उजागर होना

शंकरभाई कागु तड़बी आदिवासी हैं और गुजरात के बड़ौदा जिले के दभोई तालुका में स्थित धरमपुरी बसाहट में रहते है। उनसे मिलना जैसे विस्थापन के इतिहास खासकर गुजरात के विस्थापन का साक्षात्कार करना है। संघर्ष और उसके परिणामां की वे बहुत अच्छे से समीक्षा करते हैं। गुजरात ने अपने ही राज्य के नागरिकों (विस्थापितों) के साथ जिस तरह का व्यवहार किया है, शंकरभाई कमोवेश उसकी बखिया उधेड़ देते हैं।

उनका मूलगांव भडूच (अब नर्मदा जिला) जिले का वडगांम था। वर्तमान बसाहट उनके मूलगांव से करीब 75 किलोमीटर दूरी पर है। परंतु यहां पर बसने का उनका सफर बहुत सीधा नहीं रहा। वे बताते हैं कि उनका पूरा गांव सरदार सरोवर बांध की 55 मीटर ऊँचाई की डूब में ही आ गया था। बिना किसी पुनर्वास के हमारा गांव डुबो दिया था। सन् 1989 में बड़ौदा जिले के संखेड़ा तालुका के मालू गांव में हमारा पुनर्वास किया। यह भी कोई आसानी से नहीं हो गया। हमें तो हमारे गांव से निकालकर मरने के लिए छोड़ दिया था। इसी बीच हम नर्मदा बचाओ आंदोलन के संपर्क में आए। उनके ही प्रयासों से हमें मालू गांव में बसाया वरना हम तो अभी तक सरदार सरोवर बांध को भुगत रहे होते क्योंकि सरकार ने तो ठीक से हमारी जमीनों का अधिग्रहण ही नहीं किया था। वैसे भी आज तक कई मूल जमीन मालिकों को जमीन नहीं मिली है। वडगाम में कुल 700 घर थे। जिनमें से करीब 28 लोगों को धरमपुरी में जमीनें मिली। इसके अलावा यहां के लोगों को सिमलिया, गुलागामड़ी, जुआंद्रा, मालू, ढेपा, अंकुवासण, पान तलावली, गोरा और भीलवसी में यानि व अलग–अलग वसाहटों में बसाया गया। इसका अर्थ यह भी निकलता है कि उस तयशुदा नीति का पालन भी नहीं हुआ जिसके अंतर्गत एक पूरे गांव को दूसरे स्थान पर एक संपूर्ण इकाई (गांव) के रूप में बसाया जाना था।

धरमपुरी में जो भूमि इन्हें आबंटित की गई थी उसके मूल जमीन मालिकों को अधिग्रहित जमीन के पैसे भी नहीं दिए गए थे। ऐसे में होता यह था कि हम पूरी मेहनत कर फसल लगाते और जब फसल पक जाती थी तो मूल भूस्वामी आकर हमारी पकी फसल काटकर ले जाता था। एक दो साल ऐसे ही चला। इस बीच हम सब लोग टीन शेड में रहते रहे। जहां पर ये शेड बने थे वहां घुटने–घुटने तक पानी भर जाता था लेकिन हमको तो उसी में रहना पड़ता था। हमें मिलीं ज्यादातर जमीनें भी खराब थीं। इसमें बड़ी–बड़ी जंगली घास, जिसे यहां की स्थानीय भाषा में डाब कहते हैं, लगी हुई थी। इसको उखाड़ने की कोशिश की तो पता लगा कि इसकी जड़ें तो पांच फुट तक गहरी हैं। इस पर हमने सरकार को शिकायत की लेकिन कोई जवाब नहीं मिला। जबकि सरकार ने हमें सिंचित और उपजाऊ भूमि देने का वायदा किया था।

मणिबेली में हुए संघर्ष को यहां की सरकार ने कुछ इस तरह प्रचारित किया था कि मेधा दीदी (पाटकर) आदिवासियों को भड़काकर उनका भविष्य नष्ट कर रहीं हैं। इसलिए हम सबने मेधा दीदी का गुजरात में बहुत विरोध किया। लेकिन थोड़े समय बाद हमें सारी धोखाधड़ी समझ में आ गई। हमें लगा कि हम अपनी नर्मदा में ही डूब कर मर जाएं तो अच्छा। लेकिन इसके बाद हमने दीदी (मेधा पाटकर) का हाथ पकड़ा और कहा 'कोई नहीं हटेगा बांध नहीं बनेगा।' सन् 1989 में ही हमने नर्मदा बचाओ आंदोलन का साथ कर लिया था। इसके बाद दिल्ली, बंबई (अब मुम्बई) एवं इंदौर (यहां नर्मदा नियंत्रण प्राधिकरण, एनसीए का कार्यालय है) गए। गुजरात के उस समय के मुख्यमंत्री चिमनभाई पटेल के पास गए कि हमें दूसरी जमीन दो। उन्होंने हमसे

कहा 'एक बार तुम्हारी शादी कर दी है अब दोबारा नहीं करेंगे।' हम भी उनसे बोले कोई बात नहीं हम भी देख लेंगे।

हम लोग कोर्ट में गए। हमारा कहना था कि हमें शर्त के अनुसार ही जमीन मिलना चाहिए। कचहरी में हम जीत गए। निर्णय में कहा गया कि गांव के ये 24 लोग जहां भी मांग करें वहीं पर जमीन देना। हमारे ऊपर 1500 पुलिस वाले बैठा दिये। हमारी मांग को बाद में ट्रिब्यूनल ने भी माना और सन् 1992–93 में 28 परिवारों को धरमपुरी बसाहट में जमीन दी। शंकरभाई का कहना था कि हम तो नर्मदा किनारे रहते थे। अपनी अधिकांश जरुरतें जंगल से ही पूरी कर लेते थे। विस्थापन से पहले हम लोग साल में दो महीने लगकर काम कर लेते थे और इसके बाद 10 महीनों तक घूमते थे। अब तो 12 महीने काम करना पड़ता है। यहां पर जमीन ले ली है तो अपने समाज (गांव) में भी नहीं जा सकते। कहने को सरकार ने पांच एकड़ जमीन तो दे दी थी लेकिन पटेल लोग खेतों में जाने का रास्ता उन्हीं के खेतों से जाता था। पटेल लोगों ने पुलिस में रिपोर्ट कर दी कि हम जबरन उनके खेतों में घुस रहे हैं। हम जेल भी गए। इसके बाद सरकार ने ही रास्ता बनाया और हमें बसाया।

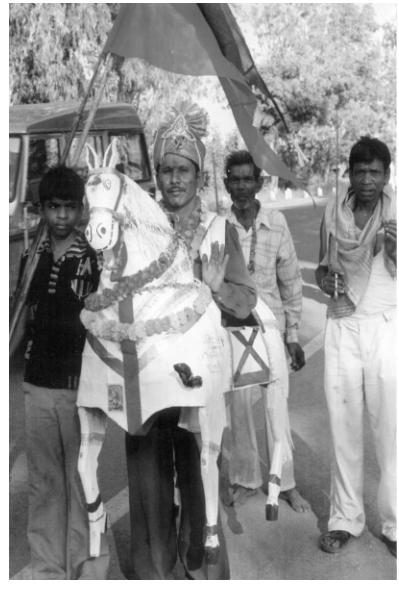
पारिवारिक स्थितियों पर चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि एक छोटा लड़का दभोई में छुट्टी मजदूरी करता है और दूसरा काठियावाड़ में खेत मजदूरी करता है। रुंधें गले से वे बोले कि विस्थापन के बाद किसान मजदूर हो गए हैं। वे स्वयं को हिंदु तड़वी (आदिवासी) वसावा बताते हैं और उनका कहना है कि वे वसावा (बोली) बोलते हैं। वार त्योहारों पर चर्चा करते हुए उनका कहना था कि होली, दीवाली तो सभी जगह एक सी मनती है। हमारा विशेष त्योहार दिवासा है। इसमें लड़के पूरे नौ रात तक गाना सुनाते हैं। नवरात्रि के इस समारोह में गरबा भी होता है। जौ का ज्वारा लगाया जाता है और मिठाई बनती है। वैसे शंकरभाई अब कबीरपंथी हो गए हैं। उनके अनुसार अधिकांश लोग स्वयं को पावागढ़ की कालिका माता से जोड़ते हैं। लेकिन एक मत कहता है कि ये नर्मदा किनारे का चव्हाण (राजपूत) समुदाय है। इनके अनुसार एक बूढ़ा चव्हाण (राजस्थान से) नर्मदा किनारे चलता हुआ पावागढ़ से 'घरवाड़ी' आया और वहां मछली मारने लगा। इसके बाद वह वहीं बस गया। उसके पीछे–पीछे नई बस्ती बन गई। इस तरह तड़वी समुदाय यहां आकर बस गया। उनकी यहां बसने की पूरी प्रक्रिया को लेकर गायणा भी मौजूद है।

अपने पूर्वजों के यहां आकर बसने और अपने उजड़ने के बीच के समय को याद करते हुए शंकरभाई बरबस कह उठते हैं, हम अब जब भी अपने गांव जाते हैं तो वापस आने की इच्छा ही नहीं होती। हम तो भूल गए हैं कि मौसम भी कैसा होता है यहां तो बारहों महीने गर्मी ही रहती है। ऊपर से गंदगी, मक्खी, मच्छर, धूल और शोर सभी से परेशानी है। वहां पर जब तक रहे कभी मच्छरदानी इस्तेमाल ही नहीं की। शिक्षा स्वास्थ्य को लेकर सरकार बहुत झूठी है। गरीबों के लिए तो जीना काल (मृत्यु) समान है। हमारे साथ आए बहुत सारे लोग तो समय के पहले ही मर गए। अपने पुराने गांव

में तो हम दवाखाने भी नहीं जाते थे। पेड़ के नीचे बैठते ही नींद आ जाती थी। वहां जंगल में कांदा, वाजा, आलू, अलसी और ऐसी हरेक चीज फ्री में मिल जाती थी। वहां सब कुछ मिठास वाला था। आप मानोगे नहीं 25–30 तरह की तो साग भाजी ही मिलती थी। इसके अलावा मकई, बाजरा, ज्वार, मठ (मोठ) मूंग, वाल, डूंगड़ी (प्याज) अरंडी, देशी चावल, कपास और उड़द भी उगा लेते थे। और यहां? यहां तो भगवान भरोसे हैं। पानी ही नहीं है, तो क्या लगेगा? खाने पुरता निकल आए तो बहुत है। पटेल लोग पानी भी बहुत महंगा बेचते हैं। एक घंटा मोटर चलाने का 100 से 150 रु. लेते हैं। पटेलों के खेतों में जब पूरा पानी हो जाता है तभी हमें पानी देते हैं।

वे बोले शादी ब्याह के लिए भी जमीन गिरवी रखकर ही कुछ ला पाते हैं। जमीन कहां पर है? तो उनका जवाब था कि धरमपुरी बसाहट में कुल 24 परिवार हैं, इसमें से 10 को 5 कि.मी. दूर, 5 को दभोई में और 8 को लोगों यहां पास में जमीनें दी हैं। वर्तमान स्थान पर उनकी सामाजिक स्थिति पर वे बोले आप इसी से समझ लीजिए कि हमें ठीक से पानी तक नहीं मिलता। गौरतलब है कि जिन लोगों को बांध, जलाशय, सिंचाई नहर और पीने के पानी की व्यवस्था के लिए पीढ़ियों से रह रहे ऐसे स्थान से उजाड़ा गया जहां हर ओर पानी ही पानी था आज वो ऐसे स्थान पर आ गए हैं जहां उन्हें पानी खरीदना पड़ रहा है। इससे ज्यादा बद्तर हालात और क्या हो सकते हैं?

शंकरभाई ने जिस बेबाकी से नर्मदा बचाओ आंदोलन से अलग होने और पुनः उससे जुड़ने की बात बताई वह किसी अत्यंत परिपक्व व सुसंस्कृत समुदाय में ही संभव है। उनकी इस महत्वपूर्ण भूमिका को और गुजरात में विस्थापितों के संघर्ष का जिस तरह से दस्तावेजीकरण संजय संगवई ने किया है, उसे भी देखते हैं,



देवमोगरा मंदिर में चढ़ाए जाने वाला घोड़ा

''3 मार्च 1992 को गुजरात में पहले प्रभावित गांव वडगांम के 24 परिवार 'मालू' पुनर्वास स्थल से वापस लौट आए। यह गुजरात के नजरिये से एक अभूतपूर्व घटना थी, क्योंकि वह अब तक दावा कर रहा था कि राज्य कम से कम गुजराती परिवारों का तो 'आदर्श पुनर्वास' कर ही रहा है। विस्थापितों द्वारा पुनर्वास हेतु दी गई भूमि लेने से इंकार करने से न केवल अधिकारी ही दंग रह गए बल्कि इस मुद्दे पर गुजरात विधानसभा में भी जबरदस्त हंगामा हुआ और सरकार ने पुनर्वास स्थलों पर पुलिस का पहरा बैठा दिया जिससे कि विस्थापित इन्हें छोड़कर न जा पाएं। इसके पश्चात् गुजरात के विस्थापितों ने निम्नस्तरीय पुनर्वास का भंडाफोड़ करना प्रारंभ किया, इसी के साथ ही साथ उन्होंने आंदोलन प्रारंभ किया और अंततः अपने मूल गांवों में लौटने की मांग की। सन् 1997 तक उन्होंने नर्मदा बचाओ आंदोलन के साथ निकट संपर्क बनाकर पुनर्वास कॉलोनी एवं नहरों से प्रभावित लोगों को साथ मिलाकर 'गुजरात नर्मदा असरग्रस्त संघर्ष समिति' का गठन कर लिया था। नंदिनी ओझा, प्रभुबाई तड़वी, शंकर केगड़ा, रसिक भाई, भीमा भाई और गोपाल जैसे मुख्य कार्यकर्ताओं ने पुनर्वास स्थलों पर बसे विस्थापितों एवं गुजरात के नहर प्रभावितों और अभयारण्य प्रभावितों को लामबंद करने की पहल की।

वे सरकार और बांध समर्थक गैर सरकारी संगठनों जैसे आर्च (एआरसीएच) वाहिनी से भर पाए थे, जो कि पुर्नस्थापना के 10 से 17 वर्षों पश्चात भी पुनर्वास की कमियों को ढाकने का प्रयास कर रहे थे। बांध समर्थक गैर सरकारी संगठनों ने लोगों को अपने पांरपरिक निवासों से बाहर निकाल कर उन्हें अकेला छोड़ दिया था। शुरुआती दौर में गुजरात के गांवों के प्रभावित लोगों ने बांध और विस्थापन का विरोध नहीं किया और पुनर्वास को भी स्वीकार कर लिया था। उन्हें आदर्श पुर्नस्थापना के वायदे के साथ विस्थापित किया गया था। जबकि वायदों के ठीक विपरीत गुजरात के 19 गांवों के लोगों को 180 से भी अधिक ऐसी पुर्नस्थापना (बसाहटों) में छितरा दिया गया, जिनमें से अधिकांश में टीन के बने मकान थे। उन्हें तयशुदा के बजाए गैर उपजाऊ जमीनें दी गई। इतना ही नहीं इन स्थानों पर पीने के पानी, चारे एवं ईंधन के साथ ही साथ अन्य मूलभूत सुविधाओं का भी अभाव था।

सार्वजनिक तौर पर टकटकी लगाए देखने के बरसों बाद बाहरी लोगों को दिखाने के लिए सरकार को कुछ दिखावटी 'आदर्श' पुर्नस्थापना वसाहटें (कॉलोनियां) बनाने को मजबूर होना पड़ा। कुछ लोगों ने इस आधार पर निष्कर्ष निकाला कि जबरदस्त पुर्नस्थापना हुई है। जबकि वास्तविकता यह है तकरीबन 20 वर्षों बाद भी अधिकांश विस्थापित अनुपजाऊ भूमि, अपर्याप्त या छितराई हुई जमीनों, घर, पानी, चारा और अन्य मूलभूत अनिवार्य सुविधाओं की कमी से जूझ रहे हैं। (हम लोग तो इस पुस्तक के छपने के 12 वर्ष पश्चात यानि विस्थापन के 32 वर्ष पश्चात इन वसाहटों/बस्तियों में गए थे, लेकिन आज भी हालात सुधरे नहीं हैं) इनमें से कई को रोजन्दारी करने नवसारी एवं सूरत जैसे दूरदराज के इलाकों में जाना पड़ता है। नकद अर्थव्यवस्था

पर पूर्ण निर्भरता ने उन्हें और अधिक गरीब बना दिया है। उनमें से आंशिक डूब में आए सैकड़ों लोग अपने मूल निवास लौट गए हैं जहां पर किसी भी परिस्थिति में रह पाना तो संभव हो और वे जिंदा रह पाएं। वे लगातार मांग कर रहे हैं कि जब तक उनकी यथोचित पुर्नस्थापना/पुनर्वास नहीं होता तब तक बांध का काम रोका जाए और मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र से बेदखल किए जाने वालों के विस्थापन पर रोक लगे। उनकी मांग है कि यदि सरकार उन्हें पुनः बसा नहीं सकती तो, बांध से पानी बहाकर उन्हें उनकी मूल जमीनें वापस की जाएं। वैसे अब गुजरात का आम आदमी भी नर्मदा के पानी के नाम पर उनके साथ की गई धोखाधड़ी को समझ चुका है। उन्हें अब इस बात का भान हो गया है कि सरदार सरोवर बांध, राज्य के लोगों की 'जीवन रेखा' नहीं बल्कि इसके राजनीतिज्ञों और ठेकेदारों की 'जीवनरेखा' है।'

हो सकता है ये विवरण विस्थापन से नष्ट हुई संस्कृति के दायरे में न आता हो, लेकिन यह आजादी के बाद शुरु हुई 'लूट की नई संस्कृति' को ठीक–ठीक समझाता है। गुजरात की दो 'आदर्श' बसाहटों को देखने के बाद ऐसा लग रहा था जैसे संजय संगवई सामने खड़े सजीव आंखों देखा हाल सुना रहे हैं। संजय भाई के गुजर जाने के बावजूद उनका लिखा आज हूबहू हमारे सामने आया। हमारे मन में यह बात घुमड़ रही थी कि विस्थापन के तीन दशक पश्चात भी यदि विस्थापित अभी भी स्वयं को असहाय पा रहे हैं तो इसके लिए किसे दोषी ठहराया जाए? क्योंकि सरकारें तो जनता द्वारा चुनी हुई होती हैं, इसलिए वे कोई भी जनविरोधी कार्य तो कर नहीं सकतीं और प्रशासनिक तंत्र तो वही करता है जो कि उससे राजनीतिक तंत्र कहता है, यानि वह तो गलती कर ही नहीं सकता। इस तरह हम कह सकते हैं कि आम जनता ने जन्म लेकर ही गलती की है।

बहरहाल हम अगली वसाहट की ओर इस उम्मीद के साथ बढ़ रहे थे कि शायद वहां स्थितियां बदली होंगी और हमारा पुराना लिखा गलत साबित होगा। इसी पशोपेश में हम पहुंचे भूतिया वसाहट में।

विस्थापन और पलायन साथ–साथ

गुजरात के खेड़ा जिले की कपड़वंज तहसील के ग्राम ठाकुर कंपा में स्थित भूतिया वसाहट में मध्यप्रदेश के अलिराजपुर (तत्कालीन झाबुआ) से विस्थापित आदिवासियों को बसाया गया है। इनमें से अधिकांश का मूलगांव ककराना था। कुछ लोग यहां 10–12 वर्ष पहले आ गए थे तो कुछ 5 साल से यहां रह रहे हैं। हमारे यहां पहुंचने पर काफी सारे लोग इकट्ठा हो गए थे। धीरे–धीरे बातों का सिलसिला शुरु हुआ। खामसिंह दशरिया भिलाला ने वसाहट की ओर से बात शुरु की। उन्होंने बताया कि वे करीब 5 वर्ष पूर्व यहां आए हैं। उनक परिवार में 3 लड़कियां और एक लड़का है। यहां उन्हें 5 एकड़ जमीन मिल गई है एक जोड़ी बैल भी उनके पास है और सरदार

सरोवर निगम ने घर बनाकर दिया है। उनके अनुसार इस बस्ती में करीब 135 परिवार हैं। वैसे सबसे पहले 11 परिवारों का समूह सन् 1997 में यहां आया था।

मध्यप्रदेश में उनके पास नदी के किनारे 16 एकड़ जमीन थी और साथ में जंगल भी लगा हुआ था। उन्होंने बताया कि भील और भिलाला दो अलग–अलग वर्ग हैं। हमारी जात (भिलाला) ऊँची है। हमारे यह पूछने पर कि ऐसा क्यों? तो उन्होंने जवाब दिया कि पहले से ऐसा ही होता आया है। वैसे हम एक ही भाषा भिलाली बोलते हैं। शादी कैसे करते हैं? पर उनका कहना था कि छोकरा–छोकरी (लड़का–लड़की) अपनी पसंद से शादी कर सकते हैं। हमारे यहां अभी दहेज 15–16 हजार रु. चल रहा है। विस्तार में जाते हुए उन्होंने बताया कि लड़का–लड़की को लेकर भाग जाता है। फिर बाहर के रिश्तेदार उनको बुलाते हैं, दोनों की राजी मर्जी जानकर शादी तय कर लेते हैं। लड़के का पिता लड़की के पिता को पैसा (दहेज) देता है, इसके बाद दोनों की शादी करा दी जाती है। इसी के साथ उन्होंने बड़ी सख्ती से कहा कि हम भील परिवार की लड़की को स्वीकार नहीं करते।

इसी बीच मौजी भाई टेकसिंह भाई नायक ने चर्चा आरंभ की। वे करीब 14 बरस पहले ककराना से यहां आकर बसे हैं। उनके परिवार में तीन लड़कियां हैं। इनके पिता को यहां 5 एकड़ जमीन मिली थी। तीनों लड़कों को अलग से कोई जमीन नहीं मिली। सभी लोगों का गुजारा मजदूरी और खेती पर संयुक्त तौर पर होता है। नायक व भिलाला समाज के बीच फर्क के बारे में उन्होंने सिर्फ इतना कहा कि नायक नीची जात मानी जाती है। लेकिन शादी ब्याह व रीति रिवाज व त्योहार एक से मनाए जाते हैं। शादियां तो एक सी होती हैं। गांव के हिसाब से दहेज तय होता है। मूल गांव और यहां की शादियों में कोई फर्क नहीं आया है। शादियां आसपास की बसाहटों जैसे खड़गोदरा, वागोडिया (बड़ौदा जिला) में भी होती हैं।

त्योहारों के बारे में पूछने पर सभी का कहना था कि होली पर गेहूं की सिवइयां बनाते हैं और उसमें गुड़ डालते हैं। मोरपंख लगाते हैं और शरीर पर चित्र बनाते हैं। इसी के साथ महाराज और बंदर भी बनते हैं। रंग खेलते हैं। यहां सात दिन तक रंग चलता है। उन्होंने बताया कि यहां भगोरिया हाट नहीं लगता, इसलिए मध्यप्रदेश जाते हैं। दीपावली को लेकर उन्होंने बताया कि इस दिन ढोल बजाते हैं, दारु पीते हैं और मुर्गा खाते हैं और मेहमानों को भी बुलाते हैं। पूरा गांव तय कर लेता है उसी दिन दीपावली मना लेते हें। यह दिन दीपावली से होली के बीच कोई सा भी हो सकता है। एक अन्य त्योहार है नवाई। इसे नई फसल आने पर मनाया जाता है। इस दिन भिंडी और चावल मिलाकर पत्ते में रखकर चूल्हे पर रखते हैं। इसके पहले उपवास रखते हैं। इसके बाद खाना पीना होता है। सभी का मत था कि दोनों समुदायों भिलाला और नायक के देव भी एक ही हैं। इसी के साथ वे देव दीवाली और दीवाली को भी एक ही मानते हैं।

वहां इकट्ठा लोगों ने बताया कि काफी समय तक प्रतिरोध करने के बावजूद जब अधिकांश खेती डूब गई तो मजबूरन यहां (गुजरात) आना पड़ा। यहां परिवार के एक सदस्य को ही जमीन मिली, जबकि सभी वयस्क लड़कों को भी मिलना चाहिए। यहां पर केवल तीन त्योहार ही बचे हैं। बच्चे देख देखकर थोड़ा बहुत सीख भी रहे हैं। अब त्योहार टाइम (समय) पर ही मनाने लगे हैं। (पहले गांव तय करता था, मुहुर्त नहीं) मनाने में थोड़ा हेरफेर भी होने लगा है। बलिप्रदान भी पहले से बहुत कम हो गया है। शराब अभी भी खुद ही बनाते हैं। यहां पर गुड़ की शराब बनाते हैं महुआ की नहीं। इसकी वजह यह है कि यहां महुआ के झाड़ ही नहीं हैं। महिलाओं ने बताया कि वे अब गीत भी भूलने लगी हैं और अगली पीढ़ी की लड़कियों को इनमें बहुत रुचि भी नहीं है। वहां बैठी एक महिला ने बताया कि उसका मायका वागड़िया में है इसलिए 12 महीने में एक बार जा पाती हैं। पहले तो 1–2 मील का अंतर रहता था। अब तो वहां जाने का 100 रु. किराया लगता है।

यह पूछने पर कि यहां आने के तुरंत बाद क्या स्थिति थी, पर लोगों का कहना था। शुरु–शुरु में माहौल बहुत कड़क (कठोर) था। यहां आसपास ठाकुर और पटेल ही रहते थे। हमें जो जमीने दी गई हैं वे यही के पटेलों और अन्य लोगों से खरीदकर दी गई थीं। ये लोग हमसे कहते थे कि तुम एम.पी (मध्यप्रदेश) के लोग बेइमान हो। पहले यूपी–बिहार के ही खराब लोग थोड़े दिनों के लिए आते थे, पर तुम तो यहां आकर बस ही गए हो। थोड़ा–थोड़ा अभी भी चलता है। ढोर चराने को लेकर झगड़ा होता है। हमें बदनाम करने के लिए अपनी खेती में हमारे जानवरों को खदेड़ देते हैं और पुलिस में ले जाते हैं। पुलिस भी तो गुजरात की ही है, वह भी उन्हीं का साथ देती है। वो हमसे जबरदस्ती सब्जी ले जाती है। जमीन आगे बढ़ाने और रास्ते को लेकर झगड़ा अभी तक चल रहा है। जमीनों की कीमत बढ़ने से वे लालच में आ गए हैं और हर साल अपनी जमीन आगे बढ़ाते जा रहे हैं। हमारी कहीं कोई सुनवाई ही नहीं है।

अपनी पीड़ा को अभिव्यक्त करते हुए वे कहते हैं, 15 साल बाद भी वे हमें अंजान मानस (मूर्ख व्यक्ति) समझ रहे हैं। इसी तारतम्य में उन्होंने एक उदाहरण दिया। बस्ती के मौजीराम किराना की दुकान चलाते हैं। वह कुछ सामान लेने स्थानीय व्यापारी की दुकान पर गए। वहां उस दुकानदार ने उन पर चोरी का आरोप लगा दिया और जेब में रखे 10 हजार रु. भी निकाल लिए। पुलिस भी उनकी ही तरफ थी। कहीं कोई सुनवाई नहीं हुई। पांच बरस मामला चला और 24 घंटे की सजा हुई। वह भी तब जबकि हमें आगे होकर समझौता करना पड़ा था। इस बात का अभी भी प्रचार किया जाता है। इसी बीच इस बस्ती के एकमात्र गैर आदिवासी निवासी दिनेश जगन्नाथ राठौर भी आ गए थे। वे भी मूलतः ककराना के हैं। यहां दुकान चलाते हैं और सन् 1997 में सबसे पहले इस वसाहट में आए थे। ककराना के पास के सुगठ गांव में इनकी नौ एकड़ जमीन थी। यहां इनके पास केवल 5 एकड़ जमीन ही है।

बात पुनः पटरी पर आई। यहां इकट्ठा लोगों का कहना था कि वहां हमारी जरुरत की अधिकांश चीजें जंगल से बिना किसी नकद भुगतान के मिल जाती थीं। खेती भी बहुत निवेश की मांग नहीं करती थी। यहां पर मूंगफली, ज्वार, बाजरी (बाजरा), मक्का, तिल्ली और अरंडी लगाते हैं। कुछ लोग सौंफ भी लगाते हैं।

सिंचाई की व्यवस्था भी नहीं है। पानी के लिए ट्यूबवेल भी खोदे हैं लेकिन बहुत कम ही सफल हो पाते हैं। जबकि हमसे सिंचाई वाली जमीन का वायदा किया था। यहां आबंटित जमीनें बहुत उबड़–खाबड़ हैं। इनके रखरखाव पर बहुत खर्च भी होता है।यहां 60x90 फिट के भूखंड पर निगम ने मकान बनाकर दिए है। मकान भी इनके हिसाब से नहीं बने हैं। मूलगांव में मौसम काफी ठंडा था यहां तो बहुत गर्मी है। पानी भी ट्यूबवेल और पाइप से मिलता है। पानी की बात आते ही बात की दिशा पुनः बदल गई। जमा हुए लोगों ने बताया कि वहां (मूलगांव) में दिन में कम से कम एक बार तो मछली खाते ही थे। नदी से ले आते थे। यहां तो बाजार से लानी पड़ती है। वो भी इतनी महंगी है कि दो महीने में एक बार ही खा पाते हैं। इसके अलावा फ्रिज में रखी मछली मिलती है तो खाने में ज्यादा मजा भी नहीं आता।

बातों में फिर नया मोड़ लिया। यहां खेती करने वाले 50 प्रतिशत से ज्यादा लोगों ने बैंकों से कर्जा ले रखा है। जिनकी पीयत की जमीनें हैं उन्होंने तो कर्जा उतार दिया है। बिना सिंचाई की जमीन वाले कर्जा वापस नहीं कर पा रहे हैं। कर्जा हर साल बढ़ता जा रहा है। बीज भी उधार में लाते हैं, लेकिन अच्छी बात यह है कि बीज पर ब्याज नहीं देना पड़ता। चूंकि जमीन बेच नहीं सकते इसलिए या तो गिरवी रखते हैं या बटाई पर दे देते हैं। पूरे पांच एकड़ का साल भर का किराया (बटाई पर) 4 से 5 हजार रु. मिलता है। फिर हम लोग मजूरी (मजदूरी) करने, खासकर बारिश की फसल में, जहां पटेल बुलाते हैं, वहां चले जाते हैं। हाल फिलहाल बड़ौदा, नवसारी एवं सौराष्ट्र जा रहे हैं। यानि यह ऐसा समुदाय है जो कि विस्थापन और पलायन दोनों साथ–साथ झेल रहा है।

स्वास्थ्य सुविधाओं के बारे में उनका कहना है, वहां तो स्वयं ही आधी बीमारियों का इलाज कर लेते थे। यहां पर तो डॉक्टर के पास जाना पड़ता है। सबसे नजदीकी दवाखाना 18 किलोमीटर दूर कपड़वंज में है। ये लोग कारण तो नहीं बता पाए पर उनका कहना था कि यहां पथरी की बीमारी बहुत हो रही है। इलाज में 30–35 हजार रु. तक खर्च हो जाते है। साधारण बुखार का इलाज भी 250 रु. से कम में नहीं होता। निगम की तरफ से 8 दिन में एक बार डॉक्टर आता है। शिक्षा के बारे में उनका कहना था कि वसाहट के कई बच्चे 12वीं तक पढ़ गए हैं। अगले ही क्षण वे कहते हैं कि जो खुशी वहां थी वह यहां नहीं है। क्योंकि यहां खर्चा बहुत ज्यादा है। तभी किसी ने कहा कि वहां हर एक के पास जानवर थे। कम से कम 8 जानवर तो सबके पास थे। कई के पास तो 40–50 तक थे लेकिन यहां पर जानवर भी नहीं पाल सकते। ज्यादा से ज्यादा एक जोड़ी बैल और दो भैंस हैं। बकरी भी बहुत कम हैं, हां मुर्गे जरुर हैं।

गुजरात की इस पुनर्वास बस्ती में बसाहट तो नजर आई लेकिन जीवन का आनंद और आदिवासी समुदाय की निश्छल उन्मुक्तता का अभाव था। अपना सोना जैसा पर्यावरण छोड़कर यहां पर दुर्दशा में दिन बिता रहा समुदाय एक मृग मरीचिका में जी रहा है कि शायद उसे कभी दोबारा अपने देश जाने का मौका मिले। हर साल होली पर होने वाली भगोरिया हाटों में इनकी भागीदारी आज भी बदस्तूर जारी है। यही इनको अपने परिवेश और स्मृतियों से जोड़े भी हुए है।

भूतिया बसाहट से निकलते हुए हमें आभास नहीं था कि हमारा अगला पड़ाव ऐसे गांव में होगा जहां पर भूतों का बसना प्रारंभ हो गया है। सन् 1999 के जेड़ पटेल द्वारा सरदार सरोवर परियोजना और मानवाधिकार नामक पुस्तक जो कि 'नर्मदा अभियान' ने प्रकाशित की थी, में लिखा था, 'कोई भी परियोजना राजनीतिक शून्यता से नहीं आती, इसके आर्थिक एवं राजनीतिक हितों के अपने संदर्भ होते हैं। इस 'यज्ञ' के लिए विवेक कुछ विश्वविद्यालयों के बुद्धिजीवियों ने प्रदान किया था, जिनका दावा था कि आदिवासियों को अपने विकास के लिए पुर्नस्थापना की आवश्यकता है और सरदार सरोवर परियोजना भारत को पिछड़ा बनाए रखने के अंतर्राष्ट्रीय षड़यंत्र का प्रतिकार है। सन् 1999 में उन्होंने यह भी घोषणा कर दी थी कि सरदार सरोवर परियोजना उन आदिवासियों के मानवाधिकार के संरक्षण के लिए है, जो कि 'अतिक्रमित' वन भूमि पर रह रहे हैं और जहां पर किसी भी प्रकार की सुविधा और पोषण अभी तक उपलब्ध नहीं है।'

दावे यही समाप्त नहीं हुए। एक वर्ग ने दावा किया कि आदिवासी तो हिंदू हैं और मोर्स समिति ने इन्हें स्वतंत्र समुदाय बताकर गलती की है। अन्य ने तो इस बात को ही नकार दिया कि आदिवासी नर्मदा घाटी में एक समुदाय की तरह रहते हैं। वैसे इस अभियान के कुछ नारों पर गौर करना रुचिकर होगा। ये थे 'डूब नहीं उभरना' 'वादा निभाना है।' कितना वायदा निभाया गया एवं आदिवासी डूबे या उभरे यह देखने हम अगली बस्ती में पहुंचे। हमारा पड़ाव था खेड़ा जिले के ठासरा तालुका की खड़गोदरा बसाहट।

'विस्थापन के साथ आई सिलिकोसिस, गोदना तो हमारा लाइसेंस था'

खड़गोदरा की पुनर्वास बस्ती में जाना काफी त्रासद सिद्ध हुआ। अब तक हम जितनी भी बस्तियों में गए थे वहां की समस्याएं ऐसी थीं जिन्हें सरकार चाहे तो ठीक कर सकती थी। लेकिन खरगोदरा में एक नई समस्या सिलिकोसिस नामक बीमारी के रूप में सामने आई। यह तो मालूम ही था कि मध्यप्रदेश के धार, झाबुआ एवं अलिराजपुर के आदिवासी गुजरात के बालासिनोर आदि स्थानों पर जाकर पत्थर तोड़ने वाले कारखानों में उड़ने वाली धूल (सिलिका) के संपर्क में आकर लाइलाज बीमारी

सिलिकोसिस के शिकार होकर असमय मृत्यु का शिकार हो रहे हैं। लेकिन गुजरात के नागरिकों के साथ भी ऐसा हो रहा है यह जानकर आश्चर्य हुआ। क्योंकि राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग द्वारा मध्यप्रदेश से पलायन कर आए मजदूरों को मुआवजा देने के विषय में गुजरात सरकार का मत था कि ये तो मध्यप्रदेश के निवासी हैं और यह वहां की सरकार की जिम्मेदारी है कि वह इन्हें मुआवजा दे। वहीं मध्यप्रदेश सरकार का कहना था कि चूंकि बीमारी गुजरात में लगी है इसलिए पुनर्वास उसकी जवाबदारी नहीं है।

ऐसा ही शायद सरदार सरोवर बांध के साथ हुआ है। इसके निर्माण के अधिकांश लाभ गुजरात को मिले हैं और विस्थापन नामक सिलिकोसिस मध्यप्रदेश को अत्यधिक भुगतना पड़ा है। ऐसी तमाम विरोधाभासी परिस्थितियों पर विचार करते हुए हमारी भेंट दक्खन भाई एरिया भाई सोलंकी से हुई। 35 वर्षीय दक्खन भाई के परिवार में पत्नी के अलावा तीन लड़कियां एवं एक लड़का है। वे मूलतः मध्यप्रदेश के अलिराजपुर (झाबुआ) के ककराना क्षेत्र के निवासी हैं। जब वे 17 वर्ष के थे तभी सन् 1994 में यहां आ गए थे। यहां आए तो खेती के लिए पांच एकड़ जमीन मिली। पीयत (सिंचाई) नहीं होने से वर्ष में एक ही फसल ले पाते हैं। यहां तो शुरुआत से ही पानी नहीं है। इनके पास आज भी वहीं (ककराना) का पट्टा मौजूदा है जिसके अनुसार वहां जंगल के भीतर इनके अलग–अलग खेत थे। नर्मदा का किनारा भी ज्यादा दूर नहीं था।

खेती से अब घर खर्च पूरा नहीं हो पाता इसलिए पास ही में स्थित बालासिनोर की नीलम इंडस्ट्री जहां पर कि पत्थर तोड़ने का कार्य होता है वहां पर जाते हैं। पहले ढाई तीन साल तो मजदूरी की। इसके बाद मोटर बनाने का कार्य सीखा और कारीगर हो गये। मोटर बिगड़ने पर उसे ठीक करते हैं। पिछले दो महीने से उन्हें सांस में दिक्कत होना शुरु हुईं। बालासिनोर के सरकारी अस्पताल में बताया गया कि उन्हें टी.बी. है। शरीर एकदम कमजोर हो गया है। वहां पर डेली अपडाउन (रोज आते–जाते) करते हैं। इस गांव के करीब 40–50 लोग वहां कारखानों में जाते हैं। एक महीने बाद (कार्तिक–अक्टूबर) के बाद तो 100 से ज्यादा लोग जाने लग जाएंगे।यहां तो फसल के अलावा कभी भी कोई मजदूरी मिलती ही नहीं है। वहां 18 कारखाने हैं, कहीं न कहीं तो काम मिल ही जाता है। इलाज के बारे में पूछने पर उनका कहना जो कागज वहां के सरकारी डिस्पेंसरी से मिले थे वे दूसरी पी.एच.सी. (प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र) पर दे दिए। नवम्बर से दवाई ले रहा हूं, अब दवाई की खुराक बढ़ गई है। उनका कहना है कि यदि बारिश अच्छी होती है तो 12 महीने खाने का (खेत से) निकल आता हैं, वरना इसमें भी दिक्कत आती है। दक्खन को देखने से साफ नजर आता है कि उन्हें टी.बी. नहीं बल्कि सिलिकोसिस है। लेकिन यह बात शायद जानबूझकर उनसे और उन जैसे अनेक मजदूरों से छिपाई जाती है जो वहां के पत्थर तोड़ने के कारखानों में काम करते हैं।

उन्हें बोलने में समस्या हो रही थी। लेकिन वे अपनी बात पूरी करना चाहते थे। सांस्कृतिक मसलों पर उनका कहना था कि बच्चे तो दोनों (गुजराती और भिलाली) दोनों ही भाषाएं जानते है। गोदने के बारे में पूछने पर कहा कि अब गोदना नहीं गुदवाते। सिर्फ हाथ पर नाम गुदवा लेते हैं। पहले तो गोदना हमारा लाइसेंस था। हां, मोतियों की माला बनाना अभी भी आता है। पढ़ाई के बारे में पूछने पर उन्होंने बताया कि बच्चे पढ़ाई तो कर रहे हैं लेकिन उन्हें नौकरियां नहीं मिलतीी। भिलाला समाज यहां अनुसूचित जनजाति में नहीं आता। इसलिए बच्चों को कॉलेज और बीएड कर लेने के बाद भी नौकरी नहीं मिलती। यहां आकर सब गुजराती में पढ़ाई कर रहे हैं। इसलिए मध्यप्रदेश या कहीं और काम नहीं कर सकते। अत्यन्त दुख से उन्होंने कहा कि नई पीढ़ी न तो गुजराती हो पाई और न ही मध्यप्रदेश की आदिवासी बनी रह पाई।

इस मुलाकात ने यह समझा दिया कि विस्थापन का असली खामियाजा किन लोगों ने भुगता है। अपना सब कुछ गवांकर मध्यप्रदेश से गुजरात आया आदिवासी समुदाय एकाएक 'सामान्य वर्ग' में कैसे तब्दील हो गया? मध्यप्रदेश ने अपने प्रदेश के नागरिकों को बेदखल करने से पहले इनकी स्थिति के संबंध में कोई बात क्यों नहीं की? जिन लोगों को इतने बड़े त्याग के एवज में विशेषाधिकार मिलने थे उसके बदले एक नागरिक के नाते जो पैदाइशी अधिकार उन्हें मिले थे, क्या बालिग होने पर वे उनसे छीने जा सकते हैं? क्या मध्यप्रदेश अब भी उन्हें अपना नागरिक मानता है? इनकी सांस्कृतिक विरासत को बचाने का कोई भी प्रयत्न क्यों नहीं किया जा रहा है? ऐसे तमाम सवाल दिमाग में घुमड़ रहे थे। विकास के नाम पर बेदखल एक ऐसा समाज जो कि अपने परिवेश में परिपूर्ण था इस नए वातावरण में कमोवेश लुटा–पिटा सा नजर आ रहा था। हम भी मध्यप्रदेश, गुजरात सरकार और नर्मदा नियंत्रण प्राधिकरण को कोसते हुए, अगले गंतव्य की ओर चल पड़े।



पुर्नवास बस्ती : गुजरात

विस्थापन ही विकास है

अब हम पहुंचे खेड़ा जिले के ठासरा तालुका के खड़गोदरा गांव में।

खडगोदरा में ककराना से आकर करीब 135 परिवार बसे हैं। यहां हमारी भेंट नीमा भाई फुगरिया भाई और पूरा भाई फुगरिया से हुईं ये दोनों भिलाला हैं। नीमा भाई के एक लड़का और चार लड़कियां हैं। उन्हें यहां आए करीब 20 साल हो गए हैं। उन्होंने बताया कि उनकी शादी के तुरंत बाद ही मूल गांव डूब में आ गया और वे यहां चले आए। पूरा भाई फुगरिया की तीन लड़कियां और तीन लड़के हैं। उन्हें यहां आए 16 साल हो गए हैं। अपने गांव के याद करते हुए वे बोले केमत (केमत गवले, जिन्होंने हमें इस बस्ती से अवगत कराया था) भी हमारे ही गांव का है। वह हमारे गांव के लोगों को भी ककराना में पढ़ाता था।

पूरा भाई का कहना है कि वहां गांव में हमारे परिवार के तीन लोगों की जमीन थी। यहां तो केवल एक व्यक्ति को पांच एकड़ जमीन ही मिली। सभी वयस्कों को भी तयशुदा शर्तों के हिसाब से जमीनें नहीं मिलीं। सिंचाई बड़ी समस्या है। खेती से पूरा नहीं पड़ता। पांच एकड़ में अब गुजारा ही नहीं होता। इसलिए इस बसाहट के प्रत्येक घर से कोई न कोई अभी भी मूल गांव में ही बसा हुआ है। गांव के 40 से ज्यादा लोग बालसिनोर के कारखानों में पत्थर पिसाई का काम करने जाते हैं। वैसे वहां नायक ज्यादा जाते हैं, अब भिलाला भी जाने लगे हैं। लेकिन अब काम करने में पहले जैसा जोश नहीं रह गया है।

रीति रिवाजों आदि के विषय पर बात करने पर उन्होंने बताया कि आज भी किसी परिवार में मृत्यु हो जाने पर त्योहार नहीं मनाया जाता। पूरा गांव ही सोलंकी यानि एक ही परिवार है। इसलिए कोई भी बात पूरे घरों (गांव) पर लागू होती है। हमें समझाते हुए उन्होंने कहा कि यदि एक घर में कोई एक भाई रोएगा तो क्या कोई दूसरा भाई खाना बनाएगा? अब तो ढोल भी कम बजता है। हम लोग अब मध्यप्रदेश के आदिवासी के बजाए गुजराती अधिक हो गए हैं। हमको लगने लगा है कि एम.पी. के रिवाज छोड़ कर अब गुजरात के रिवाज मानना पड़ेंगे।

आने के तुरंत बाद सामने आई समस्याओं को लेकर उनका कहना है। धीरे–धीरे हमारी स्वीकार्यता बढ़ रही है। अभी पटेलों से भी काफी सौहार्द हो गया है। अब थोड़ा बहुत विवाद तो चलता है। पंचायत चुनावों में अभी भी उन्हीं लोगों का बोलबाला है। हमारी बस्ती में कभी कोई मीटिंग नहीं करते। बस्ती में पीने के पानी की भी दिक्कत है, केवल एक ही पम्प है और 150 परिवार जो कि सभी ककराना से आए हैं, इसी पर निर्भर हैं।

खेती किसानी पर बात करते हुए उन्होंने बताया कि मूल गांव में खेतों में बाजरा, ज्वार, मकई, मूंगफली, मूंग, उड़द, चवले लगाते थे। इसके अलावा बैंगन, सेम (वाल) व गिलकी जैसी सब्जियां भी मिल जाती थीं। जंगल से तमाम तरह की साग सब्जियों

के अलावा लकड़ी और पशुचारा मिल जाता था। नर्मदा से हमारी बस्ती एक किलोमीटर की दूरी पर थी। हम तो वहां रोज मछली खाते थे। घर पर कोई भी आ जाए तो आधा घंटे में खाने का इंतजाम हो जाता था। यहां तो अगर जेब में पैसे हों तभी ठीक से खाना खा सकते हैं, वर्ना तो मिर्ची रोटी ही खाना पड़ती है।

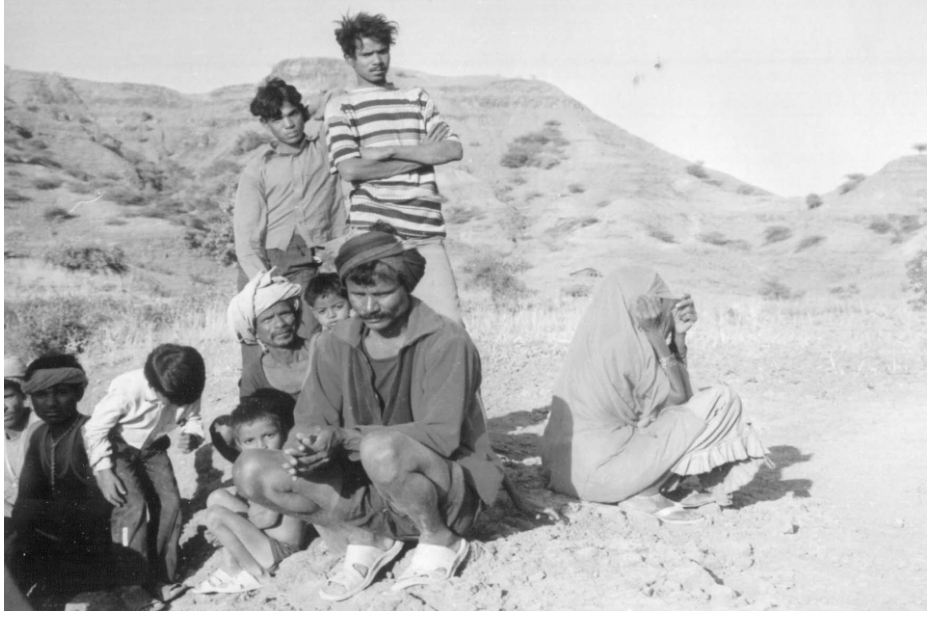
ठंडी सांस भरते हुए वे कहते हैं, यहां तो मजबूरी में रह रहे हैं। वहां तो अपना गांव था। यहां तो भाषा भी बदल गई। इसकी वजह से बाजार में भी दिक्कत आती है। पहले तो गांव वाले (व्यापारी) बहका देते थे, लूटते भी थे। देखकर हमारा मजाक भी उड़ाते थे और कहते थे कि देखो नगरी वाले/मामा लोग आ गए हैं। ज्वार का भाव भी कम बताते थे। भैया, शुरुआत में तो हमको खूब लूटा। सोचने वाली बात यह है कि सरकारों ने ही जिनको पूरी तरह से लूट लिया हो, उनके पास अब लुटाने को क्या बचा है? ऐसा समाज जो आधे घंटे में बिना पैसों के भी खातिरदारी करने में सक्षम था, उसकी सम्पन्नता का सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है। लेकिन बदली परिस्थितियों एवं पहले से बेहतर जीवनस्तर के वादों के साथ किया गया जबरिया विस्थापन उन्हें भुखमरी के कगार पर ले आया है।

गुजरात की पुनर्वास बस्तियों का हमारा दौरा यहां समाप्त हो रहा था। देशभर के अखबारों और समाचार चैनलों में गुजरात के विकास की यशोगाथाएं सुनने के बाद, विकास की पहली शर्त पानी और बिजली के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के बाद गुजरात सरकार और वहां के कतिपय नागरिकों का विस्थापित समुदाय की संस्कृति के साथ किया जा रहा खिलवाड़, हतप्रभ कर देने वाला था। अपनी यात्रा का चक्र पूरा करने के लिए हम अब गुजरात से मध्यप्रदेश के अलिराजपुर की ओर मुड़ गए।

लेकिन हमारे कानों में बरसों पहले गुजरात के कुछ वरिष्ठ सामाजिक कार्यकर्ताओं और गैर सरकारी संगठनों द्वारा दी गई चेतावनी गूंज रही थी। उन्होंने कहा था ''(इस) मुद्दे पर अब ताला लग गया है। गुजरात के लोगों के लिए सरदार सरोवर परियोजना एक भावनात्मक मुद्दा है। अब कोई बातचीत नहीं, कोई समीक्षा नहीं। बहुत हो चुका। जो बांध का विरोध कर रहे हैं वे राष्ट्रविरोधी, गुजरात विरोधी, सीआईए के एजेंट, नक्सलवादी, के.जी.बी., पाकिस्तानी आदि हैं। वे आदिवासियों, किसानों और गुजरात के निवासियों को बहका रहे हैं। उनके समर्थन में कोई भी नहीं हैं। साथ हैं भी तो कुछ शरारती तत्व और खासकर वो औरत, मेधा पाटकर। उन्हें गुजरात में बिल्कुल भी समर्थन नहीं है। उन्हें और उनके समर्थकों को गुजरात से बाहर खदेड़ देना चाहिए, लोगों द्वारा उन्हें सबक सिखाया जाना चाहिए और उनका बहिष्कार किया जाना चाहिए। लोगों की गलती नहीं होगी यदि वे हिंसक हो जाते हैं। दरअसल ये लोग इसी के लायक हैं। ये आग से खेल रहे हैं। चीन और सोवियत रूस जैसे देशों की सरकारें इन लोगों को गोली से उड़ा देतीं। लेकिन हम गुजरात के लोग धैर्यशील हैं। सरदार सरोवर परियोजना की ऊंचाई एक इंच भी कम नहीं होगी और एक दिन के लिए भी काम नहीं रुकेगा। यह गुजरात की अस्मिता और जीवनमरण का प्रश्न है।

सरदार सरोवर परियोजना ही एकमात्र हल है। यदि सरदार सरोवर परियोजना का निर्माण नहीं हुआ तो अगली शताब्दी में गुजरात नष्ट हो जाएगा। बांध विरोधी लोगों का कोई प्रभाव नहीं है। उनकी वजह से बांध के विकास कार्यों में बाधा पड़ी हैं। उन्हें विदेशी धन प्राप्त होता है। ये विदेशी ताकतों की कठपुतलियां हैं। विश्वबैंक ने स्वयं इसे न्यायोचित बताया है और वित्तीय सहायता दी है। अब और क्या चाहते हैं? आदिवासी भी विस्थापन से प्रसन्न हैं और (यहां) अब तक का सर्वाधिक आदर्श पुनर्वास हुआ है। आदिवासी अपने मूल गांवों में बहुत ही फटेहाल अवस्था में रह रहे थे। वे समुदाय में नहीं रहते। उनका विस्थापन ही उनका विकास है।'

अब इसके आगे और क्या कहा जा सकता था? परंतु उपरोक्त जयघोष करने वालों को आज इन वसाहटों में आकर 'आदर्श पुनर्वास' की स्थिति देखनी चाहिए। सच्चाई खुद ब खुद सामने आ जाएगी। वे भी गुजरात में ही रह रहे होंगे और 'वह औरत' मेधा पाटकर, आज भी हर कदम पर अपनी हर दलील को 'सच' साबित करती जा रही है। फिर गुजरात के नागरिक या न्यायालय माने या न माने भविष्य तो उसी औरत को सलाम करेगा।





मध्यप्रदेश में वापसी : सीधी नदी की गोल परिक्रमा

मध्यप्रदेश के धार जिले से प्रारंभ हुई यह हमारी शिक्षण यात्रा बड़वानी से महाराष्ट्र और गुजरात होते एक बार पुनः मध्यप्रदेश में पुनः प्रवेश कर गई। गुजरात का अनुभव वास्तव में काफी शोकजनक आश्चर्य पैदा करने वाला था। विस्थापितों की सांस्कृतिक विरासत की रक्षा तो बहुत दूर की बात थी वहां उनकी आर्थिक सुरक्षा भी नदारद थी। ऐसे बाबा महरिया की चिट्ठी एक बार पुनः याद आई उन्होंने कहा था 'आप कहते हैं कि गुजरात जाओ। वहां तुम्हारा भला होगा विकास होगा। पाठशाला होगी तो तुम्हारे बच्चे पढ़–लिख जाएंगे। सड़क होगी, तो बस में बैठकर घूमना आसान हो जाएगा। वहां बिजली होगी। बीमारी में डॉक्टर मिलेगा। हमारा कहना है हमें भी यह सब चाहिए, पर गांव में। अपने गांव के उजड़ने की कीमत पर नहीं। हमारी औरतें, मुर्गा बोलते ही घट्टी पीसना शुरु कर देती हैं। बिजली आएगी तो मोटर चक्की से पिसवाएंगे। हैंडपम्प होगा तो बरसात में नदी का लाल पानी नहीं पीना पड़ेगा। पाठशाला होगी तो हमारे बच्चे भी पढ़ लिख लेंगे। बिजली होगी तो नदी का पानी लाकर जाड़े में भी फसल लेंगे। यदि आपको सिंचाई के लिए मोटर देना है, बिजली देनी है – पाठशाला देनी है तो हमारे इसी गांव में क्यों नहीं देते? चालीस पचास साल हो गए हमारा राज आया है, लेकिन अब तक हमें यह सबकुछ क्यों नहीं दिया? इसे पाने के लिए हमें गुजरात क्यों जाना पड़ेगा? दूसरे गांव के हमारे भई बंद हर साल जाड़े में मजदूरी करने गुजरात में सूरत, नवसारी जाते हैं। क्या उनके बच्चों को कभी पढ़ने को मिलता है? क्या उनको बिजली मिलती है? वे तो बिल्डिंग बांधते हैं और खुद सड़क पर सोते हैं। सब जगह आदिवासियों का यही हाल हो रहा है। बरगी बांध में भी हमने देखा है कि अभी तक सभी भटक रहे हैं। सरकार ने हमसे न पूछा न ताछा और भोपाल, दिल्ली, अहमदाबाद में बैठकर हमारी जिंदगी का निर्णय ले लिया। क्या हम किसान, आदिवासियों, भील, भिलाला, नायक, मानकर को मनुष्यों में नहीं गिना जाता?''

बाबा महरिया के यह महज प्रश्न नहीं हैं, ये अकाट्य तर्क हैं हमारी विकास की आधुनिक एवं केंद्रीकृत अवधारणा के विरुद्ध। सरकारें बाबा महरिया, आदिवासी और किसान समाज की भाषा ही नहीं समझतीं, तो उनकी भावना कैसे जाने? शायद इसीलिए शिकायत निवारण प्राधिकरण तक में कोई दुभाषिया नहीं है जो कि इनकी बात को न्यायाधीशों को सुना सके। सारी गतिविधियां सिर्फ दस्तावेजों पर ही चल रही हैं। वैसे इस देश में कुछ और भी लोग हैं, जो आदिवासियों की बातों को सरकार द्वारा समझी और बोली जाने वाली भाषा में समझाते हैं। क्या सरकार उन पर ध्यान देती है? देखते हैं बाबा महरिया की बात को अरुंधति राय किस तरह रखती हैं, ''आज 'प्रगति' और 'विकास' जैसे शब्द आर्थिक 'सुधार' 'पाबंदियां हटाने' और 'निजीकरण' के पर्याय बन चुके हैं। 'स्वतंत्रता' का अर्थ आज 'विकल्प' हो गया है। उनका संबंध अब मानवीय चेतना से कम और दुर्गन्धनाशकों की अलग–अलग किस्मों से अधिक हो गया है। 'बाजार' का अर्थ अब ऐसी जगह नहीं रह गया है जहां आप सामान खरीदने जाते थे। 'बाजार' अब एक सीमाविहीन स्थान बन गया है जहां बिना चेहरे वाले निगम रोजगार करते हैं, जिसमें 'भविष्य' की खरीद–बेच शामिल है। अब 'न्याय' का अर्थ 'मानवाधिकार' हो गया है। (जिनके बारे में वे कहते हैं थोड़े से ही काफी होंगे) भाषा की यह चोरी शब्दों पर कब्जा करके उन्हें हथियारों की तरह कतारबन्द करने की यह तकनीक, अपने असली इरादों को छुपाने के लिए उनका इस्तेमाल करना और उनके पारंपरिक अर्थों के ठीक विपरीत अर्थ उनमें भरना, नये निजाम के शहंशाहों की सबसे मेधावी रणनीतिक विजयों में से एक है। इसने उन्हें मौका दिया है कि वे अपने विरोधियों को हाशिये पर डाल सकें, उन्हें ऐसी भाषा से वंचित कर दें जिससे वे अपनी आलोचना को व्यक्त कर सकें और उन्हें 'प्रगति विरोधी', 'विकास विरोधी', 'सुधार विरोधी' और हां, 'राष्ट्र विरोधी' यानि सबसे खराब किस्म के नकारवादी कहकर खारिज कर सकें। किसी नदी को बचाने या जंगल को बनाये रखने की बात करके देख लीजिए और वे कहेंगे 'क्या आप प्रगति में विश्वास नहीं करते? जिन लोगों की जमीने बांधों के जलाशयों में डूब रही हैं और जिनके घरों में बुलडोजर चलाए जा रहे हैं, (उन्हीं से पूछते हैं) 'क्या आपके पास विकास का कोई वैकल्पिक नमूना है? 'जो लोग विश्वास करते है कि सरकार का कर्तव्य लोगों को बुनियादी शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा और सामाजिक सुरक्षा उपलब्ध कराना है, उनसे वे कहते है 'आप बाजार के खिलाफ हैं' और बाजार के खिलाफ आखिरकार किसी मूढ़ के सिवा और कौन होगा?' इतना नहीं वे आगे कहती हैं 'इन चुराये गये शब्दों को फिर से अपने कब्जे में लेने के लिए जिन व्याख्याओं की जरुरत पड़ेगी, वे इस दुनिया के लिए बहुत थकाऊ हैं जिसका ध्यान अल्पजीवी है और इस युग के लिए बहुत महंगी हैं, जिसमें स्वतंत्र अभिव्यक्ति गरीबों की बिसात से बाहर हो चुकी है। हो सकता है भाषा का यह अपहरण ही हमारे सत्यानाश का मुख्य कारण साबित हो।'

एक ही विषय पर तीन मन्तव्य हमारे सामने है। एक गुजरात के चयनित प्रबुद्ध वर्ग की चेतावनी, बाबा महरिया की चिट्ठी और अरुंधति राय की बेबाक टिप्पणी। बाद के दोनों मन्तव्य कमोवेश पर्यायवाची हैं वहीं गुजरात की चेतावनी की गंभीरता और आसन्न संकट की ओर इशारा भी कर रहे हैं।

पुनर्वास को लेकर गुजरात सरकार के दावों की सत्यता हमारे सामने थी। विस्थापितों में से अधिकांश के पास असिंचित, पथरीली व उबड़–खाबड़ जमीनें ही थीं। उनका सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश उजड़ चुका था। उनकी भाषा उनसे दूर होती जा रही थी और आदिवासी संस्कृति के बजाए गैर आदिवासी संस्कृति उन पर हावी होती जा रही थी। इसी उलझन में उलझते हम मध्यप्रदेश के अलिराजपुर पहुंच गए। यह पहले झाबुआ जिले का हिस्सा था। कुछ ही वर्ष पहले इसे पूर्ण जिले का दर्जा मिला है।

अब आदिवासी नहीं है आदिवासी

शंकर तलवड़े मूलतः सौंडवा ब्लाक के बड़दा गांव के रहने वाले हैं। उनका गांव सरदार सरोवर की डूब में नहीं आ रहा है। वे भिलाला हैं और इस अंचल में अत्यंत सक्रिय हैं। सन् 1985 में खेडूत मजदूर चेतना संगठ से जुड़े और इसके बाद सन् 1994 से आदिवासी एकता परिषद के साथ जुड़कर, आदिवासियों की संस्कृति, इतिहास, मानवीय मूल्यों, प्रकृति पूजन एवं प्रकृति संरक्षण पर कार्य कर रहे हैं।

बातचीत की शुरुआत में उन्होंने कहा कि इस क्षेत्र में निवास करने वाले मानकर, कोतवाल, धानोक, बारेला, भील, भिलाला और नायक के रीति रिवाजों, त्योहारों और अनुष्ठानों में ज्यादा अंतर नहीं है। मानकर समुदाय पर चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि इस समुदाय ने कभी भी अपने पास जमीन नहीं रखी। ये तीर कमान बनाते और बेचते रहे और गाय–ढोर चराते रहे। लेकिन कभी भी आदिवासियों की तरह बसे नहीं। इसलिए आदिवासी होते हुए भी सरकार इन्हें आदिवासी मानने को तैयार नहीं है।

आदिवासियों की परंपराओं के संबंध में उन्होंने बताया कि एक महत्वपूर्ण परंपरा ''ढाशिया या लाह बुलाना'' है। इसमें किसी कार्य के लिए गांव के लोगों को बुलाया जाता है। सब लोग मिल जुलकर उस कार्य को पूरा कर देते हैं। उदाहरणार्थ यदि किसी को अपना घर बनाना है तो प्रत्येक घर का एक सदस्य जाकर, दिन रात लगकर काम करेगा और घर बनवा देगा। इसी तरह खेत की जुताई, बुआई और कटाई का काम भी होता है। शंकर भाई ने कहा कि लाह यही तक सीमित नहीं है। यदि गांव में कोई व्यक्ति बीमार पड़ जाता है तो पूरा फालिया उसे खाट पर लिटाकर अस्पताल ले जाता है। बीच–बीच में थकने पर दूसरा व्यक्ति लग जाता है। यदि फालिए में कोई गंभीर रूप से बीमार हो जाता है तो नवई, इंदलपूजन, पिथौरा, दिवाली सभी स्थगित कर देते हैं। यदि व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो मृतक के संस्कार हेतु सब

इकट्ठा होते हैं। सावा धोवा (सभी मृतक को नहलाते है) इसके बाद शोक की बैठक रखते हैं और त्यौहार निरस्त कर देते हैं। इसके बाद थोड़ी पूजा करते हैं और अपने–अपने घर चले जाते हैं।

त्योहार के दौरान किसी की मृत्यु हो जाने पर भिगो कर रखी गई उड़द की दाल (इधर के सभी समुदायों में उड़द की दाल का अत्यधिक महत्व है) को सुखा देते हैं। सामान्यतया 12 फालियों का एक गांव होता है। किसी एक फालिए में मृत्यु होने पर अदला बदली (एक के यहां मृत्यु होने पर पड़ौसी फालिए का भी त्योहार न मनाने की परंपरा) हो जाती है। किसी की मृत्यु की दशा में गांव के सभी लोगों को जिनमें दलित (गैर आदिवासी) व सवर्ण भी शामिल हैं, इस परंपरा को मानना पड़ता है। इसी क्रम में उन्होंने बताया कि मृत देह के घर से बाहर जाते ही अच्छी राख को छाना जाता है। उसे जमीन पर बिछाने के बाद थाली से रगड़कर एकदम चिकना बना देते हैं। फिर उस पर दिया जलाकर रखकर टोकनी से ढांक देते हैं। दाह संस्कार से लौटकर मृतक के जमाई (लड़कियों के पति) टोकनी हटाते हैं। फिर ध्यान से देखते हैं कि राख में कौन सी आकृति बनी है। यदि सीधी रेखा बनी है तो माना जाता है कि सांप की योनि में पुनर्जन्म लिया है। इसी तरह चीटें, कुत्ते, बिल्ली के भी निशान हैं। यदि कोई निशान मानव पैर की तरह बनता है तो माना जाता है कि उसने मनुष्य योनि में जन्म लिया है।

शंकर भाई बताते हैं कि दशहरा के दिन ढोल ठोकना पड़ता है। यानि ढोल प्रतिदिन बजना चाहिए। होली के बाद से रंगपंचमी तक लगातार थाली ठोककर ढोल बजाया जाता है। शाम को ढोल की आवाज सुनकर सब इकट्ठा होते हैं और रात को 12 बजे तक ढोल बजाते हैं। इस समय ढोल भी वजनदार होता है। इसे लकड़ी के स्टेण्ड पर रखकर बजाया जाता है। नृत्य भी तरह–तरह के थे। अब तो कम होते जा रहे हैं। उनका कहना था कि खेलेगे (नाचेंगे) तो ही तो सीखेंगे। पहले तो लगातार नाचते रहते थे। बच्चों की पंक्तियां पीछे रहती थीं, जिससे कि उन्हें देखकर सीखने का मौका मिले। स्त्रियों की लाइन अलग रहती थीं और उनके पीछे लड़कियां रहती थीं।

नाचने के दौरान गाने की शुरुआत पुरुष करते थे फिर महिलाएं गाती थीं। विस्थापित समुदाय के बारे में बात करने पर शंकर भाई ने कहा कि वहां जाकर तो लोग अपनी भाषा ही भूल गए। काकड़ मेला (जलसिंधी) का सरपंच धानगिया भाई गुजरात जाने के बाद 'जोरदार' दिखने लगा है। वहां उसने जीप भी ले ली है। अब उसे गुजराती बोलने में ही सम्मान महसूस होता है। यहां की भाषा भूलने लग गया है। जब कभी हमसे बात करने में अटकता है तो शर्माने लगता है।

शंकर भाई क्षेत्र के नृत्यों के बारे में बताने लगे। यहां नृत्यों के अलग से कोई नाम तो नहीं है, लेकिन पर संचालन के हिसाब से इन्हें पुकारा जाता है

फिरिर ने नाचवानों	– धूम–धूम कर नाचना
पुदु नाचवानो	– सीधा नाचना
	– आगे पीछे होकर नाचना
जोड़ों ना नाचवानो	– युगल नृत्य
उबला नाचवानो	– (सीधा जाना – चक्कर नहीं लगाना)
बुधलिया नाचवानो	– (मोर पंख आदि लगाकर या होली के समय के नृत्य)
(रात)	– 9 से 11 तक धांधली से नाचना

ज्यादातर गीत जंगलों आदि या प्रकृति से संबंधित रहते हैं। पहाड़ को माता–पिता का दर्जा दिया जाता है जैसे

आई भवराई (पहाड़ का नाम) या
बाबा बडरिया (पहाड़ का नाम)

उनका कहना था कि महुआ केवल शराब बनाने के काम नहीं आता। सूखा महुआ भी खाया जाता है। इसे भूना भी जाता है। तुअर की दाल में उबाल कर भी खाते हैं। साथ ही इसे तेल में तलकर भी खाया जाता है। इससे बीनने के लिए सुबह 5 बजे ही उठकर भागना पड़ता है। यह सोचकर ही सोते हैं कि सबेरे उठना है।

गांव की वृद्ध महिलाएं महुआ का ये गीत गाती हैं
राते गोली मुहड़ी रे
रे राते रहणों
रात चुटाला, रे राते रहणो
महुआ लाल चट गिरे
शंकर भाई ने कहा वहां तो बांसुरी में गाने भरना पड़ते थे।

यह भी जानने योग्य था कि आदिवासी समुदाय में इतनी उपशाखाएं क्यों प्रचलित हैं। शंकर भाई का कहना था कि पहली बताए गए वर्गों में कोतवाल एकमात्र गैर आदिवासी समुदाय है। यहां इसका कार्य गांव की चौकीदारी के अलावा पुलिस की सहायता और गांव के त्योहारों आदि की सूचना देना है। बदले में उसे कुछ न कुछ दिया जाता है। धार व खरगोन जिले में ये बलाई समुदाय में आते हैं यहां भी ये दलित समाज में ही आते हैं। इसके अलावा मानकर, नायक, कोतवाल व धानुक समुदाय के लोग मुर्गा व

बकरी के अलावा बैल, भैस और गाय आदि भी खाते हैं। भील समुदाय के लिए इनका कहना है कि ये कभी कभार ही सही लेकिन गाय, भैंस व बैल खाते हैं। वैसे ये लोग कुत्ते को साथ लेकर तीर कमान से शिकार भी करते हैं। इन सबसे अलग भिलाला समुदाय ऐसा है जिसने सबसे पहले खेती करना शुरु किया और ये केवल मुर्गी व बकरी/बकरा ही खाते हैं। इसीलिए शायद इन्हें सबसे ऊंचा माना जाता है। वैसे इस तरह का भेदभाव ठीक भी नहीं है। अभी तक तो यह होता था कि भिलाला समुदाय के लोग भीलों के यहां रखा पानी भी नहीं पीते थे। उनके आने पर नए मटके में पानी लाना पड़ता था। लेकिन अब स्थितियां बदल रही हैं। सभी आदिवासियों को अपने को एक मानना चाहिए। पिछले दिनों इस अंचल में इन वर्गों में आपस में विवाह भी हुए हैं।

ठहरा पानी, रुका वक्त और मुस्कुराती जिंदगी

गांव जलसिंधी तहसील एवं ब्लाक सोंडवा अलिराजपुर – म.प्र.

जिस दिन हम अलिराजपुर पहुंचे वह वर्ष का अंतिम दिन या नववर्ष की पूर्व संध्या का दिन था। शहर में एकाध रेस्टॉरंट पर हो रही रोशनी के अलावा और इसका कोई निशान नजर नहीं आ रहा था। ककराना के केमत गवले एवं नर्मदा बचाओ आंदोलन के भागीरथ को साथ ले हम जलसिंधी की ओर निकले। अब हम जिन इलाकों में जा रहे थे, वे अपने आप में अनूठे इसलिए थे कि यहां के पहाड़ों पर निवास कर रहे आदिवासियों की उपजाऊ जमीनें बरसों पहले सरदार सरोवर बांध की डूब में आ गई थीं। मगर इन लोगों ने आज तक अपनी जमीन का मुआवजा नहीं लिया है। ये अब पहाड़ों पर बस गए हैं। हम कवांठ (गुजरात) (जिसका कि जिक्र अनेक स्थानों पर विस्थापितों ने किया है क्योंकि यह इस क्षेत्र का सबसे बड़ा बाजार माना जाता है), से होते हुए गुजरात के हापेश्वर में पहुंचे।

यहां से एक मोटरबोट में बैठकर हमारी यात्रा शुरु हुई। थोड़ी दूरी पर जाकर बोट को रोका गया। वहां पर हम इस बोट से उतरकर लुआरिया को प्रदान की गई बोट में बैठे। यहां पर ये लोग अपने किसी मृत रिश्तेदार के लिए पूजा अर्चना करने आए थे। बोट चलाने वाले को जब हमने पैसे देने का प्रयास किया तो उन्होंने कहा कि आप लोग लुआरिया के यहां आए हो तो आपसे पैसे कैसे ले सकते हैं? हमने कुछ देर इस नई बोट में इंतजार किया। इस बीच भागीरथ ने बताया कि पिछले दिनों ब्रिटेन की एक महिला बीबीसी के लिए फिल्म बनाने आई थीं। यहां की दुर्गम परिस्थितियों को देखने के बाद उन्होंने एक मोटरबोट लुहारिया को दी जिससे कि आवागमन आसान हो सके। अब इस बोट का प्रयोग स्वास्थ्य संबंधी किसी आकस्मिकता के लिए या हाट बाजार वाले दिन हापेश्वर तक आने के लिए होता है। कई बार नर्मदा बचाओ आंदोलन के कार्यक्रमों में जाने के लिए ये लोग इससे बड़वानी तक जाते हैं। बोट से बड़वानी पहुंचने में करीब 7–8 घंटे लगते हैं।

थोड़ी देर में हमने देखा कि एक–एक करके लोग ऊपर पहाड़ से नीचे आकर बोट में बैठने लगे। कुछ ही समय पश्चात बोट की यात्रा प्रारंभ हो गई। चारों ओर पानी ही पानी नजर आ रहा था। कोई और स्थान होता तो इतना पानी देखकर मन खुशी से उछल पड़ता। लेकिन यहां इस बोट में बैठे हुए प्रलय की कल्पना दिमाग में उठ रही थी। आज हम जिस पानी की सतह पर से गुजर रहे थे, एक दशक पहले इसके नीचे एक फलता–फलता, हंसता–खेलता पूरा समुदाय निवास करता था। हापेश्वर का पुराना ऐतिहासिक मंदिर डूब में आ चुका था। एकाएक भागीरथ और केमत ने बताया कि देखिए यहां से तीनों प्रदेश महाराष्ट्र, गुजरात व मध्यप्रदेश दिखाई देते हैं। हमारे पीछे की तरफ गुजरात था दायीं ओर मध्यप्रदेश और बाई ओर महाराष्ट्र। हमने सोचा कि एक संगम गंगा, यमुना और अदृश्य सरस्वती का प्रयाग में होता है। इसी उपमहाद्वीप में हिंद महासागर, अरब सागर, बंगाल की खाड़ी का एक संगम है। हिमालय के पाक अधिकृत कश्मीर के पास एशिया और यूरोप का संगम होता है। नर्मदा में ओंकारेश्वर में नर्मदा में कावेरी का संगम भी बांध बनने के बाद लुप्त सा हो गया है। उज्जैन का त्रिवेणी संगम स्नान के पवित्रतम स्थलों में माना जाता है। लेकिन हर जगह संगम नई ऊर्जा, आध्यात्मिकता और उत्साह के संगम के रूप में हमारे सामने आता हैं। मगर हम बोट में जिस संगम पर खड़े थे वह हमारे आधुनिक समय का मानव निर्मित प्रलय था। सैकड़ों फुट पानी के नीचे डूबी सभ्यता किसी प्राकृतिक दुर्घटना का कारण नहीं थी। हमारे समय के विकास के सबसे बड़े साधन बिजली का परिणाम थी। यह सोचकर ही सिरहन और आत्मग्लानि हो रही थी कि हम इस त्रासदी के न केवल गवाह हैं बल्कि इस प्रलय के लाभार्थी भी हैं। बाइबिल में नोह की नाव प्रलय में अकेली बची थी। वहीं हमारे यहां प्रलय के बाद मनु और श्रद्धा का अकेले बच रहना बताता है कि प्रलय के बाद भी संभावना बनी रहती है। लेकिन क्या सरदार सरोवर जलाशय में ऐसा हो पाना अब संभव है? नोह, मनु, श्रद्धा सब कहीं न कहीं मिथकीय चरित्र हैं। लेकिन इस मोटरबोट पर बैठे हुए मैं, सरोज, केमत और भागीरथ तो वास्तविक जीवन के पात्र थे।

बोट इस खुली धूप में मोटर बोट अपनी रफ्तार से चलती जा रही थी। इस समुद्र जैसे विशाल जलाशय के किनारे खड़े मजबूत और विशाल पहाड़ भी शायद अपनी दृढ़ता को लेकर पहली बार लज्जित महसूस कर रहे होंगे। क्योंकि हमने आज जहां से इस यात्रा की शुरुआत की थी वह सरदार सरोवर जलाशय का अंतिम छोर था। इन पहाड़ों की मजबूती के कारण ही इस स्थान का चुनाव हुआ था क्योंकि इनमें पूरे जलाशय का भार वहन कर पाने की क्षमता थी। केमत और भागीरथ नीचे पानी में इशारा कर बता रहे थे यहां पहले जलसिंधी था। यहां नर्मदा जी बहुत ही पतली हो जाती थी। देखिए वहां हापेश्वर मंदिर था। वहां भादल था और वहां अंजनवाड़ा। कहीं दूर इस जलाशय के बीचोबीच ताड़ (खजूर) का एक हरा भरा पेड़ नजर आया। मानो कह रहा हो कि जीवन की आस कभी छोड़ना नहीं चाहिए। तभी बोट ने दिशा बदली

और ताड़ के पेड़ों का एक पूरा झुरमुट भी नजर आया। तमाम आशावादिता के बावजूद अंततः वास्तविकता तो नैराश्य देने वाली ही थी। दूर किनारों पर कुछ नीला–नीला सा नजर आ रहा था। उसे लेकर उत्सुकता भी थी। धीरे–धीरे बोट ने अपना रास्ता बदला। हम पहाड़ों के नजदीक जा रहे थे। बीच के टापुओं पर पक्षी बैठे थे। थोड़ी देर में पता चला कि नीले दिखने वाले मछली पकड़ने के जाल हैं। पहाड़ों के थोड़ा और नजदीक पहुंचे। दूर से इन पहाड़ों के बीच में ढलान पर कुछ चौकोर धब्बे से नजर आ रहे थे। नजदीक पहुंचने पर दिखा कि ये खेत हैं जिन्हें इस ''प्रलय के शिकार'' लोगों ने पहाड़ों को जब से अपना घर बनाया है, उसके बाद निर्मित या सृजित किया है। तकरीबन 90 डिग्री के ढलान पर अपने बैलों से जुताई करते ये अनादिवासी हमें समझा रहे थे, जीवन प्रत्येक स्थिति में विकल्प देता है। आवश्यकता उसे भरपूर जीने की है। जिस बिजली और सिंचाई के लिए इन्हें डुबोया गया उससे वंचित किया गया था वह तो अभी भी इन तक नहीं पहुंच पाई और इतना ही नहीं पीने को पानी लाने में इतना श्रम पहाड़ से चढ़ने उतरने में लगने लगा था कि अब ये पीने का पानी भी गधों पर लाद कर ऊपर पहाड़ पर लाते हैं और नहाने और कपड़े धोने नीचे आ जाते हैं। जिजीविषा के इस चमत्कार को प्रणाम करते हम जलसिंधी पहुंच गए थे।

मोटरबोट से करीब एक घंटे का सफर करके हम जलसिंधी पहुंचे थे। यहां पर नांव पर चढ़ने या उतरने की घाट जैसी कोई स्थायी व्यवस्था नहीं है। पहाड़ की तलहटी पर उतर कर ऊपर देखा तो लगा जैसे आज आकाश और पाताल दोनों से ही संपर्क हो जाएगा। धीरे–धीरे पहाड़ पर चढ़ना शुरु किया। करीब पंद्रह बीस मिनट में पहाड़ के एक तिहाई पार किया। यहां पर उचित मूल्य की दुकान का बोर्ड लगा था। धीरे–धीरे आसपास और ऊपर पहाड़ से लोगों का आना शुरु हो गया। यहां हमारी भेंट लुआरिया, नूरजा महारिया, डंडा महारिया और गुलाबचंद संकरिया से हुई। डंडा महारिया का कहना था कि उनके खाते की पूरी जमीन डूब गई है। लेकिन वे मुआवजा नहीं लेंगे। वे मूलतः भिलाला हैं और उनके परिवार में पत्नी के अलावा पांच लड़के और चार लड़कियां हैं। वे यहां भी खेती करते हैं। नूरजा महरिया की पांच एकड़ जमीन (पूरी) डूब में आ गई है। उनके परिवार में तीन लड़की व एक लड़का है। उन्होंने भी मुआवजा लेने से इंकार कर दिया है। लुआरिया की भी पूरी जमीन डूब में आ गई। उनके परिवार में चार लड़के और दो लड़कियां हैं। इसी दौरान वहां पर गुलाबसिंह संकरिया आ गए। वे इस गांव के पुजारी हैं। उनकी भी पूरी खेती डूब में आ गई है। उन्होंने भी मुआवजा लेने से इंकार कर दिया है। उन्होंने बताया कि उनके परिवार में पत्नी के अलावा 10 बच्चे, दो लड़के एवं आठ लड़कियां हैं। वैसे उनके कुल 13 बच्चे हुए थे।

तकरीबन सभी आदिवासी परिवारों में सदस्य संख्या काफी अधिक होने के बावजूद बहुत भीड़ दिखाई नहीं देती या शोर सुनाई पड़ता। सब कुछ इतना सहज है कि कहीं

कुछ भी अप्रत्याशित या अस्वाभाविक दिखाई ही नहीं पड़ता। बहरहाल चर्चा की शुरुआत हुई। गुलाबसिंह संकरिया, गांव के सिर्फ पुजारी ही नहीं हैं बल्कि बुजुर्ग एवं प्रसव कराने के विशेषज्ञ भी हैं। हमने बात तीज त्योहार और अनुष्ठान से शुरु की। उन्होंने बताया कि, दीपावली (दीवाली) पर बैल व देहरी (घर की चौखट) की पूजा करते हैं। इसी के साथ खंभों की पूजा अर्थात गिरण भी करते हैं। इसमें घर के बीच का खंभा जो घर का आधार होता है, का पूजन करते हैं। घर की महिला इस पर अपने हाथ की छाप लगाती है। दीवाली किसी निश्चित मुहूर्त पर नहीं होती। गांव को जब ठीक लगता है तब सब मिलकर दीवाली का दिन तय कर लेते हैं और मनाते हैं।

होली में पारंपरिक नाच गाना व भगोरिया हाट के अलावा कुकड़ी (मुर्गी) की बली चढ़ाई जाती है। इस दिन जंगल से जाकर बांस लाते हैं। पूजा में पापड़, नारियल का गोला व पलाश के फूल चढ़ाते हैं तथा पत्थर पर बेलकर उड़द के पापड़ बनाते हैं।

इसके अलावा इंदल पूजन भी होता है। यहां एक विशेष अनुष्ठान महूढ़ी पूजन कहलाता हैं। यह बारिश न होने पर किया जाता है। आसमान में बदली (बादल) दिखने पर अखाड़ा यानि बकरे की बली देते है। इस पूजा में कहीं कहीं मुर्गी की बली एव हल की पूजा भी की जाती है। दिवसा या दिवाहू पूजन में नारियल चढ़ाया जाता है और कुकड़ी (मुर्गी) और बकरी की बली दी जाती है।

गुलाबसिंह ने अपने बारे में बताना शुरु किया। डूब के पहले उनके पास 13 एकड़ जमीन थी। अब खेती की जमीन नहीं है। टुकड़ों–टुकड़ों में जंगल में पांच एकड़ खेती की जमीन है। सर्वेक्षण में यह माना ही नहीं कि मेरे पास खेती थी। अब तो जंगल भी डूब गया। भाजी, कांदा मिलना बंद हो गया। चराई भी समाप्त हो गई। लकड़ी भी खतम हो गई। महुआ, सीताफल, जामुन, इमली, टेंबरू, चारौली कुछ भी तो नहीं बचा। पहले तो चारौली बेच लेते थे। थोड़ा महुआ का तेल भी बेच लेते थे। अब तो इन पहाड़ों में मद (शहद) भी नहीं मिलता।



चर्चा को आगे बढ़ाते हुए बोले कि अब तो मछली भी बदल गई है। पहले समुद्र की मछली ऊपर तक चढ़कर आती थी। (एकाएक ध्यान आया कि दो घंटे के हमारे जलसफर में हमें पानी की सतह पर एक भी मछली नहीं मिली थी) जब बारिश होती थी तब समुद्र से चढ़कर मछलियां हमारे गांव तक आ जाती थीं। अब तो दिखाई ही नहीं देतीं। वहीं दूसरी तरफ नर्मदा (जलाशय) में मगर बहुत हो गए हैं वे बकरी, गाय, बैल तक खा जाते हैं। हमारे गांव के दो बैल खा गए। (आदिवासी समुदाय में बैल का महत्व अकल्पनीय है)

मैंने धीरे से उनसे कहा, पुजारी जी अगर इतनी तकलीफ है तो मुआवजा क्यों नहीं ले लेते? उनका एकदम स्पष्ट और खड़ा जवाब था, पैसे (मुआवजा) ले लेंगे तो खड़े कहा पर होंगे? हम तो पैसे नहीं लेंगे। पैसे का हम क्या करेंगे? मुआवजा तो ऑफिस से घर आते–आते ही खत्म हो जाएगा। जमीन होगी तो उस पर खड़े हो सकते हैं। पैसे पर कैसे खड़े हो सकते हैं? इसके बाद अत्यन्त विनोदपूर्ण तरीके से सारगर्भित बात करते हुए बोले, ''सरकार ने नोट बनाने की फेक्टरी (कारखाना) लगा दी है, इसीलिए पैसे देने को तैयार है। लेकिन वह अभी तक जमीन बनाने की फेक्टरी नहीं डाल पाई है इसलिए जमीन नहीं दे सकती। इसी क्रम में वे बोले, पहले पाचवीं पास को नाकेदार बना देते थे, अब बीस कलास (कक्षा) भी पढ़ लो तो नौकरी नहीं मिलती। ऐसे में बिना जमीन के जिंदा कैसे रहेंगे?''

पुनः बात को बदलते हुए कहते हैं, अब त्योहार भी पहले से कम हो गए हैं। नीचे फालिए के विस्थापित होने से भी काफी फरक पड़ा है। यहां के भी कुछ लोग गुजरात की गोमा गामड़ी की पुनर्वास बस्ती में गए हैं। वो लोग साल में एक बार वहां जाते हैं, जितनी खेती हो पाती है, करते हैं। वे आगे बोले बचे हुए जंगलों से अब खाने पीने की चीजें भी बहुत कम मिलती हैं। परिवार भी बढ़ गए हैं। वहां पर जमीन अच्छी मिलेगी तो ही जाने की सोचेंगे। वैसे कुछ बच्चे स्कूल भी जा रहे हैं। हमें तो खेती ही करना है तो नौकरी की बात क्यों सोचे?

विषयांतर करते हुए उन्होंने बताया कि हमारे यहां अभी तक बिजली नहीं है। वैसे स्कूल यहां (कागजों पर) सन् 1947 से है, लेकिन गांव में कहीं दिखता नहीं है। सोलर लाइट के सर्वेक्षण करके गए हैं, लेकिन बत्ती (बिजली) नहीं आई। पहले हमारे यहां बहता और शुद्ध पानी था। अब तो कोंदवाड़े (जानवरों के पीने का पानी) वाला पानी हो गया है। गाय ढोर भी इसी में मरते हैं और आदमी की गंदगी (मल–मूत्र), भी इसी में मिलती है। हमारे आने जाने के सारे रास्ते बंद हो गए हैं। पहले तो नर्मदा में डोंगी छोड़ देते थे तो उसकी लहर ही हमें पहुंचा देती थी। अब तो बीच–बीच में नाले (पानी) भर गए हैं। इसलिए एक दूसरे के यहां भी नहीं जा सकते। वैसे बीस साल पहले इस इलाके में एक सरकारी स्कूल खुल गया है। (नर्मदा बचाओ आंदोलन व खेड़ूत के प्रयासों से) हमने तो आंदोलन से जुड़ने के बाद ही दुनिया देखी है। पहले तो केवल पटेल ही अधिकारियों से मिलने जाते थे। अब हम भी सरकार से मिलने

जाने लगे हैं। अकेले भी जा सकते हैं। पुरानी स्मृतियों को टटोलते हुए वे बोले आंदोलन के पहले चिट्ठी पढ़वाने के लिए 21 मील दूर जाना पड़ता था। अब तो हमारे बच्चे भी पढ़ लिख रहे हैं। आंदोलन के सक्रिय होने के पहले जंगल वाले लकड़ी काटने के भी पैसे लेते थे। नाकेदार जैसे ही खेती की सीमा में आता था, खलबली मच जाती थी। उसके डर से हम हमारी खेतों की सीमा दो फिट अंदर ही रखते थे। गांव के पास आते ही नाकेदार को कंधे पर बिठाकर गांव के अंदर लाना और घुमाना पड़ता था। खेडूत संगठ और राहुल बनर्जी जब इस इलाके में काम करने आए तो उन्होंने नाकेदार को भी फटकारा और हमें भी समझाया। तब हमारी समझ में आया कि कौन मालिक है और कौन नौकर।

खेती पर हुई बातचीत में उन्होंने बताया कि वे अभी भी मक्का, ज्वार, बादी, उड़द, चवला, तुअर, मूंगफली, बट्टी, हाग, फूला, मिर्ची, बाजरा, मोटी बैंड और बेंडा लगा रहे हैं। भारत का कोई भी विकसित किसान क्या इतनी किस्म की फसलें लगा रहा है? उनका कहना था पहले तो अपना ही बीज लगाते थे। अब कुछ फसलों के सरकारी बीज भी लगा रहे हैं। इसका क्या प्रभाव पड़ रहा है? उनका सीधा सा जवाब था, कि सरकारी बीज से बाल सफेद हो रहे हैं।

स्वास्थ्य के विषय पर उनका कहना था कि पहले तो इलाज अपने आप ही कर लेते थे। अब इलाज कराने कवांठ (गुजरात) जाना पड़ता है। मरीज को कपड़े की झोली में डालकर वहां ले जाते हैं। महिलाओं को प्रसव के दौरान आने वाले परेशानियों पर पुजारी जी ने कहा कि, ''मुझे पेट पकड़ना आता हैं न।'' हम तो बच्चे का जन्म घर पर ही करवाते हैं। पुजारी स्वयं पूजा करते हैं और उसके बाद प्रसव करवाते हैं। यह पूछने पर कि उन्होंने यह कार्य कैसे व कहां सीखा तो उनका कहना था कि मैंने इसे अपने पिता से सीखा है। मध्यप्रदेश के इस अंचल के अलावा शायद ही कही पुरुष द्वारा प्रसव कराए जाने की परंपरा विद्यमान हो। यहां के तीनों जिलों अलिराजपुर झाबुआ व धार में आज भी अनेक भील परिवारों में पुरुष ही प्रसव करवाते हैं।

डूब में आए किसी विशेष स्थान की बात पर पता चला कि यहां की एक प्रसिद्ध विरासत 'देवदानी' डूब में समा गया है। ऐसी मान्यता है कि यहां पर नर्मदा ने नृत्य किया था। वहीं यह भी प्रचलन में है कि आदिवासियों की आराध्य राणी काजल यहां महुआ की शराब बनाने आई थी। उसके निशान भी यहां मौजूद थे, इसके अलावा यहां छाछ बनाने का कुंड भी था। सब कुछ डूब गया। रोज तकरीबन पंद्रह बीस लोग बच्चे की मानता लेने और पूरी होने पर यहां आते थे। बकरी व मुर्गी चढ़ाते थे और आसपास रहने वाले सभी लोगों को प्रसाद मिलता था। यह सब बात बता तो गुलाबसिंह पुजारी रहे थे, लेकिन पास बैठे सभी लोगों के चेहरे पर उभरता दुख और दर्द साफ देखा जा सकता था, जो धीरे–धीरे गुस्से में परिवर्तित हो रहा था।

धीरे से चर्चा शादी ब्याह पर आ गई। वैसे भी आदिवासी समुदाय में शादी शहरी समुदाय के लिए कुतुहल का विषय रहा है। इसकी प्राथमिक वजह लड़की वालों को दहेज मिलना है। चूंकि गुलाबसिंह स्वयं ही पुजारी हैं और शादियां करवाते हैं इसलिए उनसे चर्चा करना भी रोचक बन पड़ा था। उन्होंने बताया कि सबसे पहले शादी का न्योता बनाते हैं (पीले चावल)। इसके बाद नर्मदा और गंगा के नाम से निमंत्रण देते हैं। यहां वे ये स्पष्ट नहीं कर पाए कि गंगा का नाम इसमें कैसे आया। लेकिन महत्वपूर्ण यह है कि इससे नदियों का महत्व खासकर आदिवासी समुदाय में कितना है, मालूम पड़ता है। निमंत्रण बजाए परिवार के नर्मदा गंगा के नाम से देना कमोवेश यह भी स्पष्ट करता है कि इस समुदाय का प्रकृति पर अगाध स्नेह है और वहीं सर्वोपरी भी है। फिर सबको आपस में मिलाते है (मिलते हैं)। इसके बाद लड़का–लड़की को देखने जाया जाता है। तत्पश्चात घर के बुजुर्ग सगाई करा देते हैं।

मंगनी (सगाई) के दौरान ही दहेज तय हो जाता था। तय करते समय एक शीशी दारु से सबमें बाटी जाती है और गुड़ खाते हैं। शादी में दहेज लड़के के पिता ही देते हैं। दहेज हर गांव अपने हिसाब से तय करता है। अभी हमारे गांव में 13500 रु. का दहेज चल रहा है। यदि इसे बढ़ाना होता है तो गांव के सभी लोग इकट्ठा होते हैं और मिलकर ही तय करते हैं। यदि कोई इससे ज्यादा मांगता है तो उसका बहिष्कार किया जाता है। यदि कोई प्रेम विवाह भी करते हैं तो हमारे गांव में तयशुदा दहेज ही देना पड़ता है। कई जगह तो लोग ऐसी परिस्थिति में दहेज एकदम बढ़ा देते हैं, पिछले दिनों तो एक गांव में एक लाख पच्चीस हजार रु. की मांग की गई थी। बारात लेकर लड़की वालों के यहां जाया जाता है। वहां पुजारी पूजन करता है। सारी भेंट आमने–सामने दी जाती हैं। अधिकांश भेंट लड़के के पिता को दी जाती हैं। इसके बाद मांदल (ढोल) की पूजा करते हैं। फिर लड़का व लड़की (वर–वधु) को रात भर नचाते हैं। पहले इसी के साथ गाथा/गायणा भी गाते थे। इसमें कहा जाता था–

जंगल में से चिढ़िया
चुपचाप खा लेना
ज्यादा शिकार नहीं करना
(आपस में) अच्छा व्यवहार करना
नई लड़की तुम्हारे सुपुर्द है
(लड़के के पिता से) आज से ये तुम्हारी लड़की है।

गायणा गाने वाले कई घंटे तक इस तरह के गाने गाते रहते थे। गाने के बोल सुनकर यह समझ में आया कि हम कितने परिपक्व समाज के बीच आए हैं जो विवाह के पहले ही दिन सीख दे रहा है कि ज्यादा शिकार नहीं करना। वरना सामान्यतौर पर

लड़की पर अपनी धौंस जमाने के लिए हमारा शहरी समाज सब पर छा जाने की बात करता। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि जंगल में रहने वाला समुदाय शिकारी नहीं है। तो फिर शिकारी कौन है?

यहां से हजारो किलोमीटर दूर तमिलनाडु के कोयम्बटूर जिले के थुवईपट्टी गांव में बोद्दन जनजाति निवास करती है। वहां भी उनकी भूमि भी छीनी जा रही है। अपनी बात रखने के लिए वे एक जनगीत गाते हैं। इस लंबे जनगीत की इन पंक्तियों पर गौर करते हैं,

ठीक जैसे शिकारी शिकार करते हैं, जानवरों का
हम स्वतंत्र लोग शिकार किए गए, राज्य द्वारा।
राज्य ने ले लिया और लगातार ले रहा है
हमारा नाडु (गांव), देने के लिए दूसरों को
जो जानते नहीं कुछ भी हमारे नाडु के बारे में
और इसकी प्रकृति के
इसी गीत में आगे कहते हैं,
यह हमारी मातृभूमि
हमारी मातृभूमि है, हमारे लोगों की
यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं थी कोई
कानूनी अधिकार के साथ स्वामित्व भूमि के।
और तब इसे नहीं दी गई चुनौती
कि यह हमारी मातृभूमि है
स्वीकृति थी दी गई।
इसके बाद वे चुनौती देते हुए कहते हैं :
पूछो किन्हीं दूसरों से ठहरने को जंगल में और रहने को
आओ देखो क्या वे रह सकते हैं।
वे नहीं रह सकते क्योंकि वे लोग हैं, अज्ञानी
वे नहीं जानते कुछ भी विषय में हमारे नाडु के।
बल्कि ये वैज्ञानिक भी हैं अज्ञानी
कहां से सीखते हैं जंगल के विषय में
और जीवों के जो हैं अंदर इसके?
केवल हमसे/तथापि ये वैज्ञानिक
अब भी नहीं जानते, जितना कि हम।

आदिवासियों के गांव, नाडु, फालिया, जंगल, जमीन, नदी, पोखर, तालाब, झरने, पशु–पक्षी पौधे, पेड़, झाड़ियां, अनाज, वनस्पति, तीज त्योहार, रीत–रिवाज, पर्यावास, मेले, परिधान, जेवर, समुदाय, सामुदायिक भावना और संरचना सब कुछ छिन रहा है और हम सब कहते हैं कि सारी व्यवस्था संविधान के हिसाब से चल रही है। जबकि संविधान के द्वारा प्रद्धत समता के अधिकार के बारे में अनुच्छेद 14 कहता हैं, विधि के समक्ष समता, भारत के राज्य क्षेत्र में किसी व्यक्ति के समक्ष समता से या विधियों के समान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा।

वहीं अनुच्छेद 21 प्राण और दैहिक स्वतंत्रता का संरक्षण के अंतर्गत बताता है, किसी व्यक्ति को, उसके प्राण या दैहिक स्वतंत्रता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जाएगा अन्यथा नहीं। इसी क्रम में संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार को लेकर अनुच्छेद 29 जो कुछ अल्पसंख्यक वर्ग के लिए कहता है क्या वहीं बात आदिवासियों पर लागू नहीं होती?

ठीक इसी तरह पांचवी अनुसूची के अंतर्गत किए गए प्रावधानों पर भी गंभीरता से विचार किया जाने की आवश्यकता है। पांचवी अनुसूची के अंतर्गत आए क्षेत्रों के अपने विशेषाधिकार हैं। अलिराजपुर जिला भी पांचवी अनुसूची में ही आता है। इस लिहाज से पांचवी अनुसूची के पांचवे अनुच्छेद के अनुसार अनुसूचित क्षेत्र के लिए स्वयं राज्यपाल एकमात्र विधायिका के समरूप है। साथ ही राज्यपाल के अधीन इन क्षेत्रों के सुचारु संचालन के लिए एक विशेष समिति के गठन का प्रावधान तो संविधान ने ही किया है। लेकिन किसी भी राज्य के राज्यपाल ने आज तक अपने इन विवेकाधिकारों एवं विशेषाधिकारों का उपयोग शायद ही कभी आदिवासियों के हित में किया हो।

संविधान के अनुच्छेद 244 (1) को ठीक से क्रियान्वित करने की पहल के रूप में पेसा (पंचायत, अनुसूचित क्षेत्रों तक विस्तार) अधिनियम 1996 आया। इसके बाद लगा कि शायद स्थितियों में अब सुधार की संभावना बनेगी। क्योंकि जहां एक ओर यह स्पष्ट था कि संविधान की पांचवी अनुसूची के अनुसार राज्यपाल तथा आदिवासी सलाहकार समिति, अनुसूचित जनजातियों के कल्याण एवं विकास हेतु संरक्षण व प्रोत्साहन प्रदान करेंगे। वहीं दूसरी ओर पेसा के अंतर्गत अनूसूचित क्षेत्रों में पंचायतों से संबंधित निम्न दिशानिर्देश भी बतलाए गए थे।

पेसा धारा 4 (क) के अनुसार 'पंचायतों पर कोई राज्य विधान जो बनाया जाए, रुढ़िजन्य विधि, सामाजिक और धार्मिक पद्धतियों और सामुदायिक संपदाओं की परम्परागत प्रबंध पद्धतियों के अनुरूप होगा।

पेसा धारा 4 (ख) ग्राम साधारणतया निवास या निवासियों के समूह अथवा छोटा गांव या छोटे गांवों के समूह से मिलकर बनेगा। जिसमें समुदाय समाविष्ट हो और जो परम्पराओं तथा रूढ़ियों के अनुसार अपने क्रियाकलापों का प्रबंध करता हो।

पेसा धारा 4 (घ) प्रत्येक ग्रामसभा जनसाधारण की परम्पराओं और रूढ़ियों, उनकी सांस्कृतिक पहचान, सामुदायिक सम्पदाओं और विवाद निपटान के पारंपरिक ढंग का संरक्षण और परीक्षण या संवर्धन करने में सक्षम होगी।

इस तरह यदि पांचवी अनुसूची और पेसा कानून को एक साथ रखकर देखें तो इनका सीधा सा अर्थ निकलता है, आदिवासियों को मान्यता प्रदान करना तथा उनकी सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनीतिक जीवनशैली को सशक्त बनाना तथा उसे प्रोत्साहित करना।

इसी बीच वन अधिकार कानून 2006 भी लागू हो गया। इसमें माना गया था कि आदिवासियों के साथ पिछले 175 वर्षों से जो ऐतिहासिक अन्याय हो रहा है और अब इसे दूर किया जा रहा है। परंतु जलसिंधी और नर्मदाघाटी के डूब क्षेत्र में आए क्षेत्र शायद भारतीय मानचित्र में किसी और तरह या स्वरूप में अंकित हो चुके हैं। लेकिन लगता है आदिवासियों और जमीन पर निर्भर अन्य लोगों के लिए कानून सिर्फ किताबी होते हैं।

छत्तीसगढ़ के बस्तर में इंद्रावती और बोधघाट जलविद्युत परियोजनाओं के निर्माण और पर्यावरण संरक्षण के नाम पर बने कोर्तू वन्यजीवन अभयारण्य की घोषणा ने वहां के पारंपरिक 16000 माना गोंड परिवारों को उनके पुश्तैनी घरों से बेघर कर दिया था। इस पर वहां के एक गोंड राम बत्ती का कहना था 'अपने तीर कमान लेकर जंगल मत जाओ। सभी जानवर सरकारी हैं, वे डर जाएंगे। हां मेरे लोगों एक और बात सुनो, जंगल सरकार का है, नीचे चट्टानें भी सरकार की हैं, इसलिए सरकार से पूछे बगैर मिट्टी न खोदो। मरने के पहले अपनी कब्र की खुदाई के लिए अर्जी दो। वरना तुम्हारी मौत के बाद भी वे तुम्हें चैन से नहीं रहने देंगे। तुम्हारे आसपास की हर चीज सरकारी है। सिर्फ आदिवासियों के हाथ खाली हैं और असली मालिक भिखारी हो चुके हैं।' क्या लुआरिया, डंडा महरिया, गुलाब और नूरजा महारिया इससे कुछ अलग सोच रहे होंगे?

धीरे–धीरे पहाड़ के ढलानों से उतरते हुए यह बात समझ में आ रही थी कि हम भारतीय जो अपने हर दूसरे वाक्य में अपनी संस्कृति का गौरव बखान करते हैं, वास्तव में कितने उथले और असांस्कृतिक जीव हैं। अंततः हम मानव निर्मित प्रलय के मुहाने पर पहुंच चुके थे। बोट वहीं पर खड़ी थी।

लौटते–लौटते शाम हो गई थी। जलाशय में डूबता सूरज जैसे निराशा फैला रहा हो। जलसिंधी दूर होता जा रहा था। मगर वहां से शुरु हुआ संघर्ष उनकी जिजीविषा को हमारे सामने ला रहा था। वे आज भी अपने परिवेश अपनी संस्कृति को लेकर अत्यन्त सजग नजर आए। गौरतलब है निमाड़ और आदिवासी इलाकों के करीब 10000 लोगों के 22 फरवरी 1989 को बांध निर्माण स्थल फेरकुआं पर पहुंचने से गुजरात सरकार हक्का बक्का रह गई थी और उसी दिन एक नया नारा प्रस्फुटित हुआ था

'कोई नहीं हटेगा–बांध नहीं बनेगा' और इसी के साथ एक और नारा भी प्रकाश में आया था 'डूबेंगे पर हटेंगे नहीं'। बांध भले ही बन गया हो पर जलसिंधी के लोग नहीं हटे। ये ही वो लोग हैं जिन्होंने गांधीजी के अहिंसक सत्याग्रह को नई पहचान 'जल समर्पण' से दी। वे आज भी मानते हैं, 'नर्मदा घाटी पर हक हमारा, चाहे जो कहे कानून तुम्हारा'।

बोट हापेश्वर पहुंच गई थी। ऊपर आकर देखा तो सामने बहुत ही विचित्र स्थापत्य से बना सीमेंट कांक्रीट का हापेश्वर का 'नया' मंदिर जैसे मुंह चिढ़ा रहा था। घाटी से होते हम ऊपर की ओर चढ़े। थोड़ी दूरी पर गुजरात का कस्बा कवांठ मिला। जलप्लावन के पहले यह इस इलाके का सबसे बड़ा 'बाजार' था। आसपास के पहाड़ों पर रहने वाले हजारों आदिवासी यहां साप्ताहिक हाट में और अन्य दिनों में आते थे। यहां खूब रौनक रहती थी। वैसे भीड़ अभी भी है। लेकिन भीड़ और रौनक फर्क यहां समझ में आता है। आदिवासी गीतों में भी कई बार कवांठ का जिक्र आता है। हम इस नए साल के पहले दिन बुझे मन से अलिराजपुर पहुंच रहे थे।

अगले दिन अलिराजपुर से अंजनबाड़ा जाते समय सुश्री मेधा पाटकर की बात याद आई। उन्होंने कहा था 'पहले आदिवासी पूंजीवादी समाज को 'बाजारिया' कहते थे। परिस्थितियों में ऐसा दर्दनाक परिवर्तन आया कि अब वे खुद को बाजारिया बना रहे हैं। समता, सादगी और स्वावलंबन की जीवन प्रणाली ही बदल गई।' दूसरे शब्दों में कहे तो इस बांध ने पूरी संस्कृति को ही बदल डाला। हम ककराना पहुंच गए थे। यह केमत गवले का गांव है। यहां वे एक माध्यमिक विद्यालय चलाते हैं। अपने आप में अनूठा। इसमें पढ़ने वाले अधिकांश बच्चे आदिवासी हैं और वे यहीं रहते हैं। दिन में जिस कक्षा में वे पढ़ते हैं, रात में वो उनके छात्रावास में परिवर्तित हो जाता है। यहां स्थानीय बोली में भी पढ़ाई होती है। खाना भी बच्चे खुद बनाते हैं।यहां से पढ़े बच्चे स्नातकोत्तर तक पहुंच गए हैं। कई अपने गांवों में लौटकर वहां काम कर रहे है। डॉ. कपिल तिवारी ने विस्थापन के विषय पर चर्चा करते हुए महत्वपूर्ण टिप्पणी में यह भी कहा था, 'यदि ज्ञान की बात करें तो यह समवेत है, जो कि एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होता जाता है। किसान का ज्ञान पीढ़ियों से न केवल चलता आ रहा है बल्कि उसमें योगदान भी होता रहता है। याद रखिए जीवन जितना सिखा दे, अनुभव जितना सिखा दे वही ज्ञान है, बाकी सब की सब महज जानकारी भर है।'

ककराना से करीब दो किलोमीटर की दूरी पर सरदार सरोवर बांध का बेकवाटर मिल जाता है। यहीं से हमें अंजनवाड़ा के लिए बोट में बैठना था। जलाशय में उतरते ही सामने कुछ अत्याधुनिक बोट दिखीं। इनमें एकाध जननी सुरक्षा योजना की एम्बुलेंस बोट भी थी। थोड़ी ही देर मालूम पड़ा कि अधिकांश बोट गुजरात में शराब की तस्करी करने के काम आती हैं।

उजाला हमेशा अच्छा नहीं होता

अंजनवाड़ा तक का सफर भी अब सिर्फ बोट से ही संभव है। हमने देखा कि पहाड़ों पर दूर–दूर पर घर बने हुए हैं। यदि किसी को बोट को बुलाना होता है तो वह आवाज लगा देता है। आवाज हमारे कानों में तो नहीं सुनाई देती लेकिन बोट चलाने वाले युवकों के कान इसे सुनने में अभ्यस्त हैं। वे तुरंत जवाब भी दे देते हैं। पानी की लहरों पर उतरते–चढ़ते हम अंजनवाड़ा पहुंचे। इस क्षेत्र में अंजन के अत्यधिक पेड़ होने से इसका नाम अंजनबाड़ा पड़ा। वैसे इनका मूलगांव धानपुआरा है। लेकिन कई पीढ़ी पहले ये लोग यहां आकर बस गए थे। अंजनवाड़ा अलिराजपुर जिले की सोंडवा तहसील का हिस्सा है। यहां हमारी भेंट यहां के पुजारी दाज्या भोज्या पडियारका से हुई। उनके परिवार में पत्नी के अलावा एक लड़की और पांच लड़के हैं। इसके अलावा फुद्या चोपा पड़ियारका, बुध्या चोपा पड़ियारका (भिलाला) से भी मुलाकात हुई। इनके कुनबे में 6 भाई हैं एवं स्वयं के परिवार में तीन लड़कियां और दो लड़के हैं। धन्या मंगत्या पडियाकर, गांव के पटेल हैं और इनके परिवार में पांच लड़के और तीन लड़कियां है। इनकी पूरी 11 एकड़ जमीन डूब में आ गई है। इनमें से किसी ने भी मुआवजा नहीं लिया है। बुध्या चोपा ने बताया कि जीआरए (शिकायत निवारण प्राधिकरण) ने उन्हें झाबुआ जिले के मेघनगर के पास स्थित खजूरी गांव में भूमि आबंटित की है। इनका कहना है कि यदि सभी को एक साथ और एक जगह ही जमीनें मिलेगी तभी वे यहां से जाएंगे। इसके पहले इन्हें एक्स पार्टी (स्वमेव) ढोलाना, जिला खरगोन में भूमि आबंटित कर दी थी। लेकिन ये लोग वहां नहीं गए। गौरतलब है इनके घर व खेत सन् 1997 में ही डूब चुके हैं। 15 बरस पश्चात आज भी ये संघर्षरत हैं।

गांव में कुल कितने घर हैं? यह पूछने पर एकदम पारंपरिक गणना भरा जवाब मिला। तीन बीसन में चार कम, यानि कुल 56 मकान। आदिवासियों (इस क्षेत्र के) की गिनती 20 के मान से शुरु होती है और कोई भी घट–बढ़ उसी के अनुरूप ही होती है। यहां लोगों ने बताया कि सन् 1997 में डूब आने के बाद काफी सारे लोग गुजरात चले गए। वहां उन्हें जमीन के बदले जमीन मिली थी। यहां से विस्थापित लोग हरेश्वर, कोठरा, गामड़ी (तहसील–संकरा, जिला बड़ौदा, गुजरात) में चले गए। अभी भी वार–त्योहार व शादी ब्याह में यहां आते हैं। उन्हें अभी भी यहां अच्छा लगता है। और आपको? उनका जवाब था हमें तो अच्छा लगता ही है नही तो पहले ही चले जाते।

चूंकि बात वार त्योहार से शुरु हुई थी। इसलिए हमने भी इसी विषय को लेकर बात को आगे बढ़ाया। उन्होंने मुख्यतया तीन त्योहारों के नाम लिए वाग्देव, इंदल और गांव देव की पूजा। वाग्देव पूजा मूलतः शेर (बाघ) की पूजा है। इसमें नारियल, बकरा और मुर्गी का चढ़ावा दिया जाता है। किसी पत्थर को खड़ा कर उसे देवता मान लेते हैं और उसकी पूजा करते हैं।

इंदल पूजन सामान्यतया किसी मानता के पूरी होने पर किया जाता है। जैसे किसी के घर में बच्चा बीमार होगा और उसके स्वस्थ होने की मानता मानी गई। बच्चे के स्वस्थ होने पर इंदल पूजते हैं। इसमें विशेष यह है कि भले ही मानता पूरी भी हो गई हो, इंदल पूजन पांच वर्ष मे एक बार ही किया जा सकता है। गांव–गांव से रिश्तेदारों को बुलाया जाता है। रिश्तेदार भी अपने साथ बकरा लाते हैं। इस पूजा में 5 से लेकर 100 तक बकरे आ जाते हैं। एक बार तो 200 बकरे हो गए थे। ये एक तरह की भेंट है। इसे हमारा (आदिवासी) समाज कर्जा भी मानता है। उनका मानना है कि यदि किसी के यहां आए हैं तो वापस भी करना पड़ता है। पूजा करने के लिए मूल गांव से पुजारा (पुजारी) को बुलाया जाता है। ये पीढ़ी दर पीढ़ी हमारे पुजारी बने रहते हैं।

अनुष्ठान की इस परंपरा पर गौर करने से साफ जाहिर भी हो जाता है कि किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत मानता पूरी करने का भी सामूहिक निहितार्थ है। कुटुंब वाले आपस में मिलकर ही उस अनुष्ठान को पूरा करते हैं, उसमें सहभागी बनने में भी कृतज्ञता का भाव समाप्त नहीं करते। साथ ही इस बात का भी प्रयत्न करते है कि बुलाने वाला अनावश्यक कर्जे में न पड़े। यहां मनाए जाने वाले नवई त्योहार में बैल की पूजा करते हैं। (इस अनूठी) सहभागिता के बाद हम दिवासा देवपूजा के बारे में उत्सुक हुए।

दिवासा का अर्थ है देवपूजा! इस दिन थोड़ी दारु बनाते हैं और गायणा गाते हैं। ये गायणे राणी काजल, पावागढ़ माता खेढ़ाई, पावा डोंगर, भोरिया डोंगर, वीर बारी आदि के होते हैं। इसी संदर्भ में दाज्या भोज्या ने पृथ्वी के उदगम की एक अनूठी कहानी सुनाई, उनका कहना था कि दिवासा से ही पृथ्वी की शुरुआत होती है।

'एक गायणा सुनाने वाला मिट्टी लाता है। मिट्टी चोरी हो जाती है। पता चलता है मेणीसर (मकड़ी) मिट्टी चुरा ले गई है। एक जाल में मकड़ी फस जाती है, फिर वह बताती है कि उसने मिट्टी कहा छुपाई है। धमकाने के बाद वह मिट्टी लाकर देती है। मिट्टी को जब बैल के सिर पर रखा तो उसका सींग टेढ़ा हो गया (तब से बैलों की सींग भी टेढ़े हो गए) फिर इस मिट्टी को झिनी (जिनी) राजा (पृथ्वी) लेकर आया। उसने ये मिट्टी वेदु बाई (दीमक) को दी, फिर उसने इस मिट्टी से पृथ्वी बनाई। इसके बाद उसने ऊजाला और अंधेरा भी बनाया। पहले उसने दिन बनाया तो बहुत कड़क (तीखी व ज्यादा) रोशनी हो गई थी। तो उसने फिर रोटी को काली करके अंधेरा बनाया। आड़ बनाई। इससे उसकी रोशनी कम हो गई थी। पत्थर पर पड़ रही तीखी धूप से वह इतना ज्यादा पक गई थी कि काली पड़ गई। सब मनुष्य गर्मी से मर रहे थे। इसलिए जिनी राजा ने वह रोटी चांद पर चिपका दी। चांद पर रोटी चिपकाने से उसकी रोशनी कम हो गई। इसका अर्थ यह है कि हमेशा उजाला ही उजाला नहीं रहना चाहिए। अंधेरा भी आवश्यक है।' 'सृष्टि के निर्मित होने की इस अनूठी संकल्पना से हम सभी अभिभूत थे'

हमने उनसे पूछा कि शादी कैसे कराते हैं? वे बोले सबसे पहले खत्री यानि पुरखों की आत्मा को न्योता देते हैं। पुरखों को हम हमेशा मदद के लिए बुलाते हैं। उनसे प्रार्थना करते हैं कि मुसीबत के समय हमेशा हमारे साथ रहना। सिर्फ उन्हीं का आव्हान करते हैं। जो भी खाते हैं या शराब पीते हैं पहले देवता के लिए छोड़ते हैं। शादियां हम लिखरी जुखारी के नाम से करते हैं। ये भाग्य लिखने वाले देवता हैं। उन्होंने ही जोड़िया बनाई हैं। हमारा मानना है कि यदि जबरदस्ती उठा भी लाओगे तो भी साथ नहीं रख पाओगे। शादी तो राजी मर्जी और लिखारी जुखारी के होते ही चलेगी। शादी के रिवाजों के बारे में उन्होंने बताया कि इस गांव का रिवाज है कि लड़के वाले दहेज देने आते हैं। फिर लड़की वाले लड़के के यहां लड़की छोड़ने जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि यहां बारात नहीं आती। दोनों ओर का खाना होता हैं

हमारे यहां छोरी (लड़की) वाला ताकतवर होता है। शादी में लड़के वालों को दबकर गाना, गाना पड़ता है। यदि वे ज्यादा जोर से गाते हैं तो विवाद हो जाता है। कई बार तो गाने को लेकर आमने–सामने का झगड़ा ऐसा हो जाता है जैसे कि कुत्ते झगड़ रहे हों। हमारे यहां शादी का दहेज 11500 रु. (ग्यारह हजार पांच सौ रुपए) है। यदि महाराष्ट्र से लड़की लाते हैं तो दहेज में 27000 रु. देना पड़ते हैं।

पंचायत के बारे में उन्होंने बताया कि हमारे यहां अभी भी पूरी तरह से पारंपरिक पंचायत ही बैठती (संचालित) है। सारे झगड़े आपस में बैठकर ही निपटाते हैं। ज्यादातर विवाद लड़कियों (महिलाओं) को लेकर ही होते हैं। धन्या पटेल (गांव पटेल) की अगुवाई में पंचायत बैठती है। यदि कोई बहू पर दमन (अत्याचार) कर रहा होता है तो उस पर भी विचार होता है। आपस में बात करके संबंध विच्छेद हो जाते हैं। पंच देखते हैं कि यदि लड़की गलती पर है तो लड़की के पिता को लड़के के पिता को पैसा वापस देना पडेगा। यदि गलती लड़के की है तो पैसा वापस नहीं देना पड़ता।



उनका यह भी कहना था कि हमारे सारे देवस्थान भी डूब गए। इनमें से कुछ के वे नाम भी गिनाते है :–

गांव देव
गांव आहरखेड़ा (दीवाली के देव)
गांव पाल्या (गांव पालक देव)
कुंआजा बामण (दीवाली के देव)
आई भूतन (देव, ज्वार माता)
गवलिया (इन्हें भी दीपावली पर पूजते थे)
होली का स्थान

ये सभी खास स्थान डूब गए हैं। यहां की बोली भी विशिष्ट है, जिससे अंजनवारा ही कहते हैं। पुराने लोग अभी भी इसमें बात करते हैं। लेकिन विस्थापन में गए लोग इसे भूलते जा रहे हैं।

खेती किसानी पर बात करते हुए उन्होंने बताया कि पहले हमारे पास बहुत अच्छी जमीनें थीं। अब तो ऊबड़–खाबड़ जमीनें हैं। बाजार से मोल लेकर खाना पड़ता है। पहले जो पकता था वह तो अब मिलता ही नहीं। आजकल तो बाजरा, कुल्थया, बादी व उड़द लगाते हैं। सब्जी भी ज्यादा नहीं लगाते क्योंकि पानी नहीं है। थोड़ी बहुत खाटी भाजी और भिंडी लगा लेते हैं। लेकिन मिर्ची भी नहीं लगा पाते। पहले त्योहार भी ज्यादा जोश से मनाते थे। अब तो हम खर्चा कर पाने की स्थिति में भी नहीं हैं। सारे त्योहार फीके पड़ गए हैं। हम तो एकला (अकेले) पड़ गए हैं। यदि इंदल ही मनाएं तो 40–50 हजार रुपये तक का खर्चा आ जाता है।

यह पूछने पर कि नर्मदा बचाओ आंदोलन में आने के बाद क्या परिवर्तन आया तो वहां मौजूद लोगों का कहना था, यदि आंदोलन में नहीं होते तो फॉरेस्ट (वन विभाग) वाले कभी से डंडे मारकर भगा देते। आंदोलन के बाद किसी की हिम्मत नहीं होती भगाने की। पहले नाकेदार आता था तो मुर्गी खाता था। घर के लिए भी 4–5 ले जाता था। नाकेदार के लिए मुर्गी बनाने में आधा किलो घी डालना पड़ता था। जहां कहीं भी नई लकड़ी दिखती में केस (मुकदमा) बना देते थे। पहले जैसे ही नाकेदार गांव की तरफ आता दिखता था, बैल तक छोड़कर भाग जाते थे और जंगलों में छुप जाते थे। जरा–जरा सी बात पर जेल में बंद कर देते थे। राजा (बखतगढ़ का) भी वेट (यानि बेगार) करवाता था। अब यह सब बंद हो गया है। आंदोलन की तरफ से कई बार अनाज दिया गया और अनाज खरीदने को पैसे भी दिए गए। बीपीएल की वजह से तीन रु. किलो अनाज मिलता है। पिछली बार उनके साथ कुछ और लोग (संभवतः विकास संवाद से) आए थे। इसके बाद गरीबी रेखा के कार्ड भी बांटे

गए। अब राशन भी मिल रहा है। एक कूपन पर गेहूं, शकर, चावल, घासलेट व नमक सभी कुछ आ रहा है। अब बांटने का काम गांव वालों को दे दिया गया है। गांव वाले ही तय करते हैं कि कब और कितना बांटना है। पहले थोड़ा–थोड़ा आता था। अब तो तीन–तीन महीने का इकट्ठा आ जाता है। गांव में ही मिल जाता है पहले तो मथवाड़ (करीब 12 कि.मी. दूर) में मिलता था।

भारत के सबसे मध्य में स्थित यह क्षेत्र आज सामान्य पहुंच से बाहर है। सरकार आदिवासियों के धैर्य की परीक्षा ले रही है कि बिना बिजली, पानी, शिक्षा, खेती, अस्पताल के आखिर कितने दिन रहा जा सकता है। लेकिन अंजनवाड़ा के इन बाशिंदों ने सरकार की सारी आकांक्षाओं पर पानी फेरते हुए 15 बरस तो अभावों में निकाल दिए हैं। रुकी हुई ही सही, नर्मदा उन्हें दिखती तो है। उजड़े हुए जंगल अभी भी उन्हें अपने में समेटे हुए हैं। कभी घने जंगलों पर गर्व करने वाला और उस पर निर्भर रहने वाला यह समुदाय इतना अहसान फरामोश नहीं है कि आज जब जंगल संकट में हैं तो उन्हें छोड़कर कहीं और बस जाए। भले ही हमारे समय का विकास उन तक न पहुंचे लेकिन वे तो मानते हैं उनके देवता ने दुनिया की पहली रोटी बनाकर इस तेज रोशनी को मनुष्य के रहने लायक बनाया है। वे आज भी अपने देवता के साथ हैं और हम और सरकार? सरकार तो सिर्फ मुआवजा देने का ढोंग करती है।

इसी क्षेत्र में रहने वाले बाबा महरिया कहते हैं 'आप कहते हैं मुआवजा ले लो। सरकार किस चीज का मुआवजा दे रही है? हमारे घर का, हमारे खेत का और खेत के मेड़ पर उगे झाड़ का? लेकिन हम सिर्फ इसी से तो नहीं जीते। आप क्या हमें हमारे जंगलों का मुआवजा देने वाले हो? उसमें, सागोन, बांस, उम्बर, तेन्दू, सालाई, महुआ, आंजन खाखरा जैसे कई तरह के झाड़ हैं। उसकी पत्ती, लकड़ी, तना और फल का हम उपयोग करते और बेचते हैं। इसका कितना मुआवजा होगा? या हमारी मोटी माई नर्मदा का मुआवजा देने वाले हो? उसकी मछली, पानी, उसमें आने वाली भाजी, उसके तट पर रहने वाले सुख, इनका क्या मोल है? क्या हमारे जानवर और उनके लिए उपलब्ध चारे पानी का भी मुआवजा दोगे? हमारे खेतों का मुआवजा तुम किस तरह आंकते हो? ये जमीन हमने खरीदी नहीं है। इसे तो हमारे पूर्वतों ने जंगल साफ करके बनाया है। इसका क्या भाव लगाओगे? हमारे देव, जात, सगे संबंधियों के साथ सहारे का क्या मोल होगा? हम आदिवासी लोगों की जिंदगी की आपके सामने क्या कीमत है?'

लगभग निरुत्तर से बैठे थे हम लोग। बोट की इंजन की आवाज भी जैसे सुनाई में आना बंद हो गई थी। दिमाग लगभग सुन्न हो गया था। एकाएक केमत ने कहा, चलो थोड़ा आगे चलते हैं। वहां ककराना की ही एक बस्ती में कुछ लोग गुजरात से वापस लौटकर आए हैं। यह वास्तव में अनूठी उपलब्धि जैसा था। हम ककराना से थोड़ा बड़वानी की तरफ (जलमार्ग से) बढ़े और ककराना के पेरीयातर फालिया में पहुंचे। यहां हमारी मुलाकात मोती झिनला नायक, मालसिंह दलसिंह नायक एवं तूरसिंह से

हुई। ये लोग गुजरात की खड़गोदरा वसाहट में चले गए थे। वहां पर इन्हें पांच एकड़ जमीन भी मिली। तूरसिंह का कहना है कि उसकी पत्नी की हत्या हो गई और उसके आठ बेटे (बच्चे) हैं। तो अब मैं क्या करु? यहां पहाड़ है, सबकुछ है। लड़का वहां खड़गोदरा में रह रहा है तो मेरी देखभाल कौन करे? वहां की जमीन में सिंचाई भी नहीं है। यहां तो चार खाते थे। सबकी अलग–अलग जमीने थीं लेकिन वहां तो सबको एक मानकर केवल पांच एकड़ जमीन ही दे दी है। वहां पर अब परिवार टूटने लगे हैं। इस वजह से भी वापस आना जरुरी होता जा रहा है। एक जोड़ी बैल थे तो वो भी बेच दिए और वापस यहां चला आया। वैसे जमीन उतनी खराब भी नहीं है लेकिन सिंचाई न होने से गुजारा कर पाना भी कठिन होता जा रहा है। उनकी एक शिकायत यह भी है कि नायकों को आदिवासी नहीं माना जाता। (यहां मध्यप्रदेश में भी) अपनी हकदारी के लिए 75 साल पुराना पुरावा (कागजात) मांगते हैं। अब हम ऐसा पुरावा कहा से लाएं? उन्होंने बताया कि उनका पूरा परिवार दीवाली आईखेड़ी (ककराना) में मनाता है। ये लोग शादी में अभी भी बारात लेकर नहीं जाते। छाक (सगाई के बाद) बीड़ा पीते हैं। इनके समुदाय में अभी दहेज 30000 रु. चल रहा है। लड़के वाले लड़की वालों को दहेज देते हैं। शादी में गांव के पटेल को भी 2000 रु. देना पड़ता है। इसे खत्री (पूर्वजों) के नाम पर डाल देते हैं। वैसे इससे दारु ही आती है।

इस छोटी सी मुलाकात ने बहुत से प्रश्न हमारे सामने खड़े कर दिए थे। जिनके समाधान करने की हैसियत सिर्फ सरकारों की है। न मध्यप्रदेश और न ही गुजरात की सरकार इसे लेकर कोई गंभीरता दिखा रहीं है। किसी भी समुदाय का पुनर्वास उसकी आवश्यकताओं, परंपराओं व संस्कृति के हिसाब से होगा या वातानुकूलित कमरों में कागजों पर तैयार पुनर्वास नीति से? जवाब हम सभी को मालूम है, लेकिन कोई भी शहरी इनकी आवाज में आवाज मिलने को तैयार नजर नहीं आता।

जलाशय से वापस लौटते एक बार पुनः अपने नीचे डूबे गांव, खेत, खलिहान, मंदिर, देवस्थान और नदी के घाट जैसे साकार हो रहे थे। न मालूम कितनी सहस्त्राब्दियों बाद पुनः एक सभ्यता की खोज में जब नर्मदा घाटी की सभ्यता पर बात होगी तो शायद जलसिंधी और अंजनवाड़ा भी उसमें शामिल होंगे। बहरहाल अंधेरा घिरता जा रहा था।



निष्कर्ष

तकरीबन बारह बरस पहले शायद सन् 2001 मैं महेश्वर के तहसीलदार के दफ्तर में बैठा था। सफेद झक बाल वाले एक शानदार व्यक्तित्व के धनी ऊँचे पूरे व्यक्ति ने कार्यालय में प्रवेश किया। तहसीलदार ने भी उठकर उनका अभिवादन किया और बैठने को कहा। कुछ ही क्षणों में उनकी पत्नी, बेटे, बहुएं और पोते–पोतियों जो सब मिलाकर तकरीबन 15 लोग होंगे, ने भी उसी कमरे में प्रवेश किया। वे सभी बेतरह रो रहे थे। थोड़ी देर में तहसीलदार के सामने कुछ कागज लाए गए, तहसीलदार ने उन बुजुर्ग से एक रजिस्टर में हस्ताक्षर करने को कहा। जैसे ही हस्ताक्षर करने के लिए उन्होनें कलम उठाई, परिवार के सभी सदस्य जोर–जोर से रोने लगे। कारण पूछने पर पता चला कि बुजर्गवार ने नर्मदा परिक्रमा पर जाने का निश्चय कर लिया है और वे अपनी सारी संपत्ति परिवार के सदस्यों के नाम कर मुक्त हो जाना चाहते हैं। यात्रा से लौटना अब नर्मदा मैया पर ही निर्भर था। बच्चे उनसे विनती सी कर रहे थे कि जमीन हस्तांतरण की जरूरत नहीं हैं। उन्हें विश्वास है कि वे लौटकर अवश्य आएंगे। परंतु बिना पसीजे उन्होंने हस्ताक्षर कर दिए और कहा मैं अपने उपर कोई भार नहीं रखना चाहता। इसके बाद उसी कमरे में उन्होंने अपनी जेबें खंगाली जितने भी रुपये–पैसे और अन्य कागजात थे वे उन्होंने अपने परिवार को दिए। एक छोटी सी पोटलीनुमा थैली उन्होंने अपनी कांख में दबाई और सबसे विदा लेकर बिना पीछे मुड़े चल दिए। बाकी का परिवार अब भी उनके पीछे था, लेकिन वे अपनी जेब का आखिरी पैसा भी निकालकर चल पड़े। अब पूरी परिक्रमा वे ''सदाव्रत'' या समाज के सहारे और भरोसे ही करेंगे। ये है समाज पर विश्वास का चरमोत्कर्ष। एक समृद्ध किसान को अपने लोगों से मांगना नहीं पड़ेगा उसे सिर्फ ''नर्मदे हर '' कहना होगा। सरदार सरोवर बांध की डूब के बाद अब यह परिक्रमा और उस परिक्रमा को साकार करने वाला समाज बिखर जाएगा।

यह एक सच है इस इक्कीसवीं शताब्दी का और दूसरी ओर समाज की सामुहिकता के विश्वास का। लेकिन सरकार जिसके लिए सबके बारे में सोचना कानूनी

और से वैधानिक जिम्मेदारी है, क्या वो भी ऐसा ही सोचती है? वास्तविकताएं कुछ अलग ही हैं। सवाल उठता है कि क्या भारतीय शासनतंत्र विस्थापित समुदाय के प्रति कभी भी संवेदनशील था ? बीसवीं शताब्दी के अंत में मध्यप्रदेश के ही आदिवासियों द्वारा म.प्र. उच्चन्यायालय इंदौर खंडपीठ में दायर एक याचिका के मसौदे और निर्णय से इसे समझने का प्रयास करते हैं और जानते हैं लोकतंत्र में चुनी हुई सरकारें और उनके नुमाइंदे किस तरह का व्यवहार करते हैं।

सन् 1986 में मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय की इंदौर पीठ में न्यायमूर्ति पी.डी. मुल्ये और न्यायमूर्ति के.के. वर्मा के सामने एक मामला आया जिसनें उन्हें इस बात पर निर्णय देना था कि प्रदेश के खरगोन जिले की बड़वाह तहसील में स्थित चैनपुर गांव के जिन 16 आदिवासियों को अपने निजी जानवरो के गोबर को, जिन्हें राज्य द्वारा दिए गए आज्ञा पत्र के तहत आरक्षित वन क्षेत्र में चराने की इजाजत मिली थी क्या उस गोबर को इकट्ठा कर अपने साथ ले जा सकते हैं ? मध्यप्रदेश राज्य ने यह दावा किया था कि यह गोबर भी राज्य की संपत्ति है। भारतीय वन अधिनियम धारा 2(4) (बी) के प्रावधानों के तहत स्पष्ट है कि राज्य लघु वनोपज का स्वामी होता है। इस पर न्यायाधीशों ने अपने निर्णय में यह माना कि चराई के अधिकारपत्र वालों के जानवरों का गोबर ''लघु वनोपज'' नहीं है और न ही चरवाहों को गोबर पर उनके नैसगिक अधिकार से वंचित किया जा सकता है। (1986 मध्यप्रदेश लॉ जर्नल पृष्ठ 704–707)

इस प्रकरण पर टिप्पणी करते हुए डॉ. ब्रह्मदत्त शर्मा ने लिखा ''चैनपुरा वनवासी यहां पर उपनिवेशवादी कानून की शक्ति से उस भिड़ंत में आमने सामने थे जिसे उपनिवेशोत्तर राज्य उस गोबर पर बड़े तेवर के साथ अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था। उसका तर्क साफ था। बिना अधिकार के जानवर आरक्षित वन में नहीं चर सकते। उसका गोबर धरती की सतह की मिट्टी का हिस्सा बन जाता है क्योंकि वह गोबर भी वन अधिनियम के तहत वर्णित ''खाल, हाथी दॉत, सींग, हड्डियाँ, रेशम के कोवा, शहद और मोम'' के रूप में वर्णित ''पशु उत्पाद'' का हिस्सा है। जानवरों के गोबर पर प्रभुत्व का दावा करने वाले जिलाधीश और आयुक्त महोदय ने बड़ी शालीनता से गोबर इकट्ठा करने में आदिवासियों के श्रम का पारिश्रमिक देने का प्रस्ताव भी किया था। गौरतलब है, यह इलाका नर्मदा नदी से अधिक दूर नहीं हैं। आदिवासियों की ओर से यह मुकद्मा इंदौर के अभिभाषक अनिल त्रिवेदी ने लड़ा था। वे नबआ के समर्थक रहे हैं और निमाड़ व मालवा के सामाजिक क्षेत्र में जाना माना नाम है। यह एक ऐतिहासिक मुकद्मा है। जिसने वन विभाग को आईना दिखाया।

इसका सीधा सा अर्थ निकलता है कि हम एक जैसे राजनीतिक व प्रशासनिक तंत्र के भरोसे अपने को छोड़े हुए हैं, जिसमें संवेदनशीलता और व्यावहारिकता दोनों का ही सर्वथा अभाव है। अपनी ''जमींदारी'' को लेकर वन विभाग व प्रशासन में स्वामित्व की भावना इतनी भर गई है कि वह जानवरों का गोबर तक उन लोगों का देने को तैयार नहीं है, जो वास्तव में उन पशुओं के स्वामी हैं। चूंकि जिस धरती पर

गोबर गिरा है, वह राज्य की है, इस लिहाज से वे मानते हैं कि उस पर पड़ी कोई भी वस्तु नैसर्गिक रूप से उनकी संपत्ति बन गई है। इस प्रकार से यदि पालतू जानवर को जंगल में बच्चा हो जाए तो वह भी क्या राज्य की संपत्ति हो जाएगा ? इस तरह से तो वे भारत के प्रत्येक नागरिक को वे जब चाहे अपनी संपत्ति घोषित कर सकते हैं। करीब सत्ताईस वर्ष पश्चात इस निर्णय पर बात करते हुए अनिल भाई ने बताया कि बहस के दौरान मैंने माननीय न्यायाधीशों से कहा था कि श्रीमान यदि आप कभी इस आरक्षित वन में जाएं तो अपनी कार से नीचे मत उतरिएगा। इस पर चकित होकर उन्होंने पूछा कि क्यो? मैंने कहा कि श्रीमान नीचे उतरते ही आपके जूतों में वन की मिट्टी लग जाएगी और इसके बाद आप भी वन विभाग की। वो तो भला हो हमारी न्यायपालिका का जो गोबर और तंत्र के बीच मे आ गई और हम सब बच गए। लेकिन सरदार सरोवर के विस्थापितों को बचा पाने में तो न्यायपालिका भी पूर्णतया सफल नहीं हो पाई।

कहां पर उसके हाथ बंध गए, यह समझने के लिए थोड़ा और पीछे चलते हैं और उन्नीसवीं शताब्दीं के उत्तरार्ध और सन् 1986 में मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय में जानवरों के गोबर की मिल्कियत को लेकर आए निर्णय के ठीक सौ वर्ष पूर्व एक अमेरिकी राष्ट्रपति के वक्तव्य पर गौर करते हैं।

अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति थ्योडोर रूजवेल्ट ने जनवरी 1886 को रैंचमेन (पशुफार्म संचालित करने वालों) के शिकार अभियान पर अपने भाषण में कहा था। ''मुझे लगता है, कि मुझे अपने इस कथन से शर्मसार होना चाहिए कि मैं इंडियनों (अमेरिका के मूल निवासी रेड इंडियन) के बारे में पश्चिमी नजरिये का हामी हूँ। फिर भी मैं इतनी दूर नहीं जाऊंगा कि यह मानू कि सिर्फ मरा इंडियन ही भला इंडियन है। मगर मैं यह मानता हूँ कि नौ इंडियनों के बारे में यह सोच सही है और दसवें के बारे में इस तरह की गहरी पड़ताल जरूरी नहीं है। सामान्य इंडियन की तुलना में खराब से खराब काऊब्बाय (चरवाहा) अधिक चरित्रवान है। ''इतना ही नहीं उनका पूरा विश्वास था कि ''इंडियनों के साथ अमेरिका ''अत्यंत उदार'' था। उनकी जमीन के लिए उसके मूल्य से कहीं अधिक दाम देता रहा था। न्यायप्रिय और सम्मानवान देश जब चाहें संधियों को तोड़कर अपना कारोबार चला सकते हैं। अंतराष्ट्रीय कानून और संधियॉ मूल निवासियों के मामले में लागू नहीं होती हैं। इन्हीं राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने ''पश्चिम की विजय'' में जमीन की मिल्कियत के बारे में साफ लिखा है।''

1) यदि इंडियन घुमंतु हैं, तो वे जमीन के मालिक नहीं हैं, (2) यदि वे आबाद है तो वे उस जमीन के लायक नहीं हैं, और (3) यदि उन्होंने कानूनी अधिकार देने वाली संधियों पर ही हस्ताक्षर किए हैं तो अमेरिका को यह अधिकार है कि जहॉ कहीं हालात बदले हों, वह उस संधि को तोड़ दे।

डॉ. ब्रह्म्दत्त शर्मा इसे भारतीय संदर्भों से जोड़ते हुए कहते हैं, ''और ऊपर के वर्णन में यदि हम (1) ''पश्चिम'' की जगह आदिवासी इलाका, (2) ''इंडियन'' के स्थान पर आदिवासी और (3) ''थियोडर रूजवेल्ट की जगह मैदान भारतीय लोकतांत्रिक गणराज्य के प्रतापी कुलनीतंत्र का नाम लगा दें तो भारत में (आदिवासियों से) हो रहे व्यवहार को बहुत अच्छे से समझा जा सकता है।

यहां पर पाकिस्तानी शायर और कथाकार इब्ने इंशा की इस छोटी सी कहानी पर गौर करते हैं, ''जंगल में एक बूढ़ा शेर था। उसकी शिकार करने की क्षमता नष्ट हो गई थी। चालाकी बरतते हुए उसने सियार को अपने पक्ष में किया और एक जंगली जानवर का शिकार किया। तयशुदा आधार पर बंटवारे के लिए बैठते ही शेर दहाड़ा और बोला, जंगल का राजा होने के कारण शिकार में पहले ही मेरा आधा हिस्सा मेरा है। बचे हिस्से के दो भाग किए गए। शेर ने कहा शिकार में भागीदार होने के नाते इसमें आधा मेरा है। और बाकी का? जिसमें हिम्मत हो वह ले ले।'' ठीक ऐसा ही हमारी सरकारें भी करती आ रहीं हैं।

अब हमें थोड़ा और पीछे यानि करीब 6 शताब्दीं पूर्व की एक घटना को याद करना चाहिए। इससे हमें न केवल विकास की आधुनिक अवधारणा के मूलभूत सिद्धांतों को समझने में ही आसानी होगी बल्कि सरदार सरोवर परियोजना और अन्य विकास परियोजनाओं के मूल निवासियों पर पड़ने वाले प्रभावों के पीछे कार्य कर रही मानसिकता को समझने में सहायता मिलेगी। कहतें हैं, क्रिस्टोफर कोलंबस 15 वीं शताब्दीं के अंत में (सन् 1492 ईस्वी) भारत की खोज करने की कोशिश में गलती से लेटिन अमेरिका पहुंच गया था। उसकी इस यात्रा को हमें एक ''नये विश्व'' की खोज की तरह समझाया जाता है। अपनी यात्रा के दौरान सेन सल्वाडोर के निवासियों के संबंध में उसने स्पेन के सम्राट और साम्राज्ञी को लिखा था।

''महामहिम सम्राट एवं साम्राज्ञी, मैं आपसे शपथ लेकर कहता हूँ कि ये अत्यंत विनयशील एवं शांतिप्रिय लोग हैं। पूरे विश्व में इससे बेहतर कोई राष्ट्र हो नहीं सकता। वे अपने पड़ोसियों को स्वयं के जैसा ही प्यार करते हैं और उनका बातचीत करना तो और भी मधुर और विनम्रता भरा है। इतना ही नहीं वे इस प्रक्रिया में हमेशा मुस्कराते रहते हैं। हालांकि यह सच है कि ये लोग नंगे रहते हैं, लेकिन इसके बावजूद उनका आचार–व्यवहार मर्यादित एवं सुरूचिपूर्ण है, जिसकी कि प्रशंसा की जानी चाहिए।''

इन लेटिन अमेरिका निवासियों को भले ही पूर्णतया धर्मविरोधी न भी माना गया हो लेकिन निश्चित तौर पर इसे उनकी कमजोरी के रूप मे लिया गया। कोलंबस जो कि एक धुर दक्षिणपंथी युरोपियन व्यक्ति था और इस बात को लेकर सुनिश्चित था कि, ''इन लोगों को काम करने के लिए बाध्य किया जाए, इन्हें अलग–अलग जगह फैला दिया जाए और ऐसा सबकुछ किया जाए जो कि इन्हें हमारे तरीके अपनाने को बाध्य करने के लिए अनिवार्य है।'' इसके बाद की चार शताब्दियों (सन् 1492 से 1890)

तक लाखों लाख यूरोपियन और उनके वंशज इस ''नए विश्व'' के लोगों पर अपने तरीके अपनाने के लिए जोर जबरदस्ती करते रहे।

जलसिंधी, अंजनवाड़ा, ककराना जैसे अनेक गांवों के आदिवासियों को जब उनके परिवेश में देखते हैं तो उनकी सहजता, मुस्कान, जिंदादिली और सहज विनोद, जो कि हम शहरियों के जीवन से लुप्त सा हो गया है, साफ नजर आता है। लेकिन जब इन्हीं गांवों के लोगों से हम पुनर्वास बस्तियों में मिले तो साफ नजर आया कि उन्हें किन परिस्थितियों के अनुकूल बनाया जा रहा है। ये आदिवासी हमें कोलंबस द्वारा जहाजों में भर कर ले गए और बाद में गुलामों के रूप में बेचे गए लोगों की कहानी से पूरी तरह से तो नहीं पर, काफी मिलते जुलते नजर आते हैं। सौ–दो सौ किलोमीटर की दूरी उनकी पूरी विरासत को उनसे छीन लेती है। उनकी सहजता, मुस्कान, जिंदादिली और सहज विनोद सबकुछ छीन लेती है।

प्लेटो ने ''न्यायविधान'' में बताया है कि एथेंस में गुलाम विभिन्न जातियों के थे और अलग–अलग भाषाएं बोलते थे, इसलिए अपने मालिकों के खिलाफ संगठित होने में उन्हें कठिनाई होती थी। इससे यह भी सिद्ध होता है कि एथेंस के गुलाम यूनानी समाज की उपज न थे, वरन् बाहर से लाए गए तत्व थे। विस्थापन के आधुनिक संदर्भ में देखे तो दोनो में अद्‌भुत समानता नजर आती है। मध्यप्रदेश से गए जिन आदिवासियों से हम गुजरात की बस्तियों में मिले उनसे मिलकर यह स्पष्ट हो गया कि, उनके प्रति अनादर की सबसे बड़ी वजह उनकी भाषा ही है। इससे वे स्थानीय समाज में अपनी पैठ नहीं बना पाते और स्वयं को अकेला महसूस करते हैं। महाराष्ट्र से महाराष्ट्र में विस्थापित व पुनर्वसित हुए समाज के अनेक लोग भी असहज हैं क्योंकि जंगलों में उनके द्वारा बोली जाने वाली बोली एवं महाराष्ट्र में प्रचलित मराठी में जमीन आसमान का अंतर हैं।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि भारत की कुल जनसंख्या में आदिवासयों की हिस्सेदारी केवल 8 प्रतिशत है लेकिन विस्थापितों में से 80 प्रतिशत आदिवासी ही हैं। भारत में आदिवासियों की स्थिति को समझने में ये आंकड़े भी सहायक होंगे। भारत के 5653 विशिष्ट समुदायों में से मात्र 635 को जनजातियों अथवा आदिवासी का दर्जा मिला है। तुलनात्मक रूप से इनमें से मात्र 250 से 593 समुदायों को ही अनुसूचित जनजातियों का दर्जा प्राप्त है। व्यावहारिक रूप से संयुक्त राष्ट्र संघ एवं अन्य बहुपक्षीय संस्थायें प्रायः अनुसूचित जनजातियों को ही ''देशज लोग'' मानते हैं। भारत विश्व में सर्वाधिक देशज जनसंख्या वाला राष्ट्र है।

आंकड़ों की तुलना करने से साफ हो जाता है कि विकास के कार्यक्रम भी एक स्तर पर संस्कृति के क्षेत्र में हस्तक्षेप ही होते हैं। अनेक विशेषज्ञों का मत है कि विकास योजनाएं समाज के आर्थिक आधार को बदलती हैं और नागरिकों की संस्कृति के उपयोग की क्षमता और प्रक्रियाओं में सहभागिता की संभावना को विस्तारित करती

हैं। इतना ही नहीं जब गरीबी की संस्कृति बदलती है तो पूरी संस्कृति का ढाँचा बदलता है। इस सिद्धांत के परिप्रेक्ष्य में यह प्रश्न उठता है कि क्या सिर्फ आर्थिक स्थिति में आए परिवर्तन से हमारा पूरा सांस्कृतिक कलेवर बदल जाएगा ? सरदार सरोवर बांध और तमाम विकास योजनाओं में जीवन–स्तर में सुधार का पैमाना सिर्फ आर्थिक ही रहा है और वह भी पूरा नहीं हो पाया है। शायद इसे पहचानते हुए ही आदिवासी समुदाय बहुत साफगोई से कह रहा है कि सरकार ने नोट बनाने का कारखाना तो लगा लिया है लेकिन जमीन बनाने का कारखाना नहीं लगा पाई है।

इस अध्ययन में दूसरा बड़ा प्रश्न जमीन का ही था। पुनर्वास नीति में जमीन के बदले जमीन ही एकमात्र शर्त नहीं थी बल्कि उसके साथ यह भी जुड़ा था कि एक गांव को एक इकाई मानकर ही पुर्नस्थापित किया जाएगा। इन सबके पीछे सांस्कृतिक विरासत को सहेजने की थोड़ी बहुत शुभेच्छा अवश्य रही होगी। लेकिन व्यावहारिकता के स्तर पर आते–आते बात एकदम पलट गई और ऐसा लगने लगा कि सारा विस्थापित समुदाय जमीन के बदले जमीन पाकर एकदम संतुष्ट हो जाएगा। लेकिन जब महाराष्ट्र और गुजरात में उन विस्थापितों से मिलते हैं, जिन्हें जमीन के बदले जमीन मिल भी गई है तो उनमें संतुष्टि का भाव नजर नहीं आता। सरकार द्वारा दी जा रही भूमि की गुणवत्ता को यदि एक तरफ रख भी दें तो जो तरीका अपनाया जा रहा है वह विस्थापितों में हीन भावना भरता है। डॉ. रामविलास शर्मा, मानव सभ्यता का विकास में लिखते हैं,

'प्रश्न उठता है भूमि पर अधिकार किसका था। भारतरत्न से विभूषित काणे ने प्राचीन ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण देते हुए कहा है, भूमि पर किसानों का अधिकार था। जैमिनि के अनुसार सम्राट भी अपनी धरती दान नहीं कर सकता क्योंकि धरती सभी की है। शबर के अनुसार राजा को केवल फसल का अंश लेने का अधिकार है, लेकिन धरती सभी का पालन करती है इसलिए सभी की है। मनु एवं अन्य स्मृतिकारों की धारणा, काणे के अनुसार यह थी कि जमीन पर स्वामित्व किसान का है और राजा को केवल कर वसूल करने का अधिकार है। मनु और कौटिल्य दोनों ने समय पर खेत न जोतने बोने वाले के लिए दंड की व्यवस्था भी दी इससे सिद्ध होता है कि खेत को व्यक्तिगत संपत्ति समझ कर किसान चाहे कि उसे जोतना बोना छोड़ दे, तो ऐसा कहना संभव नहीं था।' इसका सीधा सा अर्थ यह निकलता है कि पारंपरिक तौर पर भारत में भू स्वामित्व उसके जोतने वाले का ही रहा है। किसान और आदिवासी के लिए भूमि महज अपने स्वामित्व की गौरव घोषणा नहीं होती। ये दोनों परस्पर एक जीवंत इकाई की तरह आपस में व्यवहार करते हैं। भूमिका–उपयोग करने वाला हमेशा कृतज्ञता के भाव से भरा होता है। लेकिन जैसे ही विस्थापित समुदाय पुनर्वास बस्तियों और उसे वहां आबंटित भूमि पर पहुंचा, उसे महसूस कराया गया कि वह इसका अतिक्रमणकर्ता है और किसी और से छीनी गई संपत्ति का उपयोग कर रहा है। पहले से निवास कर रहें समुदाय ने भी उसे इसी तरह की मनोवैज्ञानिक सोच दी। जबकि

दूसरी और आदिवासी समुदाय अपने पांरपरिक निवास में जिस प्रकार की आत्मनिर्भर खेती करता था वह उसे कर्जदार बनाने से बचाती थी। लाह जैसी प्रथाएं उसे मजदूर होने से रोक लेती थीं। वह जो खाता था वही लगाता था। अपने व समुदाय की पूर्ति हो जाने के बाद यदि कुछ बच जाता था तो ही उसे बेचने का प्रयत्न करता था। इस नए परिवेश में भूमि उसकी सहयात्री न रहकर कमोवेश उस पर बोझ की तरह आ पड़ी थी। अपने पारंपरिक समुदाय व खेती से बिछड़ कर उसे इस धरती की सेवा में जुट जाना पड़ा और आधुनिक खेती के नए तौर तरीकों ने उसे इस नई अर्थव्यवस्था में कर्जदार बना दिया। यह स्थिति महाराष्ट्र और गुजरात दोनों ही जगह विद्यमान है।

विस्थापित समुदाय अपनी भूमि को या तो लीज पर दे रहे हैं या एक फसल लेकर, बैठ जाते हैं। इस प्रक्रिया में या तो वे कर्जदार बन रहें हैं अथवा मजदूर। अपनी पूरी यात्रा में हमें एक भी व्यक्ति जिसे जमीन के बदले जमीन मिल भी गई हो, संतुष्ट नहीं मिला। वजह साफ थी कि वह जिस कृषि आधारित संस्कृति का संवाहक था, आधुनिक यंत्र आधारित खेती उसके लिए अजूबा थी। मन मारकर वह खेत में रासायनिक खाद और कीटनाशक डालने को तो राजी हो गया, लेकिन बाजार से बीज खरीदने को लेकर तो वह आज तक सहज नहीं है। इसी के साथ नए स्थान पर आए भौगोलिक व जलवायु संबंधी परिवर्तनों ने उससे उनका पारंपरिक भोजन ही उनसे छीन लिया। दूसरी ओर नदी से दूरी उसे और असहज बना रही थी। पालतू जानवरों को न पाल पाने की विवशता प्रत्येक विस्थापित के चेहरे पर साफ दिखाई देती है। वो लोग जिस प्रेम और राग से ''बैल'' शब्द का उच्चारण करते हैं, वह मन को अंदर तक विचलित कर देता है। एक कृषक या आदिवासी के घर में बैल न बंधा हो, यह तो उनकी कल्पना में ही नहीं हैं।

लेकिन बांध निर्माण करने वालों की आंखों का पानी तो जैसे सूख सा गया है। अनुपम मिश्र ने बांध निर्माण की सनक को राजरोग की उपमा दी है। वे लिखते हैं, ''राज–रोग से कैसे निपटें ? इससे निपटने का एक ही तरीका होता है, जब राज हाथ से चला जाता है, तो यह रोग भी चला जाता है।'' मगर सरदार सरोवर बांध के मामले में तो न मालूम कितनी सरकारें चली गई। लेकिन यह राजरोग जो जैसे स्थायी हो गया। नर्मदा बांध एवं नहरों से सिंचाई को लेकर प्रतिकूल परिस्थितियों को सन् 1901 में ही रेखांकित किया जा चुका था। लेकिन प्रयत्न चलते रहे कि येन–केन प्रकरण बांध तो बनाए ही जाएं। इसके लिए जो रास्ता चुना गया उसे अनुपम मिश्र कुछ यूं बयान करते हैं,

''सन् 1973–74 में विवाद की वजह से नर्मदा पर बांध नहीं बन सकते थे तो तवा नदी पर बांध बनाया गया था। इस बांध के कारण खेतों में दल–दल हो गया। खेती बर्बाद हो गई। काली मिट्टी वाले इलाके में, जहां भारी मात्रा में अनाज होता था, तबाही मच गई। जर्मन विकास बैंक ने इस तबाही के कारण हो रही बदनामी को

देखते हुए तवा बांध पर लगाए गए पैसे वसूलने की जरूरत भी नहीं समझी और चुपचाप खाताबंद कर दिया और दृष्य से गायब हो गया। उस समय अकेले गांधीवादी बनवारीलाल चौधरी ने तवा बांध का विरोध किया। फिर बांध के कारण आई विपदा से मुक्ति के लिए मिट्टी बचाओ आंदोलन शुरू किया। ऐसा ही अभियान अब नदियों की रक्षा के लिए चलाना होगा।''

मगर राजरोग दिनों–दिन गंभीर रूप लेता गया और अंततः यह लाईलाज मर्ज बन गया। पुनर्वास बस्तियों और पहाड़ी इलाकों के साथ ही साथ निमाड़ के मैदानी इलाकों में मचे कोहराम को समझने के लिए, केन्द्र और राज्य सरकारों के कुछ वायदों पर नजर डालना जरूरी है।

25 अगस्त सन् 1981 को नई दिल्ली में मध्यप्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री अर्जुनसिंह और गुजरात के तत्कालीन मुख्यमंत्री माधवसिंह सोलंकी ने ''अनुबंध समझौता'' किया। इसका मजमून था, राष्ट्रीय हित, विशेषतः म.प्र. और गुजरात राज्यों का विकास, ध्यान में लेते हुए म.प्र. और गुजरात के मुख्यमंत्री निम्नलिखित बात मंजूर करते हैं।

मध्यप्रदेश राज्य शासन, नर्मदा जलविवाद न्यायाधिकरण का फैसला, जो कि 7 दिसंबर 1979 को घोषित किया गया और भारत सरकार के विशेष गजट में 12 दिसम्बर 1979 को प्रकाशित किया गया, उसे पूर्व रूप से अमल में लाना मंजूर करती है।

गुजरात राज्य शासन इस निर्णय के अमल को पहले ही मंजूरी देते हुए उसके पूर्व पालन के लिए कार्यबद्धता जताती है और उसी के अनुसार म.प्र. राज्य शासन को यह भरोसा देती है कि वह, सरदार सरोवर बांध की ऊँचाई, निर्णय में बताई है, उससे अधिक नहीं बनने देंगे।

सरदार सरोवर बांध के ऊपर के क्षेत्र में जो जलाशय बनेगा उससे बड़ी संख्या में लोग उजड़ेगे और उनके लिए सरदार सरोवर के लाभ क्षेत्र में ट्रिब्युनल के फैसले के अनुसार पुनर्वास की जो व्यवस्था होगी, उसके बावजूद, विस्थापितों को तकलीफ भुगतनी पड़ेगी। इस परिप्रेक्ष्य में गुजरात और मध्यप्रदेश राज्य सरकार यह तय करती हैं कि वे विस्थापितों की समस्या कम करने की पूरी संभावना खोजेगी। दोनों राज्य शासन की ओर से इस समझौते की अनुमति के बारे में एक दूसरे को जल्दी से जल्दी खबर की जाएगी।

मध्यप्रदेश और गुजरात के बीच यह समझौता अनुबंध, महाराष्ट्र और राजस्थान राज्य के अधिकार तथा दावे, जो ट्रिब्युनल के निर्णय में मंजूर किए गए हैं, उन्हें अबाधित रखते हुए किया जा रहा है।'

इस ''अनुबंध समझौते'' के एक–एक वाक्य से चालाकी झलकती है। दोनों सरकारें जानती थीं ट्रिब्युनल के फैसले पर अमल के बावजूद विस्थापितों को तकलीफे उठानी पड़ेगी इसलिए उन्होने शायद सोच लिया कि, अमल में लाने के बजाय इससे

मुंह मोड़ लेना ही समझदारी है। उन्होंने अपने वायदेनुसार समस्या कम करने संभावनाएं खोजी होगी और जब वे उन्हें ढूंढ नहीं पाए तो बिना पुनर्वास के बांध निर्माण और जलाशय भरने का काम शुरू कर दिया। लेकिन इस पूरे कारोबार में गलतबयानी उनका स्थायी हथियार बनी रही। इसे समझने के लिए थोड़ा और आगे बढ़ते हैं। सन् 1981 में मध्यप्रदेश और गुजरात के मध्य हुए इस ''अनुबंध समझौते के 24 वर्ष पश्चात् 7 अप्रैल 2005 को प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने बाबा आमटे द्वारा उन्हें लिखे गए पत्र के जवाब में लिखा था।

आदरणीय बाबा आमटे जी,

सरदार सरोवर बांध की ऊँचाई बढ़ाने के संबंध में आपके पत्र के संदर्भ में मुझे यह बताया गया है कि भारत सरकार ने पुनर्वास व पुर्नस्थापना के संबंध में राज्यों के शिकायत निवारण प्रधिकरणों को पुनर्वास संबंधी क्रियान्वयन समिति रिपोर्ट प्रस्तुत किए जाने और उनके द्वारा इसे स्वीकार किए जाने के बाद स्वीकृति दी है। पुनर्वास एवं पुर्नस्थापना उपसमूह की रिपोर्ट की अनुशंसाओं के आधार पर नर्मदा नियंत्रण प्रधिकरण ने बांध की ऊँचाई बढ़ाने की अनुमति दी।

मैं सुश्री मेघा पाटकर और उनके सहयोगियों से मिला हूँ और उन्हें आश्वासन दिया है कि पुनर्वास कार्य कानून एवं नीतियों में दिए निर्देशों का पूर्ण अनुपालन करते हुए किया जाएगा। उनके द्वारा पुनर्वास के तथ्यों के प्रति असंतोष व्यक्त करने के मद्देनजर हमने एक मंत्री समूह को वहॉ भेजने का निश्चय किया है जिसनें जल संसाधन मंत्री, सामाजिक न्याय और सशक्तिकरण मंत्री और प्रधानमंत्री कार्यालय में राज्यमंत्री शामिल होंगे। ये उन स्थलों का भ्रमण कर पुनर्वास संबंधी तथ्यों से स्वयं को संतुष्ट करेंगे।

कृपया आप यह समझिए कि भारत सरकार को शिकायत निवारण प्रधिकरण जैसे अधिकृत संगठनों एवं राज्य सरकारों द्वारा उपलब्ध जानकारी पर निर्भर रहना पड़ता है। लेकिन जिस स्तर पर यहां इसमें मनुष्य शामिल हैं उसे ध्यान में रखते हुए मंत्रियों के समूह को क्षेत्र में भ्रमण को भेजा गया है और हम उनकी रिपोर्ट की प्रतीक्षा कर रहे हैं।''

प्रधानमंत्री के इस पत्र के बाद तीनों मंत्रियों का समूह 6 अप्रैल को इंदौर पहुंचा। इस दल में जल संसाधन मंत्री सैफुद्दीन सोज, केन्द्रीय सामाजिक न्याय एवं सशक्तिकरण मंत्री मीरा कुमार और प्रधानमंत्री कार्यालय में राज्यमंत्री पृथ्वीराज चव्हाण शामिल थे। यहां उन्होंने मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री शिवराजसिंह चौहान के साथ बैठक की। मध्यप्रदेश सरकार ने वायदा किया कि 30 जून 2006 तक पुनर्वास का कार्य समापत हो जाएगा। इस पूरे दौरे में क्या हुआ वह एक पूरी पुस्तक की सामग्री है। लेकिन अभी तो उनके द्वारा हस्ताक्षरित सामान्य अवलोकन के महज चार बिंदुओं पर गौर करना अनिवार्य होगा।

1. सभी जगहों पर पाई गई शिकायतें कि सरदार सरोवर बांध के विस्थापितों का पुनर्वास सर्वोच्च न्यायालय के निर्देशों के अनुसार नहीं किया गया, सत्य पाई गई हैं।

7. मंत्रीदल आदिवासी विस्थापित क्षेत्र में नहीं जा सका पर वहां के गांवों (जैसे कि ककराना, खार्याभादल) में स्थिति खराब है, इसकी जानकारी उनको मिली। जरुरत पड़े तो भविष्य में मंत्रीदल इन क्षेत्रों का दौरा भी करेगा।

9. मंत्री दल को इस बात की चिंता है कि अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के लिए पुनर्वास नीति में कोई प्रावधान नहीं है।

10. नर्मदा नियंत्रण प्रधिकरण को पुनर्वास उपदल व शिकायत निवारण प्रधिकरण के द्वारा दी गई रिपोर्ट– जिनके आधार पर एनसीए ने बांध की ऊँचाई बढ़ाने की मंजूरी दी वह ज्यादा खानापूर्ति पर ही आधारित रहा है। इनकी जमीनी परिस्थितियों के साथ कोई सामंजस्यता नहीं है।

यहां इन तीनों घटनाओं का जिक्र करना इसलिए भी आवश्यक है जिससे यह समझा जा सके कि जो तंत्र विस्थापितों के जीवन व रोजगार के अधिकार का अनुपालन नहीं करना चाहता और सर्वोच्च न्यायालय तक में गलतबयानी कर अपना उल्लू सीधा कर सकता है, वह किसी समाज के सांस्कृतिक मूल्यों की चिंता क्यों करने लगा? प्रधानमंत्री के तीनों दूतों में से मीरा कुमार अब लोकसभा अध्यक्ष हैं, पृथ्वीराज चव्हाण महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री हैं, जहां के बाशिंदे भी इस परियोजना के शिकार हैं और प्रो. सैफुद्दीन सोज जम्मू कश्मीर में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष हैं। लेकिन तीनों ने दोबारा नर्मदा घाटी की ओर कभी रुख नहीं किया। बहरहाल नर्मदाघाटी के विकास के नाम पर बांध की ऊँचाई को पूर्णता तक पहुंचा दिया गया और अब सिर्फ 17 मीटर ऊँचे दरवाजे लगना बाकी है। पिछड़ेपन की इस समस्या पर प्रसिद्ध पर्यावरणविद् अनुपम मिश्र का कहना है :

'आज नर्मदाघाटी का इलाका पिछड़ा बता दिया गया है। इसका पिछड़ापन दूर करने के लिए ये बांध कल्याणकारी यज्ञ की तरह प्रचारित किए जा रहे हैं। इन यज्ञों के लिए आहुति चाहिए। ऐसे लोगों की पहले भी कमी नहीं थी जो अपने क्षेत्र की उन्नति के लिए बलिदान हो जाते थे। नर्मदा के बहुत से इलाकों में आज भी ''गाता'' (गातला) मिलेंगे। सिल के आकार के पत्थरों पर उकेरी हुई ये मूर्तियाँ उन शहीदों की स्मृति के लिए हैं जो अपनी और अपने समाज की शान, आन के लिए मर मिटे। आज भी ''गाता'' के पास मेले लगते हैं और हाट सजते हैं। लेकिन नर्मदा के बांधो में शहीद होने वालों की ''गाता'' नहीं बनेगी। विस्थापितों के साथ अन्याय की परंपरा अंग्रेजों के समय से कल तक जारी थी, उसे एक अकेले सुशील चंद्र वर्मा कितना बदल पायेंगे? विस्थापित तो भटकेंगे ही और अगर लाभ पाने वाले लोग अनदेखी बातों के कारण उखड़ गए तो ? इसलिए कल्याणकारी यज्ञ जरूर करें पर उतने ही बड़े जिनमें कोई चूक हो तो सिर्फ सरकार की ऊँगलियां जले, लोग ना जलें, पीढियाँ न झुलसें ?'

लेकिन सरदार सरोवर बांध से हुए विस्थापन ने उस क्षेत्र के समूचे सांस्कृतिक परिदृश्य को बदल दिया है। भारत के संविधान अपनी प्रस्तावना में उसके समस्त नागरिकों को, ''सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने के लिए तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और (राष्ट्र की एकता और अखंडता) सुनिश्चित करने वाली बंधुता को अंगीकृत, अधिनियम और आत्मार्पित'' करने की घोषणा करता है। लेकिन संविधान प्रदत्त सभी सुविधाएं और अधिकार उनसे छीनकर किसे सौंप दिए गए हैं, यह बताने की अब आवश्यकता नहीं रह गई है।

विस्थापित समुदायों से उनकी मौलिक सभ्यता और संस्कृति छीन ली गई है। पुनर्वास बस्तियों या अन्य स्थलों पर जाकर जिन लोगों से भी मिल पाए, वे अपने वर्तमान परिवेश को लेकर वे पूर्णतया असंतुष्ट थे। उनका साफ कहना था कि हमारे खान–पान से लेकर शादी–ब्याह, रीति–रिवाज, उत्सव–त्यौहार, रुढ़ियां और परंपराए सभी हमसे छिनती जा रही हैं। अपनी सुविधा से त्यौहार मनाने वाला समुदाय भी अब तिथियों और मुहूर्त पर निर्भर होता जा रहा है। उनकी बस्तियों में ढोल की आवाजें भी कभी कभार सुनाई देती हैं और शादी ब्याह में दिया जाने वाला धन अब दहेज जैसी शहरी व्याधि का पर्याय बनता जा रहा है। इस सबकी वजह? श्रीलाल शुक्ल ने अपने–अपने अत्यंत तीखे उपन्यास 'राग दरबारी' में लिखा है,

'इस देश कि निवासी परम्परा के कवि हैं। चीज को समझने से पहले उस पर मुग्ध होकर कविता लिखते हैं। भाखड़ा नंगल बांध को देखकर वे कह सकते हैं 'अहा! अपना चमत्कार दिखाने के लिए, देखो, प्रभु ने फिर से भारत भूमि को ही चुना।'

सरदार सरोवर भाखड़ा नंगल से भी आगे का चमत्कार है। क्योंकि इसकी वजह से विस्थापित होने वालों की संख्या हजारों नहीं लाखों में है। साथ ही साथ जिन स्थानों पर इन्हें पुनः बसाया गया है वह इनकी जीवनशैली से एकदम साम्यता नहीं रखता। बड़ी संख्या में लोग मानसिक अवसाद का शिकार हो रहे हैं और अनेक लोगों ने तो आत्महत्या तक कर ली है। आत्महत्याओं का आंकड़ा भी बढ़ता जा रहा है। इनका अपना परिवेश इन्हें एक अनूठी सुरक्षा प्रदान करता था। छोटी–मोटी बीमारियों का इलाज ये वहां की जड़ी बूटियों से स्वयं कर लेते थे। इतना ही इनके गांव के पुजारी को प्रसव कराने में भी महारत हासिल थी। उस सामाजिक सुरक्षा का अभाव इन्हें शारीरिक व मानसिक दोनों ही स्तर पर कमजोर बना रहा है। गुजरात की कुछ बस्तियों में तो सिलिकोसिस से पीड़ित विस्थापित तक मिल जाते हैं। पोषण की कमी तो आम समस्या है ही।

बड़ी उलझन भरी स्थिति है कि क्या कुछ संस्कृति में आता है और क्या नहीं। इसलिए लगातार भटकन की स्थिति बनी रहती हैं। वैसे यहां यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि जब भटकने के लिए जंगल नहीं होंगे तो विचारों में भटकना व्यक्ति की मजबूरी बन जाती है। किसको किससे जोड़ना है और किससे अलग रखना है यह

अपने आप में गूढ़ प्रश्न बन कर रह जाता है। श्यामाचरण दुबे की यह टिप्पणी शायद उलझन से निकलने में मदद कर पाए। उनका मानना है,

'परंपरा, संस्कृति व जातीय भावना पर्यायवाची नहीं हैं। किंतु राजनीतिकरण की प्रक्रिया ने उस अंतर को धुंधला कर दिया हैं परंपरा संस्कृति का वह हिस्सा है जिसमें भूतकाल से वर्तमान और वर्तमान तक एक निरंतरता बनी रहती है। यह जरुरी नहीं है कि परंपरा जीवन के हर क्षेत्र में समान रूप से प्रभावी हो। वहीं दूसरी ओर संस्कृति की संज्ञा मानव के सीखे व्यवहार प्रकारों से होती है। वैसे तो संस्कृति का पूरा स्वरूप ही ऐतिहासिक संदर्भों से निर्मित होता है किंतु उसके ऐसे मूल्यों और व्यवहार प्रकारों को जिनकी जड़ें इतिहास में बहुत गहरी हैं, परंपरा कहा जाता है। जातीय भावना अपने मूल अर्थ में, विशिष्ट नृवंशीय शाखाओं से जुड़े संवेदनात्मक लगाव को कहा जाता था। आज की बदली हुई स्थिति में क्षेत्रीय, भाषिक, सांस्कृतिक और धार्मिक तत्व उसमें मिल गए हैं कि जातीय भावना की व्याख्या उलझन भरी और अनिश्चित हो गई है। इन तीनों अवधारणाओं, परंपरा, संस्कृति और जातीय भावना के संबंध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि ये आंशिक रूप से तथ्यों पर आधारित किंतु मुख्यतः मानसिक पुनर्रचनाएं होती हैं।'

इस प्रकार परंपरा और संस्कृति को निरंतरता की दरकार होती है। विस्थापन उस निरंतरता को तहस–नहस कर डालता हैं। नर्मदा घाटी से विस्थापित समुदाय भी किसी तरह इस स्थिति से निपटने की असफल कोशिश में हैं। दूसरी ओर निमाड़ के मैदानी इलाकों के कृषक, मछुआरे, कुम्हार व अन्य समुदाय अपनी जातीय व व्यवसायगत पहचान बचाने में लगे हैं। इन सबसे अलग पहाड़ों पर रहने वाले आदिवासी समुदाय के लिए तो अपनी पहचान बचा पाना असंभव हो गया है। सबसे पहले उसका परिवेश उससे छिना, इसके बाद उसकी भाषा भी छीन ली गई। अब लगातार नगरीय सभ्यता का डंडा उस पर चल रहा है। अपना गीत, संगीत व नृत्य को भुलाकर वह आम शहरियों की तरह रिकार्ड एक्शन करने में जुट गया है। अपने मूल परिवेश से अलग हो जाने से उसकी कल्पनाशक्ति भी जवाब देने लगी है। आज की स्थिति में ये लोग उस औद्योगिक गलाकाट प्रतियोगिता में दौड़ लगाने को मजबूर हैं जिसके नियम ही किसानों और आदिवासियों की मूल प्रवृत्तियों के खिलाफ हैं।

उनके साथ हो रहे अन्याय को वे भलीभांति समझते हैं लेकिन भारतीय शासन की औपनिवेशिक प्रवृत्ति के आगे वे अपने को लाचार मानते हैं। नर्मदा घाटी में ही बने इंदिरा सागर बांध की संभाव्य डूब में आने वाले घोघलगांव के राम भारती गाते हैं,

तीन सौ चौरासी गांव डूब गया
नर्मदा का पानी गुजरात लई गया
खेत भी डूबी गया, खला भी डूबी गया
मावजो मिल्या न बर्बाद हुई गया

नर्मदा को पानी गुजरात लई गया
कोरट लड़ा भाई कचहरी लड़ा
भाई–भाई तक बिछड़ा पड़ी हो रह्या
नर्मदा का पानी गुजरात लई गया ।

सरदार सरोवर बांध की कहानी भी इससे अलग नहीं है। एक शून्यता प्रत्येक विस्थापित की आंखों में दिखाई देती है। जलसिंधी और अंजनवाड़ा में आप जिनसे मिलते हैं उन्हीं के रिश्तेदारों जब गुजरात की पुनर्वास बस्ती में मिलना होता है तो लगता है जैसे ये दो अलग–अलग दुनिया के लोग हैं और इनका आपस में जैसे कोई रिश्ता ही नहीं है। ठीक इसके विपरीत ककराना के फालिए में गुजरात से अपने ''वतन लौटे'' लोगों को देखकर लगता है जैसे उनमें नई प्राणवायु आ गई है। ऐसा तब है जबकि न तो उनके पास पहले जितनी और पहले जैसी जमीन है। इसके बावजूद सिर्फ अपने परिवेश का अहसास ही उन्हें नए आत्मविश्वास से भर देता है।

पूरे भ्रमण के दौरान इस एक वाक्य से हमारा लगातार सामना हुआ कि 'वह तो आंदोलन (नर्मदा बचाओ आंदोलन) की वजह से हम यहां हैं, वरना आपको पता ही नहीं चलता कि हम कहां गुम हो गए।' वहीं दूसरी ओर नर्मदा पर पहले बने बरगी जैसे बांधों से विस्थापित समुदाय ने जो भुगता है, वह अकल्पनीय है।

जयदीप हार्डिकर की पुस्तक 'कयामत के इंतजार में एक गांव'

(A Village Awaits Doomsday), के एक लेख 'आदर्श ग्राम' गोरखपुर (गोरखपुर, सिवनी, मध्यप्रदेश) में स्वागत है।' की निम्न पंक्तियों पर गौर करिए

'अपने आखिरी दिनों में सुंदरबाई को एक रोटी के लिए अपने पालतू कुत्ते से लड़ना पड़ता था। भूखी महिला और कुत्ता जो एक समय सबसे अच्छे दोस्त थे, अब दुश्मन बन गए थे। जब भी कोई उस कमजोर (जर्जर) महिला को खाना देता कुत्ता उस पर हमला कर देता था। लोगों का कहना है कि जब वह मरी तो उसके शरीर पर गहरे घाव थे। एक समय बिजासन में पांच एकड़ कृषि भूमि की स्वामिनी सुंदरबाई बरगी बांध की वजह से विस्थापित होने के बाद लम्बी भुखमरी से 1993 में जान से हाथ धो बैठी। उसका पति पुत्तैया भी उसकी मृत्यु के कुछ माह पूर्व भूख से मारा गया था। इसी वर्ष यहां चार और लोग भूख से मरे थे। मारे गए सभी हिंदु थे, लेकिन गांव वालों को उन्हें गाड़ने के अलावा कोई और रास्ता नहीं था। इस नए स्थान पर विस्थापित परिवारों के पास खाना बनाने तक के लिए जलाऊ लकड़ी नहीं थी, ऐसे में अंतिम संस्कार के लिए लकड़ी मिल पाना तो असंभव ही था।'

क्या कयामत इससे भी बुरी होगी?

वहीं दूसरी ओर नर्मदा घाटी के इस निचले हिस्से के बाशिंदों के हौसले ऊंचे हैं। उन्होंने पूरी दुनिया को मजबूर कर दिया है कि वे विकास की आधुनिक अवधारणा

और उससे उपजी लूट की संस्कृति पर पुनर्विचार करें। समुदायों की संस्कृति शताब्दियों में बनती है और अनर्गल विकास की आंधी उसे एक झटके में उड़ा ले जाना चाहती है। सरदार सरोवर बांध की डूब में आए क्षेत्र की जमीन, वनस्पति, फल, फूल, मंदिर, मस्जिद, नदी के घाट डूब गए हैं ये लोग जितने तरह का अनाज खाते रहे हैं, उनके नाम भी याद कर पाना आसान नहीं है। सौ से भी अधिक तरह की हरी भाजी इन इलाकों में होती थी। अपने ग्राम देवता, अपने तीज त्यौहार, मेल उत्सव की यादें ये अभी भी समेटे हैं। पहनावा बनाए रखने की कोशिश भी जारी है। इन सब बाहरी दिखाई दे सकने वाली वस्तुओं को हम एक ओर छोड़ दें तो हमें यह मानना होगा कि अपने अंतर्मन में ये अभी भी वहीं हैं, जो विस्थापन के पहले थे। अपनी मूल सांस्कृतिक गतिविधियों को वे नए भौगोलिक परिवेश में ढाल पाने का पूरा प्रयास कर रहे हैं। उन्होंने अपने प्रयासों ने दुनिया को बदलने की प्रक्रिया में मदद की है। उनकी संस्कृति और उनके सपने अलग–अलग नहीं हैं। वे आज भी अपने नए घर के बीच में लगे आधार खंबे को अपने पैतृक गांव से साथ लेकर आए हैं और उसी के आसपास खुद का बसाए हुए हैं। इसी नर्मदा घाटी ने दुनिया में उपलब्ध सबसे पुरानी करीब एक अरब पहले हुई बारिश की बूंद को फासिल्स के रूप में सहेज रखा था। इसी तरह कहीं–कहीं डूब प्रभावितों की आंसू को उसने जरुर सहेज कर रखा होगा। बाबा महरिया अब भी उसी चेतना के साथ डूब क्षेत्र में डटे हैं। वे मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री शिवराजसिंह चौहान और गुजरात के मुख्यमंत्री नरेंद्र मोदी को घाटी में आकर सच्चाई जानने की चुनौती दे रहे हैं। उन्होंने बताया कि उन्हें भोपाल और गांधीनगर जाकर बात करने में भी डर नहीं। वे आज भी अडिग हैं कि डूबेंगे लेकिन हटेंगे नहीं। उन्होंने इस पूरी व्यवस्था को खारिज कर सिद्ध कर दिया है कि वास्तविक स्वतंत्रता के मायने क्या हैं। प्रसिद्ध शायद मजाज ने अपने गीत बोल, अरी ओ धरती बोल के अंत में लिखा है,

बोल कि तेरी खिदमत की है
बोल कि तेरा काम किया है
बोल कि तेरे फल खाए हैं
बोल कि तेरा दूध पिया है
बोल कि हमने हश्र (कयामत) उठाया
बोल कि हमसे हश्र उठा है
बोल कि हमसे जागी दुनिया
बोल कि हमसे जागी दुनिया
बोल अरी ओ धरती, बोल
राज सिंहासन डांबाडोल

परिशिष्ट – 1
बाबा महरिया का पत्र

आदरणीय दिग्विजय सिंह,

हम झाबुआ जिले की अलिराजपुर तहसील के जलसिंधी गांव के ग्रामीण आज आपको मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री होने के नाते यह पत्र लिख रहे हैं।

हम नदी किनारे के बाशिन्दे हैं। हम विशाल नर्मदा के तट पर रहते हैं। इस साल सरदार सरोवर बांध से मध्यप्रदेश का डूबने वाला पहला गांव है, हमारा जलसिंधी। साथ में कई और गांव, 'सकरजा, काकड़सीला, आकडिया आदि भी डूबने वाले हैं। इसके चलते हमारे जंगल कट रहे हैं, रोड बन रही है। वैसे तो हम बरसात में डूबते, लेकिन गुजरात सरकार बांध के दरवाजे (जलद्वार) अभी से बंद कर रही है–इसलिए हम सब गर्मी में ही डूब जाएंगे। इतने दिन से आप सुन रहें हैं कि महाराष्ट्र के मणीबेली और गुजरात के बड़गांव के लोग डूबने के लिए तैयार हैं। ऐसे ही इस साल मध्यप्रदेश में सरदार सरोवर की पहली डूब में हम भी अपनी जिंदगी समर्पित करने वाले हैं – लेकिन अपने गांव से हटेंगे नहीं। हमारे गांव में पानी आएगा, घर और खेत डूबेंगे तो इनके साथ हम भी डूब जाएंगे ये हमारा पक्का इरादा है।

हम ये चिट्ठी आपको सूचित करने के लिए लिख रहे हैं कि सरदार सरोवर की डूब में आने वाले आदिवासी व किसान जलसिंधी में डूबने की तैयारी क्यों कर रहे हैं

सरकारी और तमाम शहरी लोग यह मानते हैं कि हम जंगल में रहने वाले, गरीब–गुरबा पिछड़े और बन्दरों की तरह बसर करने वाले लोग हैं। आप लोग हमें समझाते रहते हैं कि तुम लोग गुजरात की मैदानी जमीन पर जाओ – वहां तुम्हारा भला हो जाएगा, तुम्हारा विकास हो जाएगा। पर हम आठ साल से लड़ रहे हैं, लाठी–गोली झेल रहे हैं–कई बार जेल जा चुके हैं– आंजनवाड़ा गांव में पुलिस ने पिछले साल गोलीबारी भी कर दी थी, हमारे घर–बार तोड़ दिए थे। लेकिन हम लोग– 'मर जाएंगे पर हटेंगे नहीं' का नारा लगाते हुए आज भी उसी जगह पर बैठे हुए हैं।

क्यों? सरकार हमें उजाड़ने के लिए पैसा भी लगा रही है और डंडे भी मार रही है। 'फिर भी हम नहीं हटेंगे' कहकर इतनी ताकत क्यों लगा रहे हैं? अगर गुजरात में हमारा भला होने की बात सच होती तो अभी भी इतने सारे लोग गुजरात जाने के लिए तैयार क्यों नहीं हैं?

आप सरकारी और शहरी लोगों को हमारा इलाका सिर्फ पहाड़ी ही दिखाई देता है, लेकिन नर्मदा माता के तट पर जंगल व जमीनों के साथ हम लोग इसी पहाड़ी इलाके में सुख से जी रहे हैं। इसी इलाके में हमारी पीढ़ियां भी जीती रहीं हैं। बरसों पहले हमारे पूर्वजों ने जंगलों को साफ करके, देवी–देवताओं का आव्हान करके, जमीनों को सुधारकर और जंगली जानवरों का खतरा मोल लेते हुए गांव को बसाया था। इन्हीं जमीनों पर आज हम लोग खेती कर रहे हैं।

आप सोचते हैं कि हम गरीब हैं। हम गरीब नहीं हैं। मिलजुल कर अपने घरों को बांध कर हम यहां बसे हुए हैं। हम किसान हैं। हमारे यहां अच्छी फसलें पकती हैं। धरती माता पर हल चलाकर हम फसल पकाते हैं। बरसात में मेघ पानी देते हैं। उससे हम कमाई करके जीते हैं। कन्हर (जुवार) माता पकती है। हमारी कुछ जमीन पट्टे की हैं और बाकी नेवाड़ (विवादित जंगल जमीन) हैं। इन जमीनों में हम बाजरा, जुआर, मक्का, भादी, भट्टी, सांवी, कुद्री, चना, मोठ, उड़द, तुवर, तिल, मूंगफली आदि सभी पकाते हैं। हमारे यहा तरह–तरह की फसलें हैं। इन्हें हम बदल–बदल कर खाते हैं। इससे भोजन स्वादिष्ट भी लगता है और इसके दूसरे फायदे भी हैं। बरसात आते–जाते हमारा अन्न खत्म हो जाता है। खाने की बहुत कठिनाई होती है। तब भादी–भट्टी सरीखी फसलें हम दो महीने में ही पका लेते हैं– इससे हमें खाने को मिल जाता है। बाकी फसलें तीन–चार महीनों में पकें तो भी हमारी गुजर हो जाती है।

गुजरात में क्या पकता है? गेहूं और दादरा जुआर (जाड़े की जुआर), तुअर और थोड़ा बहुत कपास। ये फसलें खाने की कम, बेचने की ज्यादा होती हैं। हम तो खाने के लिए ही उगाते हैं। यदि उससे अधिक मिलता है तो ही कपड़े लत्ते खरीदने के लिए हम बेचते हैं। बाजार में कीमतें कम हों या ज्यादा, हमें तो खाने को मिल ही जाता है।

हम कई तरह के अन्न पका लेते हैं– पर सब अपनी मेहनत से ही। पैसे का क्या काम? घर का बीज उपयोग करते हैं, जानवरों का गोबर डालते हैं और इसी से हमारी फसलें अच्छी हो जाती हैं। गुजरात में तो जमीनों को व्यसन हो गया है। संकर बीज, सरकारी, रासायनिक खाद व सरकारी दवाईयों के बिना वहां अन्न पकता ही नहीं है। इन सबके लिए बहुत पैसे चाहिए। इतने पैसे हम कहां से लाए? वहां हमें कौन पहचानता है, कौन साहूकार पैसा देगा। यदि फसल अच्छी नहीं होगी और पैसा भी हाथ में नहीं होगा–तो खेती कैसे होगी? जमीन गिरवी रखनी पड़ेगी।)

यहां खुदी नाले (छोटी नदियां) से 'पाट' (नहर) काटकर हम दूर–दूर से पानी लाकर सिंचाई करते हैं। बचे हुए खेतों में सिर्फ बरसात में ही खेती करते हैं। जमीन में नमी रह जाए तो जाड़े में चना गेहूं भी बो देते हैं। नदी के तट पर ही तो रहते हैं। हम। यदि यहां बिजली होती तो हम भी बड़ी नदी (नर्मदा) का पानी उठाकर जाड़े में फसल पका सकते थे। साहबों (अंग्रेजों) का राज गए चालीस–पचास साल हो गए लेकिन आज तक नदी किनारे के गांव में बिजली नहीं पहुंची, न उजाले के लिए और न ही नदी का पानी उठाकर सिंचाई करने के लिए।

यह तो हमारी खेती की बात हुई। लेकिन हम तो पहाड़ के लोग हैं। नदी तट के निवासी हैं। हमारे पास साल भर गर्मी और जाड़े में भी बहता हुआ पानी है, पहाड़ पर बेहतरीन चारा है। हम सिर्फ फसलों के भरोसे नहीं जीते, हमारा जीवन जानवरों पर भी आश्रित है। हम मुर्गी, बकरी, गाय, भैंस सभी पालते हैं। किसी के पास दो–चार भैंसे होती हैं तो किसी के पास आठ–दस। बीस–चालीस, साठ, बकरियों तो सभी के पास होती हैं और मुर्गियों की तो गिनती ही नहीं। हम अपने जानवर तो पालते ही हैं। सगे संबंधियों और दूरदराज के साथी ग्रामीणों के जानवरों की देखभाल भी करते हैं। गुजरात तक से हमारे पहाड़ों में लोग अपने जानवरों को चराई के लिए लाते हैं। इतनी अच्छी है हमारी चारे–पानी की व्यवस्था। जानवरों और दूध–घी बेचकर हमारा एक–एक परिवार सालाना तीन–चार हजार रुपए कमा लेता है, कोई–कोई छह–सात हजार और कुछ लोग तो आठ–दस हजार तक कमा लेते हैं। आज यदि हम पर कोई आपदा टूट पड़े और पैसे की जरुरत हो, तो हाट में एक बकरी बेचने से पांच–छह सौ रुपये तुरन्त हाथ में आ जाते हैं। तुअर, तिल और मूंगफली बेचने से जो आय होती है उससे अधिक तो हमें जानवरों से मिल जाती है। झाबुआ जिले के बहुत से लोग हर साल जाड़े में दाल–रोटी की खातिर सूरत–नवसारी आदि शहरों में मजदूरी के लिए जाते हैं। लेकिन हम नदी किनारे के लोग मजदूरी के लिए कहीं नहीं जाते हैं। फसल कम पड़े तो जानवर बेचकर काम चला लेते हैं। सरकार लोगों को उजाड़कर गुजरात ले जा रही है। जमीन भी दे रही है, लेकिन वहां चारागाह की जमीन नहीं देती है। वहां चारे की बहुत समस्या है। घास–पत्ते कुछ भी नहीं हैं। लोग सिर्फ एक जोड़ी बैल रखते हैं– उन्हें खेत की मेड़ पर चराते या फिर जुआर का भूसा खिलाते हैं। यदि आज हमारा बैल मर जाता है–तो गाय माता हमें दूसरा बैल दे देती है। लेकिन गुजरात में गाय कैसे रखेंगे? नया बैल मोल देकर लेना पड़ेगा–पैसा नहीं होगा तो पाटीदार का बैल लेंगे और हमारी कमाई का हिस्सा उन्हें देना पड़ेगा। अपनी जमीन पर हम खुद मजदूर बन जाएंगे।

पीढ़ियों से हम जंगलों में रहते आए हैं। जंगल ही हमारा साहूकार और बैंक है। संकट के दिनों में हम उसी के पास जाते हैं। जंगल और बांस से हम अपना घर बांधते हैं। निगौड़ी और हियाली की झाड़ियों से हम अपने घर की दीवारों को बुनते हैं। जंगल से ही हमारे घरों की टोकनी, खाट, हल, बक्खर और हर एक सामान बनाते

हैं। जंगल–पहाड़ में चारा मिलता है जिससे हमारे जानवर पुसते हैं। तरह–तरह का चारा मिलता है गर्मी में घास सूख जाती है पर झाड़ की पत्तियां तो रहती हैं। झाड़ के पत्ते हम भी खाते हैं। हेगवा की भाजी, मुरवा की भाजी, आमली की भाजी, गोईन्दी की भाजी, फाज की भाजी–कितनी तरह–तरह की भाजियां खाते हैं–हम। अकाल पड़ता है तो कन्दमूल खाकर जीते हैं। बीमार हो जाते हैं तो गांव के बुढ़वा जंगल की जड़ी बूटी देकर ठीक कर देते हैं। जंगल से गोंद, तेन्दू पत्ते, बेहेड़ा, चिरौंजी, महुआ, डोली आदि बीनकर हम बेचते हैं, जिससे गर्मी से हमारी आमदनी होती। जंगल हमारी मां की तरह है। इसकी गोद में हम बड़े हुए हैं। इसका दूध पीकर हमें जीना आता है। इसके एक–एक झाड़–पत्ती–कंद का नाम और उसके उपयोग हमें मालूम हैं। बिना जंगल के देश में रहना पड़े तो यह पूरी जानकारी, जिसे हम पीढ़ियों से संजोकर रखो हैं, उपयोग नहीं होगी और धीरे–धीरे बिसर जाएगी। जंगल से दूर मैदानी इलाकों या शहरों में हम किस तरह जी पाएंगे। यह धरती माता जब से गढ़ी गुथी है, तब से हमारे पूर्वजों ने बिजली नहीं देखी। हम तो पहाड़ से लकड़ी लाकर उजाला कर लेते हैं। सूखी लकड़ी लाकर हमारी औरतें रोटी–राबड़ी रोंधती हैं। रोटी पकाना भी वहां बड़ी समस्या है। यहां हमारा जंगल तो हमारी गोदड़ी कहलाता है। उसकी लकड़ी से रोटी रोंधना, उसकी लकड़ी से उजाला करना और उसी की लकड़ी से जाड़े की रातों में तापते हुए सो जाना। ठंड लगती है तो रात में उठाकर फिर से आग सुलगा लेते हैं। जंगल हमें पालता–पोसता है तो हम भी उसे संभालते हैं। हम बरसात में घास व फसल नहीं काट सकते, घास का पूला नहीं बांध सकते, सागौन के कोमल पत्ते नहीं तोड़ सकते यहां तक कि नई घास को खाने वाले जानवरों का दूध तक नहीं पीते।

इस तरह से हम जंगल की गोद और मोटली माई नर्मदा के पेट में रहते हैं। मोटी नदी के गीत गाकर हम देव पूजते हैं। ये गीत नवाई और दिवासा के त्यौहारों पर गाये जाते हैं– यह हमें बताती है कि किस तरह से दुनिया बनी, मानव जाति कैसे पैदा हुई और मोटी (मोटली) नर्मदा कहां से आई। नर्मदा, उसके पेट में रहने वालों को बहुत सुख देती है। उसके पानी में ढेरों मछलियां हैं। खारही, मोइणी, घाघरा, टुकुन, तुमेण, तेपरो व अन्य तरह की मछलियां। चिवला की भाजी मोटी नर्मदा से मिलती है। ये मछलियां और भाजी खाकर हम जीते हैं। हते दो–तीन दिन हम मछली खाते हैं। हमारे घर में कभी मेहमान आते हैं तो हम चट से नदी जाकर मछली पकड़कर लाते हैं। दूसरी क्या सब्जी है, मछली की तरकारी ही रांध देते हैं। बरसात में नदी खुद ही हमारे घरों तक लकड़ी पहुंचाती हैं। पीछे से नदी के साथ मिट्टी बहकर आती है जो रेत पर जम जाती है। जाड़े में इसी मिट्टी पर हम मक्का दादरा–जुआर और गेहूं पकाते हैं। तरबूज और खरबूज की बाड़ी लगाते हैं। उसकी रेत पर हमारे बच्चे खेलते हैं–उसके पानी में नहाते, तैरते हैं। हमारे जानवर नर्मदा का पानी पीते हैं। सारे खन्ती, नाले गर्मी में सूख जाते हैं। लेकिन नर्मदा कभी नहीं सूखती। हमारी औरतें नदी से पानी भरकर लाती हैं। पीढ़ियों से यहां रहने वाले हम लोगों का इस मोटली नदी

नर्मदा और उसके पास के जंगलों पर कोई हक है या नहीं। उन हकों को आप सरकारी लोग पहचाने हो या नहीं? (आप शहरी लोग शहर में अलग–अलग घरों में रहते हो। एक–दूसरे के सुख–दुःख देखते तक नहीं हो– लेकिन हम तो सगे संबंधियों के आधार पर ही जीते हैं।) हम सब मिलकर (लाह) सामूहिक श्रम करके एक दिन में घर खड़ा कर देते हैं, खेत की निंदाई कर देते हैं, कोई भी बड़ा–छोड़ा काम पूरा कर देते हैं। लाह में एक घर खिलाता है तो बाकी लोग मिलकर उसका काम कर देते हैं। पड़जीया की रीति में हम भोजन नहीं खिलाते बल्कि आपसी समझ से काम होता है। आज मेरे घर पड़जीया है तो कल तुम्हारे यहा पड़जीया। एक साल में हम कम से कम सौ दिन का सामूहिक श्रम करते हैं। वहां हम लाह बुलाएंगे तो कौन आएगा। क्या बड़े–बड़े पाटीदार आकर हमारे खेत, नदियों या हमारे घर खड़े करेंगे?

हमारे यहां शादी और श्राद्ध में सब मिलकर खर्चा उठाते हैं – दहेज इकट्ठा करते हैं, भेंट देते हैं, लकड़ी–पत्तल लाते हैं। हमारे गांव में लड़ाई–झगड़े होते हैं तो पड़ोसी गांव के बुजुर्ग पंचायत बैठाकर झगड़ा तोड़ देते हैं। हम उजड़कर जाएंगे तो हमारे ब्याह और श्राद्ध कैसे होंगे? झगड़े तोड़कर मेल कराने के लिए भी कौन आएगा। हमारे यहां यदि बीज खत्म हो जाए बैल मर जाए या कोई विपदा आ जाए तो सब सगे संबंधी हमें मदद करते हैं। जो कि पूरे परगना में फैले हुए हैं। लेकिन वहां एक साल भी बरसात न हो या बीज खत्म हो जाए या बैल मर जाए तो हमको दूसरा बैल या थोड़ा बहुत बीज कौन देने वाला है? हमारी लड़कियों और बहनों के ससुराल पास ही हैं हमारी पत्नियां का पीहर भी पास में है। हम उजड़कर जाएंगे तो इनसे दुबारा कभी भेंट नहीं होगी। वे हमारे लिए एक तरह से मर जाएंगे। हमारे गांव की औरतें तो हमें धमकी देती हैं कि पति तो हम छोड़ने के लिए तैयार हैं। पति तो दूसरा भी मिल जाएगा लेकिन दूसरे माँ–बाप कहां से मिलेंगे? हम यहां से जाने के लिए तैयार नहीं हैं। वहां हमारे साथ कोई दुःख दमन हो तो किसको बताएंगे? मोटर किराया देकर आप तो हमें यहां भेजने से रहे।

हमारे यहां गांव में इतना मेल–जोल कैसे है? क्योंकि हमारी आपस की समझ है एक दूसरे को मदद करते हैं और सभी लगभग बराबर की स्थिति में हैं। बगैर जमीन वाला कोई इक्का–दुक्का हो तो वरना सभी के पास जमीन है। कोई ज्यादा जमीन वाला नहीं है, सभी के पास थोड़ी–थोड़ी जमीन है। हम गुजरात जाएंगे तो हमें बड़े–बड़े जमीन वाले पाटीदार और बनियों के साथ रहना होगा। वे हमें दबाएंगे भी। गुजरात में तो वहीं रहने वाले आदिवासियों की जमीनें वहां के बड़े लोगों ने तीस–चालीस साल से छीन ली थी। आज भी छीन रहे हैं। पहले तो वहां भी आदिवासियों की बस्ती ही थी। फिर हम तो अनजाने लोग हैं। हमें तो वहां की न बोली आती है न कायदा–कानून। सम्पर्क और राज भी उन्हीं बड़े लोगों का है। इतनी लागत की खेती यदि हमसे न हो तो पैसे के लिए हमें उनके पास अपनी जमीन गिरवी रखना होगी और धीरे–धीरे वह हमारी जमीनें छीन लेंगे। वहां के खास रहने वालों की छीन ली है

तो हमारी कैसी छोड़ेंगे। फिर हम अहमदाबाद या गांधीनगर के चक्कर लगाते रहेंगे पर दूसरी जमीन कौन देने वाला? यह बात जान लो कि यहां हमारे बाप दादा की जमीन है जिस पर हमारा हक है। यह छूट जाए तो हमारे हाथ गैंती–फावड़ा–तगाड़ी ही लगेगा–दूसरा कुछ नहीं।

जनम हमारा इसी में हुआ है – हमारा 'नरा' यहीं गड़ा है। समझो हम यहीं से उपजे हैं। हमारे गांव की हद, देव धामी सभी यही हैं। हमारे पूर्वजों के 'पालिया', 'गाता', 'हिंडला', झूले सभी यहां हैं। हम काला राणों, राजा फान्टो, वेला, ठाकुर, इंदी राजा पूजने वाले लोग हैं। आई – खेड़ा, खेडू बाई सभी को हम पूजते हैं। हमारी बड़ी देवी हैं राणी काजल। उनका तथा कुंबाई व कुंडू राणे का देवस्थल पास के मथवाड़ गांव में है। इन्हें छोड़कर जाएंगे तो हमें नए देवता कहां से मिलेंगे? हमारे त्योहार में – इंदल, दिवासा, दिवाली, में समूचे परगना के लोग आते हैं। वहां कौन आएगा? भगोरिया में हम सभी हाट में जाते हैं–वहां हमारे लड़के–लड़कियां आपस में जोड़ी बनाते हैं। गुजरात में ऐसा होगा क्या?

आप कहते हैं कि गुजरात की जमीन ले लो। नेता तुमको भड़का रहे हैं। उनके पीछे मत पड़ो। हम उनके पीछे नहीं पड़ रहे हैं। हम तो अपनी जमीन, अपने जंगल, अपनी नदी और अपने ढोर–डांगर के पीछे पड़ रहे हैं। आप कहते हैं कि मुआवजा ले लो। सरकार किस चीज का मुआवजा दे रही है? हमारे घर का, हमारे खेत का और खेत के मेड़ पर उगे झाड़ का। लेकिन हम सिर्फ इसी से तो नहीं जीते। आप क्या हमें हमारे जंगल का मुआवजा देने वाले हो? उसमें सागोन, बास, उम्बर, तेन्दू सलाई, महुआ, आंजन–खाखरा आदि कई तरह के झाड़ हैं। उसकी पत्ती, लकड़ी, तना और फल का हम उपयोग करते और बेचते भी हैं। इसका कितना मुआवजा होगा। या हमारी मोटी माई नर्मदा का मुआवजा देने वाले हो। उसकी मछली, पानी, उसमें आने वाली भाजी, उसके तट पर रहने वाले सुख इनका क्या मोल है? क्या हमारे जानवर और उनके लिए यहां उपलब्ध चारे–पानी का भी मुआवजा दोगें? हमारे खेतों का मुआवजा तुम किस तरह से आंकते हो ये जमीन हमने खरीदी नहीं हैं। इसे तो हमारे पूर्वजों ने जंगल साफ करके बनाया है। इसका क्या भाव लगाओगे, हमारे देव, जात, सगे संबंधियों के साथ सहारे का क्या मोल होगा? हम आदिवासी लोगों की जिंदगी की आपके सामने क्या कीमत है?

आप कहते हैं कि गुजरात जाओ–वहां तुम्हारा भला होगा, विकास होगा। पाठशाला होगी तो तुम्हारे बच्चे पढ़–लिख जाएंगे। सड़क होगी तो बस में बैठकर घूमना आसान हो जाएगा। वहां बिजली होगी। बीमारी में डॉक्टर मिलेगा। हमारा कहना है कि हमें भी यह सब चाहिये पर गांव में। अपने गांव से उजड़ने की कीमत पर नहीं। हमारी औरतें, मुर्गा बोलते ही घट्टी पीसना शुरु कर देती हैं। बिजली आएगी तो मोटर चक्की से पिसवाएंगे। हैंडपम्प होगा तो बरसात में नदी का लाल पानी नहीं पीना पड़ेगा। पाठशाला होगी तो हमारे बच्चे भी पढ़–लिख लेंगे। बिजली होगी तो नदी का पानी लाकर जाड़े

में भी फसल लेंगे। यदि आपका सिंचाई के लिए मोटर देना है, बिजली देनी है, पाठशाला देनी है तो हमारे इसी गांव में क्यों नहीं देते? चालीस–पचास साल हो गए हमारा राज आया है, लेकिन अब तक हमें यह सब क्यों नहीं दिया गया? इसे पाने के लिए हमें गुजरात क्यों जाना पड़ेगा? दूसरे गांव के हमारे भाई बंद हर साल जाड़े में मजदूरी करने गुजरात के सूरत नवसारी जाते हैं। क्या उनके बच्चों को कभी पढ़ने को मिलता है? क्या उनको बिजली मिलती है? वे तो बिल्डिंग बांधते हैं और खुद सड़क पर सोते हैं। सब जगह आदिवासियों का यही हाल हो रहा है। बरगी बांध में भी हमने देखा है कि अभी तक सभी भटक रहे हैं। सरकार ने हमसे न पूछा न ताछा और भोपाल, दिल्ली, अहमदाबाद में बैठकर हमारी जिंदगी का निर्णय ले लिया। क्या हम किसान, आदिवासियों, भील, भीलाला, नायक, मानकर को मनुष्यों में नहीं गिना जाता।

हम तो नहीं उजड़ेंगे, तय करके लड़ रहे हैं। लेकिन जो चन्द लोग उजड़ने को तैयार हैं उन्हें भी आप जबरदस्ती गुजरात भेज रहे हो। आज तक आपने मध्यप्रदेश में उन्हें एक इंच जमीन भी नहीं दिखाई/कहते हैं कि यहां की पुनर्वास नीति गुजरात से कमजोर है। इसीलिए गुजरात जाओ। हम लोग मध्यप्रदेश की प्रजा कहलाते हैं कि गुजरात की? हम जानते हैं कि आप अपने–तरीके से ही विचार करके निर्णय लेने वाले हैं। आप हमारे प्रदेश के नए मुख्यमंत्री हैं इसीलिए आपको हमने ये सारी बात बताई। वैसे तो हमने भी अपना निर्णय लिया है। इस साल मध्यप्रदेश में पहली बार डूब में आने वाली है, गांव डूबने वाले हैं। हम सब आदिवासी लोग जलसिंधी गांव में डूबने वाले हैं।

आपकी गुजरात की जमीनें हमें मंजूर नहीं हैं। आपका मुआवजा हमें मंजूर नहीं हैं इस नर्मदा के पेट में हम पैदा हुए हैं, इसकी गोद में मरने में हमें क्या डर? आप देखिएगा– अब तो गुजरात में बांध के दरवाजे बंद कर दिए हैं। बरसात के पहले गर्मी में ही हमारे गांव में पानी भर जाएगा। तो हम अभी ही पानी में अपना जीवन समर्पण करेंगे।

डूब जाएंगे पर हटेंगे नहीं
हमें आशा है कि आप हमारी बातें पर ध्यान देंगे।

नमस्कार

बाबा महारिया
गांव–जलसिंधी
तहसील–अलिराजपुर
जिला–झाबुआ (म.प्र.) – 457 887

परिशिष्ट – 2
सांस्कृतिक विस्थापन

(डॉ. कपिल तिवारी से संवाद)
भूमि के अपने राग होते हैं और हम अपने देवता स्वयं रचते हैं

जब मनुष्य का प्राकृतिक वातावरण बदलता है तो वह अभूतपूर्व संकट में पड़ जाता है। उसका साथ उन सब वस्तुओं, स्थितियों व परिस्थितियों से छूट जाता है, जिसके साथ उसके शताब्दियों से रिश्ते बने हुए थे। वन से बाहर आकर वह जिस असहजता का अनुभव करता है उसकी भाषा में अभिव्यक्ति मात्र कठिन ही नहीं कुछ हद तक असंभव भी है। वहां पूरा वन उसका घर था लेकिन यहां वह एक चहारदीवारी में सिमट जाता है। हम शहरी अपने रहवास या घर को कुछ फीट, मीटर या एकड़ में माप कर किसी नतीजे पर पहुंच सकते हैं। लेकिन किसी वनवासी या कुछ हद तक किसान के लिए ऐसा कर पाना संभव नहीं होता। अपने पर्यावरण से बिछुड़ना उसे किसी गहरे तल पर सांस्कृतिक बिखराव की ओर धकेल देता है। इस परिप्रेक्ष्य में निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि पिछली दो शताब्दियों में लिखा गया समाजशास्त्र रद्दी है, बेकार है।

वन अपने निवास को एक सांस्कृतिक वातावरण प्रदान करता हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो वह उसका जनपद है यानि तुम्हारी संस्कृति का घर है। अतएव किसी भी प्रकार के वातावरण में संस्कृति की क्षतिपूर्ति संभव ही नहीं है। बदला हुआ भूगोल उसके अर्थात विस्थापित सांस्कृतिक वातावरण का जनपद हो ही नही सकता। इस नए स्थान पर मनुष्य महज जिंदा रह सकता है। केवल शारीरिक रूप से चलायमान होने को भी जिंदा मान लेना भी भूल ही होगी क्योंकि एक मनुष्य में जीने के साथ आनंद की भावना होना भी अनिवार्य है। जाने–अनजाने सबसे पहले संस्कृति का निर्माण

होता है। इसके बाद मानस का। मानस जीवन के रस निर्मित करने का काम करता है जिसका अगला पड़ाव भाषा या बोली के रूप में सामने आता है और अंततः या अंत के रचना प्रकट या निर्मित होती है। यह एक स्वस्फूर्त एवं सतत् प्रक्रिया है। नया वातावरण इस प्रक्रिया को सिर्फ बाधित ही नहीं करता वरन् इसे तोड़ ही देता है। यहाँ पर भी स्पष्ट तौर पर समझ लेना चहिए कि नए वातावरण में इसकी क्षतिपूर्ति हो ही नहीं सकती।

इसे समझने की शुरुआत एक स्थूल प्रतीक या प्रतिमान से करते हैं। एक कुम्हार कमोवेश उसी जनपद के लिए सृजन करता है जहाँ कि वह निवास करता है। वहां के निवासियों की रोजमर्रा की आवश्यकताओं, रीति, रिवाजों व परंपराओं के अनुपालन हेतु वह अपने हाथों से मिट्टी को आकार देता है। उस क्षेत्र में पाई जाने वाली मिट्टी भी निःसंदेह उसकी सृजनात्मकता में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन करती है। यानि उसकी पूरी सृजनात्मकता उसके जनपद पर आधारित है। ज बवह किसी नए जनपद में पहुंचेगा तो क्या उसे यह सबकुछ मिल पाएगा? इस तरह उसकी सृजनात्मकता को मार दिया जाता है। ठीक ऐसा भी नृत्य के साथ भी होता है। उसके पैर, अपने नीचे की धरती को पहचान कर उसके साथ नृत्य करते हैं। भाषा या बोली भी जनपद की अपनी विशिष्टता है। भाषा से संवाद का रस है। एक नई या अपरिचित भाषा में संवाद अपने आप में भय पैदा करता है और असहजता बनी रहती है। अपना पर्यावरण छोड़ते ही संवाद का रस तक चला जाता है। उपरोक्त संदर्भों मे देखें तो तथाकथित सर्वश्रेष्ठ पुनर्वास भी न सिर्फ अमानवीय है बल्कि आपराधिक भी है क्योंकि इसने जीवन को जीने का अर्थ ही छीन लिया है।

संस्कृति का जनपद बनने में सहस्त्राब्दियां लगती हैं। आल्हा करीब 850 वर्ष पहले महाकाव्य में बदला। आल्हा को लिखित में वचिक में प्रविष्ठ करने का पहला उदाहरण माना जाता सकता है। गौर करिये ये बात गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रामचरित मानस रचे जाने से भी 400 वर्ष पहले की है। उत्तर भारत की सभी भाषाओं को इसी प्रकार की भिन्न प्रक्रियाओं में गुजरना पड़ा है और इन प्रक्रियाओं मे कम से कम दो हजार वर्ष लगे होंगे। यह प्रक्रिया संभवतः महाभारत काल जिसका दूसरा नाम जजाक भूतियां भी है से शुरू होती है। इन सांस्कृतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए जब विस्थापन के बारे में सोचते हैं तो महसूस होता है नई परिस्थितियों में मनुष्य भीतर से मर जाता है। हमें वह चलता, फिरता, दौड़ता, कूदता, नाते संबंध निभाता, कभी खुश तो कभी गमगीन दिखाई तो पड़ता है लेकिन वास्तविकता यह है कि वह भीतर से मृत्यु का शिकार हो जाता है और शायद यही विस्थापन की सबसे बड़ी त्रासदी भी हैं।

एक तरह से इस चर्चा को यहां समाप्त भी किया जा सकता है। लेकिन यह न्यायोचित नहीं होगा। इसे इस तरह से भी देखा जाना चाहिए। भूमि से राग पनपते हैं या भूमि के राग होते हैं। प्रकृति से मानवीय संबंध केवल लेनदेन के नहीं होते। वह इसे शब्द से ग्रहण तो करता है लेकिन उसे अपरिभाषित या दूसरी तरह से कहें

तो उसे अर्थों की उन्मुक्तता में खुला छोड़ देना चाहिए। जनपद किसी 'लोक' का निर्माण करता है। लेकिन यह लोक क्या है ? और इसे कैसे पहचाना जाए। इसकी अनेक एवं अलग–अलग परिभाषाएं प्रचलन में हैं। लेकिन इसे किसी परिभाषा से सीमित नहीं किया जा सकता। दरसअल ''लोक'' ही तो संस्कृति हैं। इसलिए इसे सीमित नहीं अपितु विस्तारित रूप मे जानने की आवश्यकता है। यह लोक सप्तस्त्रेण में फैला हुआ हैं।

मातृकी स्त्रेण	–	इसमें यह दिव्य से भौतिक तक फैल जाती है।
धरती माता	–	यह चाक्षुक सुख प्रदान करती है। कृपापूर्वक पूरे भूमंडल पर हरितिमा फैलाने की कृपा करती है।
प्रकृति माता	–	हजारों हजार तरह की विविधताओं को हमें उपलब्ध कराती है। जिसकी वजह से ही इस धरती पर जीवन संभव हो पाता है।
नदी माता	–	जल के अनंत स्त्रोत। इसके बिना जीवन ही संभव नहीं हैं।
गाय माता	–	मनुष्य का पोषण इस स्त्रोत भावना के बिना संभव नहीं है। बिना दूध मनुष्य का विकास हो ही नहीं सकता।
मातृभाषा	–	बिना इसके हम गूंगे होते। क्या संप्रेषण के बिना रह पाना संभव है ? प्रारंभिक शिक्षण या व्यवहार जो कि मातृभाषा के माध्यम से ही संभव है के बिना क्या किसी रसभरे जीवन की कल्पना की जा सकती है ? हमें समझ लेना होगा कि बिना सम्प्रेषण के जिया ही नहीं जा सकता।
स्त्री	–	यही वह स्थिति है जहां से भौतिक जन्म संभव हो पाता है। मातृशक्ति का बीज और उसमें उसका कन्या भोज। यहीं से मानव की पहली गतिविधि प्रारंभ होती है।

दूसरे शब्दों में कहें तो, इस जगत में जो भी भौतिक और वाचिक है वह स्त्री द्वारा संरक्षित है, मातृसत्तात्मक है। यही भारतीय लोक परंपरा भी है। जो कुछ भी तुम्हारे द्वारा अर्जित नहीं, वही भारतीय लोक परंपरा है। जिसको भी अर्जन कहते हैं वह पितृसत्तात्मक है और उसे कब्जे में लेने हेतु सतत् संघर्ष चलता रहता है। लेकिन हम पूर्ण तो अपने मातृसत्तात्मक स्वरूप में ही होते हैं। जब हमारे सारे रास्ते बंद हो जाते हैं तो मनुष्य माँ के पास लौटना चाहता है। वह अपना घर कभी नहीं भूलता ठीक उसी तरह माँ भी उसे कभी नही भूलती। लौटने पर माँ कुछ कहती नहीं सिर्फ अपने में समेट लेती है, ठीक वैसा ही हमारा ''लोक का संसार'' भी होता है। लेकिन विस्थापन उसके लौटने के मानस को भी नष्ट कर देता है और वह अनाथ की तरह हो जाता है।

वहीं यदि ज्ञान की बात करें तो वह समवेत है जो कि एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित हो जाता है। किसान का ज्ञान पीढ़ियों से न केवल चलता चला आ रहा है बल्कि उसमें योगदान भी होता रहता है। याद रखिए जीवन जितना सिखा दे, अनुभव जितना सिखा दे वही ज्ञान है, बाकी सब की सब महज जानकारी भर है। ज्ञान के बहुत संरक्षण की आवश्यकता नहीं है। यह पीढ़ी दर पीढ़ी विस्तारित होता रहता है। इसी लिहाज से संस्कृति के भी विराट अर्थ हैं। मेरे पीछे छूट गई पीढ़ियां और आगे आने वाली पीढ़ियां दोनों ही मिलकर संस्कृति का निर्माण करती हैं। मकान कोई विरासत थोड़े ही है। इसीलिए अपनी परंपरा से दूर होना ही असली नुकसान है और भौगालिक विस्थापन यही तो करता है। वह हमारी सास्कृतिक परंपरा से हमारा विस्थापन करा देता है। इसे किसी नये स्थान पर पुनःअर्जित भी नहीं किया जा सकता। दरअसल यहीं से भारतीयता का विकास हुआ है। लेकिन हमारी आधुनिकतावादी विकासात्मक सोच तथाकथित वास्तविकता की आड़ में हमें हमारी सांस्कृतिक विरासत से पृथक करती जा रही है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते थे, ''रखा हुआ कदम परंपरा है और उठा हुआ कदम आधुनिकता है।'' लेकिन आज क्या वास्तव में ऐसा कुछ दिखाई पड़ रहा है ? हम आधुनिकता को जिस तरह से अपने जीवन में उतार रहे हैं वह हमें परंपरा के साथ कदमताल करने से रोक रही है।

भूमि, नदी, पुरा संपदाओ के राग हैं। ये राग ही हमारे जीवन को आनंदमय व प्रेममय बनाते हैं। लेकिन आज तो नागरिकता अप्रेम में पल रही है। इसमें परायापन है। लेकिन हम तो अपने ही संसाधनों को लूटने में जुट गए हैं। इन्हें पराये की तरह लूट रहें हैं। हमें सोचना होगा कि आम आदमी क्या कर रहा है। क्या वह विस्थापन के बारे में सोच रहा है। सच तो यह है कि विस्थापन ने राग की सभी जड़ें काट दी हैं। पहले हमें अंग्रेजो ने लूटा। उन्होनें यहां के मूल निवासियों का अध्ययन किया, तदुपरांत उन्हीं से सीखकर, उन्हीं को लूटकर ब्रिटिश दासता का विस्तार किया। हम आजाद भले ही हो गए हों लेकिन समूचा वंचित समाज आज उपनिवेश में तब्दील होता जा रहा है, वह हड़बड़ा रहा है, और अपने को बचाने को प्रयास कर रहा है। वह संभलने का थोड़ा प्रयास तो कर रहा, जिससे की अपने को उपनिवेश (जिसका वास्तविक अभिप्राय वह भले ही न जानता हो) बनने से बचा पाए।

काफ्का कहते थे कि ''हमें अपने भीतर फैलते उपनिवेश से सतर्क होना होगा। हम अपने ही भीतर एक पराया आदमी पाल लेते हैं और फिर अपनी ही अदालत भी लगा लेते हैं।'' इस तरह से डरे हुए लोगों का समाज बन जाता है। इसमें से अधिकांश आदमियों के राग टूट चुके होते हैं। याद रखिए जिस आदमी के राग टूट जाते हैं उनमें से कुछ बहुत क्रूर भी हो जाते हैं। इसीलिए मानवीय होना आवश्यक है। ये टूटन बाहर सत्ता के विस्तार का सपना देखने लगती है जिसकी परिणिति कई बार हिटलर के रूप में सामने आती है। अपनी भौगालिक प्रकृति से विछिन्नता, विस्थापन की त्रासदी को और आगे ले जाती हैं जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य बहुत कम मनुष्य रह जाता है।

जैसा मैने पहले भी कहा था कि रस का स्त्रोत उसका घर, जो कि किसी अन्य स्थान पर नहीं बल्कि उसके अपने उस परिवेश में ही स्थित होता है से उपजता है, जिससे न मालूम कितनी चीजें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ी होती हैं। लेकिन हमारा श्रेष्ठ व नीति निर्धारक तबका स्वयं को केवल भौतिक हानि तक सीमित रखे हुए है। समाजशास्त्र को अब नए तरीके से सोचना ही होगा। विस्थापन की भौतिक हानि के बारे में लिखकर वह अपनी जिम्मेदारी से मुक्त नहीं हो सकता। आज भौतिकी का युग आ पहुंचा है। मानव इतिहास के अतीत ने विकास का जो सपना देखा था उसमें मनुष्यता के बड़े हिस्से को विस्थापित होना ही था।

गौर करिए हमारी सभ्यता में युद्ध एवं विकास की धारणाएं समानांतर चल रही हैं। लेकिन रुक कर सोचना होगा कि किससे ज्यादा नुकसान हुआ। पहले युद्ध से हुए नुकसान की बात करते हैं। हजारों वर्षों से लोगों का जीवन युद्ध से नष्ट हो रहा है। इसका हालिया व सबसे क्रूर उदाहरण द्वितीय विश्वयुद्ध है जिसमें करीब 3.50 करोड़ लोग मारे गए। लेकिन पिछले 60 वर्षों में इसकी न केवल क्षतिपूर्ति हुई बल्कि हम पहले से भी अधिक क्रूर हो गए। यानि युद्ध में हुए सबसे बड़े नुकसान ''जीवन'' का भी एक अर्थों मे दोबारा उत्पादन हो सकता है। लेकिन वहीं दूसरी ओर विज्ञान रूपी विकास के परिणामस्वरूप नष्ट हुए संसाधनों के द्विगुणीत होने की बात तो दूर की है, यह जानना आवश्यक है कि विज्ञान के अंधे आधुनिकतावादी विकास ने कितने संसाधनों को हमारी धरती से सदा के लिए विलुप्त कर दिया ? हमने सत्य की खोज करना ही बंद कर दिया। हमें विस्थापन एक अमूर्त स्थिति की तरह दृष्टिगोचर होता है। हमारा शिक्षित समाज आधुनिकता के अजीबोगरीब दंभ का शिकार हो चुका है। उसका हर चीज से राग समाप्त हो चुका है। अतएव आज वह स्वयं ही निर्वासन को चुन रहा है। हमें विचार करना होगा की उसकी अपने घर से भागने की मानसिकता कैसे बनी ?

हमें जीवन की धन्यता पर भी विचार करना होगा। उत्साह, उमंग से हमारे जीवन में गीत आए, गान आया, माधुर्य आया,। विचार करने पर भ कुछ नतीजे सामने आएँगे। इसके पीछे कोई तर्क हमें नहीं मिलेगा। याद रखिए जीवन तक भी खिलता है तब गान उसमें स्वमेव प्रवेश कर लेता है। गुलेरी ने कहा था भारतीय परंपरा में गान दिनारंभ है। भारतीय संस्कृति की दो धाराएं हैं। आसान शब्दों में कहें तो ये हैं एक वैदिक और दूसरी श्रमण। पूरा वैदिक धर्म, संस्कृतिक व ज्ञान दिनारंभ यानि दिन के आरंभ की तरह है। इसमें उगते सूर्य का प्रकाश है, सुनहरा भविष्य है, राग है, रस है, उमंग है और उल्लास है। वहीं दूसरी परंपरा श्रमण की है, जिसमें बौद्ध व जैन धर्म हैं। ये प्रकृति की संध्या से प्रतीत होते हैं। इनमें कहीं न कहीं वैसा ही अवसाद झलकता जैसा कि अक्सर संध्या बेला में महसूस होता है। ये जीवन को उसकी पूरी समग्रता में नहीं देखते। पूरा श्रमण समाज संसार का सार जय–पराजय में देखता है।

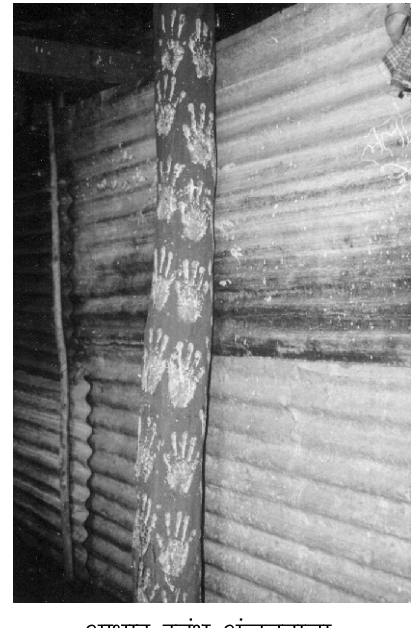
लेकिन दूसरी ओर स्त्रियों ने लोक संसार ''दिनारंभ'' की तरह रचा। वहीं पुरुष श्रमण में है जो अवसाद में जीता है। इसीलिए उसने आख्यान रचे। कभी किसी वृद्ध से पूछो जीवन के बारे में ? केवल चार भाषाएं गढ़ कर रचनात्मकता की समझ पैदा कर लेने से बात नही बनती हैं। दरअसल रचना का माध्यम महज भाषा नहीं जीवन होता है। हर वैदिक ज्ञान की अपनी नियति है, अनेक आगम उसे पूर्णता प्रदान करते हैं। हम अपने को श्रेष्ठ समझकर एक ऐसी परिस्थिति पैदा कर देते हैं जिसमें एक मनुष्य वस्तु में बदल जाता है और उसे एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर रख देते हैं। वास्तविकता तो यही है विस्थापन के बाद का जीवन एक मृतपाय जीवन है।

हम एक ऐसे समाज को विस्थापित कर रहे हैं जिसमें अपने स्वयं के देवता को रचने की क्षमता है। हमनें तो उन्हीं के देवता उधार लिए हैं। जंगलों और लोक में रहने वाले समुदाय को जब देवताओं की कमी पड़ती है तो वह स्थानीय परिवेश के अनुरूप नए देवता का सृजन कर लेता है। लाला हरदौल–दूल्हा देव बन जाते हैं और हर बुंदेली लड़की के ब्याह में भाई का धर्म निभाने के लिए आज भी आते हैं। क्या यह उस संस्कृति का बड़प्पन नहीं है। सोचिए कि तुलसी के मानस को लिखित परंपरा से वाचिक परंपरा बना देने का चमत्कार किस समाज मे संभव है ?

अपने अहंकार में हमें यह भी ध्यान नहीं रह पा रहा है कि भौगोलिक विस्थापन से जो परिणाम सामने आएंगे वे महज सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक या भौतिक विषमता ही निर्मित नहीं करेंगे वरन वे पूरी सभ्यता के लिए प्रलयंकारी साबित होंगे।



मालवई माता, अलिराजपुर



आधार स्तंभ अंजनवाड़ा

परिशिष्ट – 3
मेधा पाटकर से मार्गदर्शन

सुश्री मेधा पाटकर
वरिष्ठ कार्यकर्ता
नर्मदा बचाओ आंदोलन

नर्मदा घाटी में बन रहे बांधो विशेषकर सरदार सरोवर परियोजना को लेकर मेधा जी से बात करना एक कठिन कार्य हैं। यह कार्य तब और भी कठिन हो जाता है, जब बातचीत विस्थापन से उपस्थित किसी विशिष्ट पक्ष से संबंधित हो। वे इस परियोजना के नुकसानों के हिस्से नहीं करती। वे इसे संपूर्णता में देखती हैं। तकरीबन 30 वर्षों के उनके महती सार्वजनिक जीवन का सबसे बड़ा हिस्सा इस परियोजना के इर्द गिर्द बीता है और आज भी बीत रहा है। एक व्यापक मानवीय दृष्टिकोण के समानांतर इस परियोजना से संबंधित कानूनी पक्षों को वे बहुत बारीकी से विश्लेषित करती हैं। विस्थापन से हुए सांस्कृतिक नुकसान को वे अत्यंत गंभीर मानती हैं। इतना ही नहीं आदिवासियों के सामाजिक जीवन में व्याप्त विसंगतियों और कुप्रथाओं की वह किसी भी स्तर पर प्रश्रय नहीं देतीं। चर्चा के दौरान उन्होंने बताया,

आदिवासियों का सामुदायिक गुण उनका सामुदायिक नियंत्रण था। इसका प्रधान कारभारी या मुखिया कहलाता है। यह एक सांस्थानिक प्रक्रिया थी। ये अपनी तरह की एक सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था थी। इसी के माध्यम से तय होता था कि किसी सम्मेलन/बैठक या समारोह में कितने लोग जाएंगे। विस्थापन से यह नष्ट हो गया जैसे कि मैंने सामाजिक नेतृत्व की बात की। बाबा महरिया इसका अत्यंत सुंदर उदाहरण हैं। वे अपने क्षेत्र के मुखिया रहे हैं और उनकी सोच की व्यापकता से हम सब अच्छी तरह से वाकिफ हैं।

आदिवासियों को लेकर हमारे मन में यह धारणा बनी हुई है कि यह समुदाय तकरीबन सौ प्रतिशत गरीब ही था। वैसे गरीबी के मापदंड़ों, खासकर आदिवासियों के संदर्भ में, का पुनर्निधारण भी बहुत जरूरी है। हमें इस प्रक्रिया में ध्यान रखना होगा कि उनकी वास्तविक आवश्यकताएं क्या हैं और वे कहां से पूरी हो सकती हैं या वर्तमान में पूरी होती हैं। जैसा कि मैंने कहा कि वर्तमान विद्यमान आर्थिक आधार के हिसाब से देखें तो बहुत से आदिवासी काफी धनी भी होते थे और काफी बड़ी संख्या मध्यमवर्गीय थी। गांव का एक ही व्यक्ति ढोर–चार (गडरिया) होता था। वह कमोवेश अछूत की तरह होता था। ऐसी कई कुप्रथाएं भी मौजूद थीं जिन्हें आधुनिक शब्दावली में सामाजिक बहिष्कार कहकर पुकारा जाता है। आंदोलन (नर्मदा बचाओ आंदोलन) के प्रभावशाली होने के बाद ये सब समाप्त हो गया।

आदिवासियों की अपनी जीवनशैली के अनुरूप सांस्कृतिक परंपराएं रही हैं। कहा यह जाता है कि आदिवासी केवल वर्तमान में ही जीता हैं। लेकिन वास्तव में यह पूर्ण सत्य नहीं है। महाराष्ट्र के डूब क्षेत्र में ऐसे आदिवासी बुजुर्ग मौजूद हैं जिन्हें कि आज भी अपनी 20–22 पीढ़ी के नाम मुखाग्र हैं। उनकी अभी भी अपनी वंश परम्परा पर गहरी पकड़ है। यही उनका खजाना भी है। लेकिन विस्थापन के प्रभावों की निगरानी व देख–रेख करने वाले सामाजिक न्याय विभाग में एक भी नृतत्वशास्त्री (एंथ्रोपोलोजिस्ट) की नियुक्ति ही नहीं हुई। इससे सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है कि हम अपनी सांस्कृतिक विरासत को सहजने के प्रति कितने सचेत हैं। इसी वजह से मध्यप्रदेश में तो विस्थापन के प्रभावों का आकलन ही नहीं हुआ है। निमाड़ में दलितों के भूमि अधिकारों को लेकर विस्थापन प्रक्रिया में कोई गंभीरता ही नहीं बरती गई। जबकि इन्हीं सब बातों के मद्देनजर नर्मदा जलविवाद प्राधिकरण का गठन किया गया था। सन् 1993 में इसे लेकर एक कार्ययोजना भी तैयार हुई थी और इसके लिए विशेष कोष का भी आबंटन हुआ था। भूमि का स्वामित्व सामाजिक और सांस्कृतिक दोनों स्तर पर अनिवार्य है। साथ ही यह भी तय हुआ था कि वैकल्पिक व्यवसाय की व्यवस्था भी की जाएगी।

हमें याद रखना होगा कि आदिवासियों की वनों के अतिरिक्त व्यवसाय के रूप में खेती पर निर्भरता थी। उनकी उससे बेदखली क्या अत्याचार कानून के अंतर्गत किया गया अपराध नहीं है? गौरतलब है सन् 1958 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने चार्टर संख्या 107 के अनुसार आदिवासियों के संसाधनों को लेते ही उसकी बेदखली उनके पैतृक निवास से हो जाती है, जिसकी यथोचित भरपाई अनिवार्य है। भारत ने भी इस पर हस्ताक्षर किए हैं। इसी तरह विश्व श्रम संगठन सम्मेलन के अनुच्छेद 11 का मन्तव्य भी यही है। लेकिन इन सबको छोड़िए, यहां तो अधिकांश विस्थापितों को वन अधिकार अधिनियम के प्रावधानों का भी लाभ नहीं मिल पाया। 70 प्रतिशत विस्थापित खेती से बेदखल हो गए। वे गैर धन अर्थव्यवस्था को अपनाए हुए थे। लेकिन उन्हें जबरन इस नकदी वाली व्यवस्था में बिना किसी तैयारी के धकेल दिया गया। इसके अत्यंत घातक

परिणाम सामने आए हैं। महाराष्ट्र के धुले (अब नंदूरबार) जिले की शाहदा तहसील के गांवों में सन् 1986–87 में धारा–4 के आधार पर वनोपज की कीमत मिलने के लिए मुकदमा लगाया गया। इसका फैसला सन् 2000 यानि करीब 14 वर्ष बाद आया। लेकिन उनकी परेशानी का अंत यहां भी नहीं हुआ। नर्मदा बचाओ आंदोलन की ओर से एक वकील ने मुत में इन मामलों को लड़ा। लेकिन बाद में एक अन्य वकील ने बसाहट के लड़कों से आम मुख्तियारनामा (पावर ऑफ अटार्नी) ले लिया और लोगों के पैसे खा गया।

विस्थापन के महिलाओं पर पड़े असर का पर उनका कहना था कि, महिलाएं जंगलों में अत्यन्त सुरक्षित थीं। लेकिन नई बसाहटों में वे स्वयं को सुरक्षित महसूस नहीं करतीं। इतना ही नहीं विस्थापन के बाद उनकी आर्थिक स्वायत्तता भी समाप्त हो गई हैं। उनके बच्चों की आदतें भी काफी बदल गई हैं। वे अत्यधिक मांग करने लगे हैं। स्थितियां यहां तक पहुंच गई हैं कि बच्चों ने माँ–बाप को खाना खिलाना भी बंद कर दिया है। यह स्थिति उस समाज की है जहां लाह या ढास यानि सामुहिक श्रम की परंपरा रही हो। जहां कोई पैसे से श्रम करने वाला न हो। बल्कि सभी एक दूसरे के यहां सहयेाग से काम करते थे। इस समाज में असमानता भी नहीं थी।

नर्मदा घाटी सभ्यता विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में है। यहां अश्मयुग से कलियुग तक के सभी अवशेष परत दर परत मिलते हैं। दो लाख वर्ष पूर्व के इतिहासपूर्व मानव के अवशेष भी इस घाटी में मिले हैं। चिखल्दा को ही लें। पुरातत्वविद एस.बी.ओट्टा ने चिखल्दा को लेकर काफी सारी स्थापनाएं की हैं। अतएव उस परिप्रेक्ष्य में भी डूब को देखा जाना आवश्यक है। लेकिन यहां तो वर्तमान विद्यमान परिस्थितियों को लेकर ही कोई चेतना नजर नहीं आती। कई बार लगता है जैसे कि पूरी प्रणाली में आदिवासियों के खिलाफ दुर्भावना भरी हुई है।यदि शिकायत निवारण प्राधिकरण में उनकी बोली को समझने वाला ही कोई नहीं है तो ऐसे में उनकी शिकायत का निवारण कैसे होगा? दरअसल पुनर्वास एवं पुर्नस्थापना को लेकर सामने आ रही विसंगतियों को नर्मदा विकास प्राधिकरण (एनसीए) द्वारा दूर किया जाना था। न.वि.प्रा. के अध्याय न्यूनतम समाज कल्याण (कृष्णन–1990) के अनुसार विस्थापन के लिए न्यूनतम 200 हेक्टेयर (करीब 600 एकड़) का टुकड़ा चुना जाना चाहिए। अपनी मजबूत स्थिति के बावजूद एनसीए का निष्क्रिय रवैया काफी आश्चर्यचकित करता है।

वहीं अत्याचार निवारण (अनुसूचित जाति जनजाति) अधिनियम की धारा 3/4/5 के अनुसार भी इस वर्ग की जीविका छीनी नहीं जा सकती। लेकिन आज तो स्थिति यह हो गई है कि जलाशय के किनारे रहने वाले भी पानी को तरस रहे हैं और मगरमच्छों की बढ़ती संख्या से उनकी जान को खतरा बढ़ता ही जा रहा है। डूब में आ जाने से उनके आसपास का जंगल भी डूब गया और उनकी आजीविका के सभी रास्ते भी डूब गए। वैसे नर्मदा बचाओ आंदोलन द्वारा संचालित जीवनशालाओं के माध्यम से डूब प्रभावितों की संस्कृति को बचाने का लगातार प्रयास किया जा रहा है। लेकिन

समाज का ही एक वर्ग बच्चों को जीवनशाला आने को हतोत्साहित कर रहा है। जबकि यहां अध्ययनरत बच्चों ने पढ़ाई के साथ ही साथ खेलों में भी देशभर में नाम कमाया है। ये बच्चे दौड़, तैराकी एवं साइकल चालन में राष्ट्रीय स्तर पर पहुंचे हैं। आदिवासी इलाकों में चोरी जैसी घटनाएं कभी भी सुनने में नहीं आती थीं। लेकिन अब यह बीमारी इन इलाकों में भी फैलती जा रही है। इसकी वजह शायद यह भी है कि प्राकृतिक संसाधनों तक इनकी पहुंच को सरकार ने भी बाधित करने का प्रयास किया है। अतएव इनकी अपने वन से ली गई वस्तुएं भी कहीं न कहीं चोरी की श्रेणी में आने लगी है।

पहले आदिवासी पूंजीवादी समाज को बाजारिया कहते थे। परिस्थितियों में ऐसा दर्दनाक परिवर्तन आया कि अब वे खुद को बाजारिया बना रहे हैं। समता, सादगी और स्वावलंबन की जीवनप्रणाली ही बदल गई। वहीं दूसरी ओर राजनीतिक दल इन्हें अपने तरीके से बरगला रहे हैं। निमाड़ की 20 साल से सिंचित भूमि को अब नहरों से सीचने की तैयारियां चल रही हैं। वहीं सरदार सरोवर परियोजना पर काम शुरु होने के 30 वर्ष बाद बेकवाटर स्तर कम कर दिया गया और 55 गांवों के 5000 परिवारों को डूब प्रभावित की श्रेणी से बाहर कर दिया गया। लेकिन किसी ने यह नहीं सोचा कि इन लोगों ने अपने पिछले 30 वर्ष कितने तनाव व नैराश्य के वातावरण में बिताए होंगे। हम तो वैसे भी साफ–साफ कहते रहे हैं कि खेती की जमीन दिए बिना पुनर्वास वैध ही नहीं है। बड़गांव की चर्चा करते हुए वे कहती हैं, यहां जमीन देने से पहले उसकी ऊपरी सतह (टापसाइल) निकाल ली गई। अब यह जमीन किस काम की रही? संगठन के डूब क्षेत्रों में प्रवेश के पूर्व, प्रशासन की ओर से फरमान जारी हुआ कि आदिवासी अपने लिए जमीन स्वयं ही ढूंढे। आदिवासी पटेलों के घर रात–रात भर बैठे रहते थे। लेकिन वे लोग इनसे बात तक नहीं करते थे।

नर्मदा बचाओ आंदोलन ने इस क्षेत्र में आने के बाद सरकार को जमीन ढूंढने के लिए कहा। विश्वबैंक का भी यही मत था। सबसे पहले परवेटा में में 400–600 हेक्टेयर जमीन ढूंढी गई। सरकार ने कहा था कि उसके पास 40,000 हेक्टेयर जमीन है। बाद में यह बात झूठी निकली। अंततः निजी जमीनें खरीदना पड़ीं। वह भी सर्वप्रथम महाराष्ट्र में। एक और बात पर गौर करना आवश्यक है। ट्रिब्युनल ने भूमि चयन का मौका देने का आदेश दिया था। महाराष्ट्र में चुनाव का मौका ही नहीं दिया और दूसरी ओर गुजरात तो धमका कर ले आया। बांध के शुरुआती दौर में सन् 1979 में महाराष्ट्र व मध्यप्रदेश दोनों ने ही इसका विरोध किया था। वैसे नर्मदा बचाओ आंदोलन ने तो सन् 1985 में इस इलाके में प्रवेश किया। इसके बाद मणिबेली का जल सत्याग्रह हुआ। तलौदा के जंगल काट दिए गए।

मणिबेली में एक स्थल है शूल पाणिश्वर है। स्कंध पुराण के 44वें अध्याय में इसका जिक्र आता है। इसमें कहा गया है कि यहां लगे शिवलिंग को जो उठाएगा (उखाड़ेगा) वह निर्वंश हो जाएगा। इसीलिए उसे हटाया नही और डुबो दिया गया। यहां पर गायकवाड़ों द्वारा निर्मित भव्य मंदिर भी था। ऐसा ही एक मंदिर हापेश्वर में

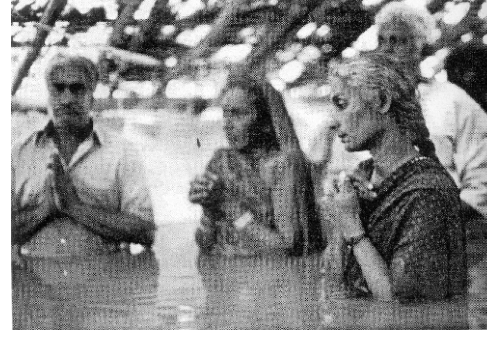
भी था। इन इलाकों में पारिजात, शतावरी, हिरणाबेह, आंवला, सीताफल आदि के असंख्य वृक्ष थे। इसी के साथ बांस के तमाम झुरमुट भी थे। आदिवासियों की सोच पूर्णतया पर्यावरणीय अनुकूल थी लेकिन मुआवजे की नई व्यवस्था ने तो पूरी संरचना ही बदल डाली। इस नई नकद अर्थव्यवस्था का एक और विध्वंसकारी स्वरूप विशेष सहायता पैकेज (एसआरपी) के माध्यम से सामने आया। एसआरपी के मिलते अधिकांश लोगों ने मोटर साइकलें खरीद लीं। कईयों के आपसी रिश्ते समाप्त हो गए। इतना ही नहीं इसी एसआरपी के माध्यम से बड़वानी के 40 दुकानदारों ने मोरटक्का में जमीनें खरीद लीं।

आदिवासियों को न्यायालय में जाकर गवाही देना भी काफी अपमानित करता है। अपने मूल में पंचायती व्यवस्था के पैरोकार ये लोग झूठ बोलना कम ही जानते हैं। शुरुआत में न्यायालय जाने पर वे वकीलों को देखकर पूछते थे, ये काले डगले (कोट) वाले यहां क्यों हैं? नर्मदा पूरे भारत की पहचान है। झारखंड में बड़ी संख्या में महिलाओं के नाम नर्मदा हैं। इस विस्थापन और डूब में आदिवासियों का दृष्यपटल ही बदल दिया है। उनका सांस्कृतिक खजाना लुट गया है। याद रखिए आदिवासियों का सिद्धांत है अच्छे प्रशासन के लिए शांति अनिवार्य है।

क्या हम सब ऐसा संभव कर पाए हैं?



जिला अस्पताल धुले (नवंबर 1993)
पुलिस की मार से घायल विस्थापित



सुश्री मेधा पाटकर एवं साथी
प्रथम जलसत्याग्रह, मणिबेली सन् 1999

परिशिष्ट – 4
कौन तय करेगा इस बलिदान की परिभाषा!

वर्ष 1968 में नर्मदा नदी पर बरगी बाँध के निर्माण की रूपरेखा बनी और 1971 में बाँध बनना प्रारंभ हो गया था। यह वह दौर था जब सरकार और सरकारी विकास योजनाओं के निर्माता बड़े बाँधों को विकास का तीर्थ कहकर निरूपित करते थे। इन बाँधों के कारण विस्थापन और डूब से प्रभावित होने वाले आदिवासियों से कहा गया था कि बड़े विकास के लिये उन्हें जमीन, आजीविका, आवास और सामाजिक ताने–बाने का बलिदान करने में हिचकना नहीं चाहिये ये राष्ट्रहित में हैं। पर क्या यही सच है?

बाँधों और बाँध सरीखी बड़ी विकास परियोजनाओं के विश्लेषण और जांच–पड़ताल की मांग को विकास विरोधी घोषित किया जाता रहा है। आश्चर्य है कि विकास की नीतियां रचने वाले लोग इस दावे पर बहस करने से हिचकिचाते रहे हैं कि बाँध जैसी परियोजनायें विकास का नहीं बल्कि वंचना, गरीबी, भुखमरी और भेदभाव का ताना–बाना गढ़ती हैं। वे जो दावे करके बरगी बाँध के निर्माण में जुटे थे, आज वे उन दावों की सच्चाई और धरातल की वास्तविकता को आमने–सामने रखकर संवाद करने को भी तैयार नहीं दीखते हैं।

जिस वक्त इस बाँध की कार्ययोजना बनाई गई थी, उस वक्त यह कहा गया था कि इस परियोजना के कारण 26729 हेक्टेयर जमीन डूब में आयेगी पन्तु स्वतंत्र न्याय अभिकरण के तहत न्यायाधीश (सेवानिवृत्त) एम. दाउद ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि वर्ष 1992 तक ही 80860 हेक्टेयर जमीन डूब मे आ चुकी थी। अब भी स्थिति यह है कि कई अलग–अलग प्रयोजनों को आधार बनाकर जमीन को डुबोया और दलदली बनाया जा रहा है। हमें इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि नर्मदा की इस पट्टी में उपलब्ध जमीन बेहद उपजाऊ, ऊर्वर और सम्मोहक रही है। इससे यहां के समाज ने न केवल अनाज उगाया है बल्कि समाज को स्थाई विकास के भी कई पाठ पढ़ाये हैं परन्तु बरगी बाँध में 80 हजार हेक्टेयर जमीन डुबा दी गई।

डूब प्रभावित गांव कठौतिया के बुजुर्ग आदिवासी जुगराम बताते हैं कि उनके 80 परिवारों वाले उस गांव, जो अब बरगी जलाशय में डूबा हुआ है, का रकबा 920 एकड़ होता था यानी हर परिवार के पास 11 एकड़ से ज्यादा समतल, उपजाऊ और दो फसली कृषि भूमि हुआ करती थी। तब गांव के लोग 18 तरह के अनाज और दलहन, 9 तरह की सब्जियां और कंद उगाया करते थे। एकाध परिवार ही ऐसा था जिसके पास बहुत थोड़ी जमीन रही हो, उन परिवारों को गांव का समाज संरक्षण और सुरक्षा देता था। अपने अनुभवों को याद करके जुगराम बताते हैं कि जब इस बांध के बनने की बात सुनने में आई तब हम सोचते थे, नर्मदा मैया को कौन बांध सकता है! यदि बांध बनेगा भी तो हमारा गांव और जमीन थोड़े ही डूबेगी इसलिये हमने सरकार के भूमि अधिग्रहण के बाद पहाड़ों पर जाकर बसना शुरू कर दिया और समतल में बसा कठौतिया गांव पहाड़ पर जाकर रच–बस गया। हमारे देखते–देखते बांध बनता गया और जमीनें डूबती गई। उनके मुताबिक बात केवल जमीन की डूब तक ही सीमित नहीं है। जंगल की सम्पदा भी तो तहस–नहस हो गई। उनके गांव के लोग ही लगभग 1500 एकड़ में फैले जंगल से अपनी कई जरूरतें पूरी करते थे। उन जंगलों में आंवला, महुआ, कबीट के पेड़ होते थे। गांव में ही हर खेत पर पलाश के पेड़ होते थे जिनकी पत्तियों से घरों को सजाया जाता था, जानवरों के बाड़ों, छतें बनती थी और नये घर बनाये जाते थे। एक पेड़ हर साल एक हजार रुपये की सामग्री देता था और आज स्थिति यह है कि अपनी छोटी से छोटी जरूरत पूरी करने के लिये हमें बाजार की ओर भागना पड़ता है। डूब से पहले हमारे घर का कोई हिस्सा टूटा–फूटा नहीं होता था, पर अब आपको हर घर एक तरह से जर्जर स्थिति में मिलेगा क्योंकि छप्पर, बांस, बल्ली सब कुछ बाजार से लाना पड़ेगा, जिसे खरीदने के लिये किसी एक घर में भी पैसा नहीं है। एक बार मरम्मत का खर्च होता है 5000 रुपये से ज्यादा वह भी नकद में। बींझा गांव के गोपाल उईके बताते हैं कि हर गांव में औसतन 200 महुआ के पेड़ होते थे, जिनसे खाना, तेल और पेय की जरूरत पूरी होती थी। आज की कीमत के मान से महुआ का एक पेड़ 5000 से 7000 रुपये का उत्पादन देता था। इसी तरह गांव में और आसपास लगभग 150 से 200 आम के पेड़ मौसम में खुश्बू घोलते थे और 7–8 हजार रुपये का उत्पादन भी। एक गांव के डूबने का मतलब है 500 टरमेरिण्ड पेड़ों का खत्म होना और केले, जामुन, नींबू और पपीते के सैकड़ों पेड़ों का डूब जाना। ये व्यवस्था थी उन गांवों की, जिनमें हम रहा करते थे। इनसे पूरी खाद्य सुरक्षा और पोषण सम्बन्धी जरूरतें पूरी हो जाती थीं। इन उत्पादों को मण्डी में बेचकर हर परिवार दस हजार रुपये कमा लेता था; यह आर्थिक सुरक्षा बरगी बांध में डूब गई।

बींझा के मथन सहयार बताते हैं कि खेती की जमीन इतनी उपजाऊ होती थी कि हमारे गांव के किसान बिना रासायनिक ऊर्वरक, खाद और कीटनाशक से बेहतरीन किस्म के गेहूं, ज्वार, धान, मक्का, चना, मसूर और दूसरे अनाजों का उत्पादन करते थे। उस धरती ने एक–एक एकड़ में 13–15 क्विंटल गेहूं और 7 से 8 क्विंटल दलहन की पैदावार दी है। खेती हमारी सुरक्षा का मूल आधार रही है। यहीं से सुखराम उइके के मुताबिक एक एकड़ जमीन 1972 में दो फसलों में 12 हजार रुपये का मुनाफा देती थी और कम

से कम गांव के लोग ने जमीन की उर्वरता का शोषण नहीं किया था इसलिये तय था कि हमें हमेशा धरती से ऐसी ही सम्पन्नता मिलती। खास बात यह है कि नर्मदा पट्टी के किसान एकल अनाज की पद्धति अपनाने के बजाये 9 अनाज, 12 अनाज या 16 अनाज का उत्पादन करते थे, जिससे कीटों या बीमारी या सूखे ने गांवों में आपातकाल नहीं लग पाया। कभी सोचा नहीं था कि हमें बाजार से अपनी जरूरत पूरी करने के लिये किश्तों में, उधारी में और निम्न गुणवत्ता का अनाज खरीदना पड़ेगा क्योंकि आज हमारे पास आजीविका के इतने साधन भी नहीं हैं कि हम एक बार में महीने भर की जरूरत का राशन एक साथ खरीद सकें। एक सामूहिक चर्चा में लोग ''जमीन के बाजार की व्यवस्था'' के बारे में बताते हुए कहते हैं कि हमने ऐसे कम ही मौके देखे–सुने जब जमीनों की बार–बार खरीदी–बिक्री हुई हो। इसीलिये जमीन की कीमतों पर नियंत्रण रहता था। 1980 के दशक के शुरूआती सालों में यहां जमीन की कीमत 5 हजार रुपये एकड़ के आसपास रही पर संकट पैदा तब हुआ जब हजारों हेक्टेयर जमीन को बांध में डुबाने की बात चली।

कोई नहीं जानता कि सरकार को भी इस परियोजना के प्रभावों या कहें कि दुष्प्रभावों के बारे में कुछ अंदाजा था भी या नहीं। मथन सहयार को उनकी 8 एकड़ अनमोल जमीन के एवज में 9408 रुपये यानी 1176 रुपये प्रति एकड़ के मान से मुआवजा दिया गया। जिस एक एकड़ जमीन से वे 10 हजार रुपये हासिल करते थे, उस जमीन के एवज में उन्हें 1176 रुपये देकर हमेशा के लिये अधिग्रहित (क्या हम कहें सरकारी छीनना) कर लिया गया। उनके 36 पेड़ों के लिये कोई मुआवजा नहीं दिया गया। जबकि ये पेड़ पर्यावरण, समाज और आर्थिक सुरक्षा का आधार भी थे। गोपाल उइके को उनकी 18 एकड़ जमीन के एवज में 25300 रुपये का मुआवजा मिला और आज उनके बेटे मजदूरी की तलाश में गांव से साल में 6 महीने पलायन पर रहते हैं। जहां उन्हें एक की मजदूरी के लिये 100 से 125 रुपये मिलते हैं; इसमें भी कोई स्थायित्व नहीं है। गोपाल दादा को पता है कि नेहरू जी ने बड़ी विकास परियोजाओं के लिये बलिदान देने का आह्वान किया था, ऐसे में वे सवाल करते हैं कि हम 35 सालों से हर रोज बलिदान दे रहे हैं पर सरकार ने इस बलिदान के लिये जो वादे किये थे, उन्हें वह कैसे भूल गई? अगर हमें लाश भी मान लिया है तो कम से कम सम्मानजनक ढंग से अंतिम संस्कार तो करने की जिम्मेदारी निभाते!

आदिम जाति एवं अनुसूचित जाति क्षेत्रीय विकास प्राधिकरण (जबलपुर) द्वारा बरगी बांध की डूब से प्रभावित आदिवासी परिवारों के पुर्नस्थापन विषय पर किये गये अध्ययन में लिखा गया है कि बांध से 13 किलोमीटर दूर बसे सहजपुरी गांव में सर्वेक्षित दो परिवारों के पास 10.8 हेक्टेयर भूमि थी, जिसे बांध परियोजना द्वारा अधिग्रहित कर लिया गया। जिसके लिये 21 हजार रुपये मुआवजे के रूप में दिये गये यानी बाजार कीमत से 13 गुना कम कीमत पर। जो बहुत ही कम है। बांध परियोजना द्वारा दी गई राशि से 10.8 हेक्टेयर भूमि क्रय नहीं की जा सकती। इसके फलस्वरूप यह दोनों परिवार जीविकोपार्जन के साधन से वंचित हो गये। जबकि बांध परियोजना द्वारा बाजार कीमत रुपये 25 हजार प्रति हेक्टेयर के मान से मुआवजा राशि रुपये 2.70 लाख रुपये दिया जाना चाहिये था

तभी अधिग्रहित रकबे के बदले उतना ही अलग से रकबा खरीदा जा सकता था। यदि यह स्थिति बांध परियोजना द्वारा अपनाई जाती तो शायद आज यह परिवार जीविकोपार्जन की समस्या से वंचित नहीं रहते।'' इसी तरह जबलपुर जिले के 2000 की जनसंख्या वाले कालीदेही गांव की नई बसाहट के लिये 1986 में बांध परियोजना ने नये स्थान का चयन कर लिया था किन्तु 1992 तक वहां किसी भी परिवार को भूखण्ड आवंटित नहीं किया गया। सरकार जानती थी कि इस गांव के लोगों को दो किलोमीटर दूर से पानी लाकर अपनी जरूरत को पूरा करना होगा। आज यानी वर्ष 2010 में भी बींझा गांव के लोगों को एक किलोमीटर दूर से पानी लाना पड़ता है; वह भी पहाड़ी रास्तों से।

अनीतिगत विकास!

जब बरगी बांध, जिसे अब रानी अवंतीबाई लोधी परियोजना कहा जाता है, बना तब विस्थापन और भूमि अधिग्रहण से प्रभावित परिवारों के पुनर्वास, मुआवजा और आजीविका –आर्थिक सुरक्षा सुनिश्चित करने में सरकार की जवाबदेहिता तय करने के लिये कोई नीति ही नहीं थी। जिस समय 162 गांव के 1.10 लाख से ज्यादा लोगों के जीवन को जड़ों से उखाड़ा जा रहा था तब उन्हें 1000 से 2000 रुपये प्रति एकड़ का मुआवजा देकर केवल यही कहा गया था कि तुम जहां चाहो वहां बस जाओ। यह कभी नहीं बताया गया कि इन विस्थापित गांवों को बसने के लिये, खेती–रोजगार के लिये, बुनियादी सेवाओं के निर्माण के लिये कौन सा इलाका या जमीन का कौन सा हिस्सा तय किया गया है। इन्हें जबरिया घुमंतु और आश्रयविहीन बना दिया गया। हालांकि मध्यप्रदेश सरकार ने 1985 में मध्यप्रदेश प्रायोजित विस्थापित अधिनियम लागू किया, जिसकी प्रस्तावना में कहा गया था कि यह कानून सरकार द्वारा सिंचाई या किसी भी सार्वजनिक हित की परियोजना के लिये विस्थापित किये जाने वाले लोगों के पुनर्वास के मकसद से लागू किया जा रहा है। यह कानून उन लोगों को कुछ राहत जरूर पहुंचा सकता है जिनकी सम्पत्तियाँ और संसाधन अधिग्रहित कर लिये जाते हैं परन्तु विडम्बना यह है कि इस कानून की धारा–10 कहती है कि सरकार को पहले यह अधिसूचित करना होगा कि परियोजना इस कानून के तहत आयेगी; उसी के बाद इस कानून के प्रावधान उस परियोजन पर लागू होंगे। और चूंकि बरगी बांध इसमें अधिसूचित नहीं किया गया इसलिये इस परियोजना के विस्थापितों को इस कानून का कोई संरक्षण नहीं मिला। मसला साफ है कि कानून का बनना, कानून के प्रावधानों को इस तरह से रचा जाना कि सरकार को कोई नुकसान न हो, और कानून को छिपा देना, ये सब राजकीय कौशल के विषय हैं।

पशुधन का विनाश

जंगल और जमीन के साथ ही पशुपालन की संस्कृति का सीधा और गहरा जुड़ाव रहा है। स्वाभाविक है कि नर्मदा रेखा के जो गांव भू–सम्पन्न और वन संपन्न रहे हैं पशुधन सम्पदा से वे भरपूर रहे ही होंगे। सुखराम उइके के मुताबिक डूब से पहले बींझा गांव में

लगभग 2400 मवेशी और पशुधन था; उनके खुद के परिवार में 30 जानवर, जिनमें, गाय, बैल, भैंस शामिल थे, पाले जाते थे। नर्मदा पर निर्भर रहे इस गांव की सम्पन्नता का अनुमान जरा इन अनुभवों से लगाइये कि जब भी नर्मदा परिक्रमावासी बींझा गांव में आते थे तो उनमें से हर एक को अनाज, दाल, आटा, फल, सब्जी के साथ–साथ दो किलो दूध और दो किलो घी व सब्जी दान स्वरूप दिया जाता था। जब तक वे गांव में रहते उन्हें यह दान मिलता रहता और बींझा के निवासी उनसे (परिक्रमावासियों से) निवेदन करते थे कि वे केवल शुद्ध घी से ही हवन करें। सुखराम दादा कहते हैं कि एक दौर वह था जब हम धर्म, पर्यावरण और समाज से अपनी सम्पत्ति साझा करना अपना कर्तव्य समझते थे और अब स्थिति यह है कि घी तो दूर हर रोज की जरूरत के लिये थोड़ा–थोड़ा तेल लाकर अपना काम चलाते हैं। खेती का चक्र ऐसा था कि पशुपालन करना सहज था, चारा आसानी से उपलब्ध था और उनके आवास के लिये जगह भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थी। जमीनें जानें के बाद पशुधन पर गहरा संकट छाने लगा। हमसे बात करते हुये डूब से ही प्रभावित मगरधा पंचायत के खामखेड़ा गांव के रामदीन गंभीर लहजे में बोलते हैं कि आज आप लोगों को हम बिना दूध की चाय पिला रहे हैं परन्तु पहले इस गांव में हमेशा अपने अतिथियों को शुद्ध दूध और उसकी चाय पिलाई है। इस बांध का प्रकोप देखिये कि न अनाज बचा, न खेती है न चारा है, न मवेशी हैं। वे कहते हैं कि अब चारों तरफ पानी ही पानी भरा है, बाड़ी के लिये खुली जमीन बची ही नहीं है और जंगल में केवल सागौन या साल के पेड़ हैं। इससे जानवरों को तो चारा मिलने की कोई संभावना ही नहीं बची थी। हमने अपनी आंखों के सामने एक मवेशी को भूख से दम तोड़ते देखा है। फिर जो परिस्थितियां बनना शुरू हुई उनमें मवेशियों को रखने के बारे में तो कोई सोचता भी नहीं है। इन गांवों में 30 साल पहले जहां 1500, 1800, 2500 मवेशी हुआ करते थे वहां आज 15 मवेशी भी गिन पाना बेहद मुश्किल नजर आता है।

विकास के आंकलन और जनविरोधी नीतियों पर सवाल

इस बांध ने न केवल 80 हजार हेक्टेयर उपजाऊ जमीन को डुबोया है बल्कि विकास की परियोजनाओं के आंकलन पर भी बड़े सवाल खड़े किये हैं। जब 1968 में इस बांध की लागत तय की गई थी तब आंकलन था कि इस पर 64 करोड़ रुपये खर्च होंगे परन्तु 1991 तक इस पर 566.34 करोड़ रुपये खर्च हो चुके थे। इसमें नहरों और सिंचाई की व्यवस्था पर होने वाला खर्च तो शामिल ही नहीं है; जिस पर 1100 करोड़ रुपये अतिरिक्त खर्च होने थे। यह लागत बढ़ना अभी भी बदस्तूर जारी है।

इसी तरह पहले आंकलन किया गया था बरगी बांध से 4.4 लाख हेक्टेयर भूमि की सिंचाई होगी और इस इलाके में खेती की व्यवस्था में जबरदस्त सुधार–विकास होगा। परन्तु सच इतना सुहाना नहीं है। न्यायाधीश (सेवानिवृत्त) एम. दाउद ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि सन् 1993 तक बरगी बांध महज 12100 हेक्टेयर भूमि की ही सिंचाई करने की क्षमता अर्जित कर पाया है। वर्ष 2010 तक में इस परियोजना से 30

हजार हेक्टेयर भू–भाग की ही सिंचाई क्षमता निर्मित की जा सकी है, जिसमें से महज 15000 हेक्टेयर भूमि ही सींची जा पा रही है। बरगी परियोजना के दो मकसद थे – प्राथमिक मकसद था चार लाख हेक्टेयर से ज्यादा जमीन की सिंचाई की क्षमता निर्मित करना और दूसरा मकसद था 105 मेगावाट उर्जा का उत्पादन करना। ये लक्ष्य लोगों के हित में नजर आते हैं परन्तु सिंचाई का लक्ष्य कभी पूरा नहीं हो पायेगा यह तय है।

इसी लक्ष्य के लिये बड़े बांधों को तीर्थ और विस्थापन के नाम पर होने वाले जनसंहार को विकास के लिये बलिदान कहकर परिभाषित किया गया है। अब सरकार का चरित्र बदल रहा है। बांध बन जाने के बाद भी यह संभावना रहती है कि सरकार एक समय पर बरगी जलाशय के जलस्तर को 418 मीटर के स्तर तक खाली कर दे। इस कदम से साढ़े तीन हजार परिवारों को 6 महीने के लिये लगभग 8 हजार एकड़ जमीन खाली मिल जाती है जिस पर वे डूब की खेती कर सकते हैं। बरगी बांध विस्थापित एवं पुनर्वास संघ ने विस्थापितों के साथ मिलकर इस मुद्दे पर संघर्ष किया और सरकार को समझाने की कोशिश की कि साल में 5–6 माह 4 मीटर बांध खाली करने से हजारों किसान–आदिवासी परिवारों को आजीविका–खाद्य सुरक्षा का एक साधन मिल जायेगा। एक लम्बी संघर्ष–संवाद की प्रक्रिया के बाद 21 मई 1999 को सरकार ने नीतिगत निर्णय लेते हुये आदेश निकाला कि हर वर्ष 15 दिसम्बर तक बांध के जल स्तर को 418 मीटर तक कम करके रखा जायेगा ताकि लोग डूब की खेती कर सकें। लेकिन इस क्षेत्र के उन प्रभावशाली जनप्रतिनिधियों और भू स्वामियों को यह नीति रास नहीं आई जो इन आदिवासियों को सस्ते श्रमिक के रूप में अपने नियंत्रण में बनाये रखना चाहते थे। साथ ही राजनीतिज्ञों को लगा कि संगठन के संघर्ष से इस तरह की नीति बनने से उनका राजनैतिक प्रभाव कम होगा और संगठन की स्वीकार्यता बढ़ेगी। परिणामस्वरूप इन ताकतों ने सरकार पर इस नीति को खत्म करने के लिये जबरदस्त दबाव बनाना शुरू कर दिया। अगले डेढ़ वर्षों में ही बांध खाली करने की व्यवस्था हटा ली गई। डूब की खेती के लिये बांध का जल स्तर 418 मीटर तक करने की नीति तो रद्द हो गई परन्तु डूब की जमीन पर खेती करने के लिये पट्टा देने की सिंचाई विभाग की व्यवस्था आज 10 साल बाद भी बदस्तूर जारी है। सिंचाई विभाग प्रति एकड़ 100 रुपये प्रतिवर्ष के मान से पट्टा राशि उन परिवारों से वसूल करता है। परन्तु अब बांध खाली नहीं होता है।

अब लगता है कि यह बांध कम से कम विस्थापित परिवारों के लिये खाली नहीं किया जायेगा। यह तय है क्योंकि सरकार ने बरगी जलाशय से उद्योगों और उर्जा संयत्रों को पानी की आपूर्ति करने का निर्णय कर लिया है। बरगी जलाशय के पानी के औद्योगिक. ीकरण की शुरूआत हो चुकी है। मध्यप्रदेश सरकार ने मेसर्स झाबुआ पॉवर लिमिटेड नामक कम्पनी को बिजली उत्पादन के लिए 2.30 करोड़ घनमीटर पानी हर साल देने के आद. ेश जारी कर दिये हैं। इसके साथ ही मण्डला जिले के चुटका में स्थापित होने वाले परमाणु उर्जा संयत्र के लिये बहुत बड़ी मात्रा में लगातार पानी की जरूरत होगी; जिसकी आपूर्ति भी बरगी जलाशय से ही किये जाने की व्यवस्था की जा रही है। इन जरूरतों को पूरा करने के लिये स्वाभाविक है कि विस्थापितों के लिये अब बांध का पानी छोड़ा

नहीं जायेगा बल्कि उसे ज्यादा सुरक्षित और ऊंचे स्तर तक संग्रहित रखने की कोशिशें की जायेंगी। जिसकी शुरूआत हो चुकी है।

क्या खेती को भी लाभ मिला?

इस बड़ी परियोजना से मिलने वाले फायदों का आंकलन अब बिल्कुल गलत साबित होता दिखाई दे रहा है। यह माना गया था कि बरगी परियोजना से 4.4 लाख हेक्टेयर जमीन की सिंचाई होगी जिससे क्षेत्र के अनाज उत्पादन में 10 लाख टन की बढ़ोत्तरी होगी परन्तु सच यह है कि 80 हजार हेक्टेयर जमीन को डुबाकर बनाये गये इस बांध से महज 15 से 20 हजार हेक्टेयर जमीन की ही सिंचाई हो पा रही है और यहां अनाज का उत्पादन बढ़ने के बजाये कम होता दिखाई दे रहा है। सगड़ा झपनी गांव के पास से ही बरगी जलाशय की बड़ी नहर गुजर रही है। तकनीकी खामियों के चलते इस नहर से पानी का रिसाव शुरू हो गया और जिन गांवों को इससे सिंचाई का लाभ मिलना था वहां नहर के रिसाव के कारण खेतों में दलदलीकरण शुरू हो गया है। बिजौरा गांव से विस्थापित होकर कल्लू सिंह पटेल ने सगड़ा झपनी में साढ़े सात एकड़ जमीन खरीदी थी। वर्ष 2005 में यह नहर बनी और वर्ष 2008 में यहां से पानी गुजरना शुरू हुआ। तभी से यहां से रिसाव शुरू हो गया। इस गांव में 18 किसानों की 165 एकड़ से ज्यादा जमीन बरगी की नहर के रिसाव से दलदली हो रही है। जब से यह समस्या शुरू हुई थी तभी प्रशासन को इसके बारे में शिकायत की गई। सर्वे शुरू हुआ और माना गया कि किसानों को इसके कारण भारी नुकसान हो रहा है। बड़ी जद्दोजहद के बाद फसल नुकसान का क्षतिपूर्ति मुआवजे के प्रकरण राजस्व विभाग ने बनाये; परन्तु बाद में इन प्रकरणों पर कार्रवाही रोक दी गई क्योंकि नियमों में तो यह कहीं उल्लेख ही नहीं है कि नहर के रिसाव के कारण फसलों को होने वाले नुकसान का मुआवजा दिया जायेगा? और यदि दिया भी जायेगा तो कितना मुआवजा दिया जायेगा। दो सालों में सगड़ा झपनी गांव के लोग 30 शिकायतें कर चुके हैं। फसलें बोते है पर हर बार बर्बाद हो जाती है। विभाग भी कहता है कि इसमें कुछ नहीं हो सकता है यह तो तकनीकी खामी है जिसे अब ठीक भी नहीं किया जा सकता है। जरा गौर करें यह नहर लगभग 245 किलोमीटर दूर तक जाने वाली है और लगभग 69 गांवों से होकर गुजरेगी।

दिलीप पटेल की जमीन गागंदा में डूब के इलाके में थी और मुआवजा मिलने के बाद उन्होंने 20 एकड़ जमीन खुरसीगांव में खरीदी। सोचा था कि जिन्दगी को फिर से व्यवस्थित करेंगे परन्तु जब वर्ष 2002 में बरगी की मुख्य नहर का काम शुरू हुआ तो उनकी खुरसी की जमीन भी अधिग्रहित की जाने लगी। उन्हें संघर्ष करना पड़ा, तब भी 4.55 एकड़ जमीन नहर के नाम हो ही गई। व्यवस्था की क्रूरता देखिये कि उनकी जमीन तो अधिग्रहित हो गई पर मुआवजे के प्रकरण वाली फाईल ही नर्मदाघाटी विकास प्राधिकरण के दफ्तर से गुम हो गई और दिलीप पटेल से बोला गया कि तुम्हारी कोई जमीन ली ही नहीं गई है। लम्बी प्रक्रिया के बाद उनकी नई फाईल बनाई गई। अंततः उन्हें 2008 में मुआवजे के लिये उच्च न्यायालय जाना पड़ा जहां न्यायालय ने 3 माह में

उनके मुआवजे के भुगतान के आदेश दिये। 6 माह गुजर चुके हैं, आदेश के अमल का इंतजार है। जिस जमीन की बाजार की कीमत 20 लाख रुपये है उसका सरकार ने 3 लाख रुपये मुआवजा तय किया है। यह तो दिलीप की कहानी का एक ही पक्ष है। दूसरा पक्ष यह है कि उनकी शेष बची 8 एकड़ जमीन पर नहर के रिसाव से आ रहा पानी भर रहा है। यानी जिन्दगी की पूरी जमा पूंजी और संभावनायें डुबोती हैं ये बड़ी परियोजनायें!!

जबलपुर संभाग के आयुक्त ने अपनी एक रिपोर्ट में लिखा– इस परियोजना के बारे में लगता है कि एक घोड़े के सामने घोड़ागाड़ी खड़ी कर दी गई है। इस तरह की परियोजनाओं में बेहद सक्षम और परिपक्व नियोजन की बेहद जरूरत होती है, उसी के आधार पर कार्ययोजना का ऐसा क्रियान्वयन होना चाहिये जिनमें बिल्कुल सही–सटीक जानकारियों का उल्लेख हो; इसमें सामाजिक–सांस्कृतिक, पर्यावरणीय, आर्थिक और अन्य पहलुओं से जुड़ी बातें शामिल हों। परियोजना के शुरू होने से पहले विस्थापित प्रभावित होने वाले हर व्यक्ति के सही और बेहतरीन पुनर्वास की योजना तैयार होना चाहिये। मौजूदा (बरगी परियोजना) मामले में बांध का काम लगभग पूरा हो चुका है और इस साल यह अधिकतम जल स्तर तक भरे जाने की संभावना है परन्तु पुनर्वास की योजना के बारे में सोचना अब शुरू किया जा रहा है यह घोड़े के सामने गाड़ी खड़ी करने का स्पष्ट उदाहरण है। जिन लोगों को उनकी जमीन और घरों से उजाड़ा जा रहा है, उनका पुनर्वास एक बेहद ही संवेदनशील मामला है और इस काम में पर्याप्त समझ और प्रतिबद्धता की बेहद जरूरत होती है। ऐसे परिवारों के पुनर्वास के लिये प्रभावितों के सामाजिक, सांस्कृतिक ताने–बाने, अर्थव्यवस्था के ढांचे उनकी सांस्कृतिक मान्यतायें और उनकी मनौवैज्ञानिक स्थिति के साथ–साथ पुनर्वास के हर पहलू का गंभीरता के साथ संज्ञान लिया जाना जरूरी है।'' भारत सरकार के गृह मंत्रालय ने अपनी एक रिपोर्ट में लिखा कि ''आदिवासियों के पुनर्वास के संदर्भ में उन्हें आजीविका के लिये जमीन के विकल्प से बेहतर कुछ भी नहीं है। यदि ऐसा होता है कि आदिवासी परिवार की जितनी जमीन परियोजना के कारण अधिग्रहित की गई है उतनी मात्रा में न भी दी जा सके तब भी यह तो सुनिश्चित किया ही जाना चाहिये कि उन्हें कुछ जमीन दी जाये ताकि ये परिवार अपने पारम्परिक आजीविका के साधन से उजाड़े न जायें।''

और फिर टूटता गया विश्वास

कठौतिया के पंच विजय सिंह आदिवासी कहते हैं कि किसको किस हिसाब से कितना मुआवजा मिला, यह कभी भी सरकार ने नहीं बताया। बरगी बांध विस्थापित और पुनर्वास संघ के राजकुमार सिन्हा बताते हैं कि 1984 में बीजासेन गांव में एक बैठक के दौरान एक विस्थापन से प्रभावित आदिवासी ने तत्कालीन भू–अर्जन अधिकारी से पूछ लिया था कि साब हमें कितना–कितना और किस हिसाब से मुआवजा मिल रहा है? इस सवाल के जवाब में भू–अर्जन अधिकार ने भरी सभा में उस आदिवासी को जोरदार थप्पड़ मारा था। उस सभा के बाद दूर–दूर के गांवों में भी कई सालों तक किसी विस्थापित ने कोई सवाल सरकार या सरकार के नुमाइंदों से नहीं पूछा। जबकि कठोतिया के 75 वर्षीय

रंगलाल आदिवासी कहते हैं कि मुआवजा कम था या ज्यादा, उस वक्त समझ में नहीं आया, बाद में पता चला। हम तो सरकार पर विश्वास करते थे। कभी नहीं सोचा कि अपनी सरकार और अपने कलेक्टर झूठ बोलेंगे और धोखा देंगे। हमसे हर अफसर यही कहता था कि अभी मुआवजा ले लो बाद में सबको 5–5 एकड़ जमीन और परिवार के एक सदस्य को सरकारी नौकरी मिलेगी। किसी भी गांव में किसी भी व्यक्ति (जिसके सामने विस्थापन–मुआवजे की प्रक्रिया चली है) बात करने पर यह तथ्य बार–बार उभरकर आता है कि सरकार के नुमाइंदों ने उनको जमीन और नौकरी देने का वायदा किया था। गांवों के बुजुर्गों से जब उनके बच्चे यह सवाल पूछते हैं कि तुमने जमीन क्यों दी? तो बुजुर्ग यही जवाब देते हैं कि हमें तो बहुत कुछ देने का वायदा सरकार ने किया था हमारे साथ तो धोखा हुआ है। और इस तरह विस्थापितों की नई पीढ़ी के मन में भी सरकार और उसकी व्यवस्था के प्रति अविश्वास ही है।

यह माना जाने लगा है कि बड़े–बड़े ढांचों को रचने वाले विकास के रथ के पहिये के नीचे कई आदिवासी और गांव वाले कुचले जायेंगे। वो मरेंगे नहीं बल्कि जिंदा रहेंगे। सरकार ऐसा ही विकास आगे बढ़ाती जायेगी। उसकी नीति है बेदखल और विस्थापित करते जाओ पर उनका पुनर्वास मत करो। इस बांध को विकास का तीर्थ कहा जाता है पर इस तीर्थ को झूठ का तीर्थ कहना चाहिये यहां शैतान; का वास है और सरकार दूसरी पूजा करती है। बढ़ैयाखेड़ा के 75 वर्षीय दसरू आदिवासी कहते हैं कि ''यह विकास सरकार का गुलाम बनाता है और समाज–गांव की आत्मनिर्भरता को खत्म करता है। हमारे गांव पूरी तरह आत्मनिर्भर थे। हम सरकार के पास केवल नमक लेने जाते थे इसके अलावा सरकार से और कोई उम्मीद नहीं करते थे पर इस बांध ने अब पूरा गुलाम बना दिया।'' बींझा के गोपाल उइके मानते हैं कि ''नकद मुआवजा एक षडयंत्र है। नकद मुआवजा कितना ही मिले यह सरकार, माफियाओं और बाजार के पास चला जाता है। षडयंत्र रचकर वे हमसे इसे छीन लेते हैं। नकद मुआवजे को पुनर्वास नहीं माना जा सकता है; फिर भले ही यह कितने ही लाख क्यों न हो! यदि जमीन और जंगल हमारे पास नहीं हैं तो व्यक्ति और समाज दोनों की आत्मनिर्भरता खत्म हो जाती है। ये सरकार कौन से विकास की बात करती है जिसमें लोग उजड़ते हैं, भूख पैदा होती है और हकों की आवाज को कुचला जाता है।''

मुआवजे और पुर्नवास के मायने

ध्यान रखिये कि बरगी बांध से सिंचाई होना थी, 10 लाख टन अनाज का उत्पादन बढ़ना था और बिजली पैदा होना थी। मगर इन 1.10 लाख लोगों के लिए पैदा हुआ अंधेरा और भूख। बढ़ैयाखेड़ा के रघु मांझी बताते हैं कि महाशिवरात्रि पर हम शिव जी को अपने खेत की गेहूं की बाली चढ़ाते थे और आज की स्थिति में दूसरे गांव से मांग कर लाते हैं और चढ़ाते हैं। इस गांव का रकबा 1600 एकड़ का होता था; सब कुछ था पर अब.....? अब हम महीने के पहले शनिवार का बेसब्री से इंतजार करते हैं। यही वह दिन है जब हम अपना गरीबी की रेखा का कार्ड लेकर 10 किलोमीटर दूर नर्मदा का बरगी जलाशय

पार करके 20 किलो सस्ता राशन (गेहूं–चावल) लेने जाते हैं औार सोचते हैं कि इसको कैसे पकायें कि यह महीने भर चल सके। विकास के इस पैमाने का जिक्र बरगी के परियोजना दस्तावेज में तो नहीं था।

बांध के डूब से प्रभावित एवं विस्थापित पशुओं और परिवारों का आर्थिक एवं सामाजिक सर्वेक्षण प्रतिवेदन डॉ. एस. के. श्रीवास्तव (डिप्टी संभागीय उपायुक्त आदिवासी विकास जबलपुर) के अध्ययन के मुताबिक 15 गांवों के 124 परिवारों को 2395 पेड़ों का मुआवजा ही नहीं मिला। इस इलाके की 33 बसाहटों में से 170 ग्रामों में बसाहटें रहने के उपयुक्त नहीं हैं डूब आती है, रोजगार के साधन नहीं हैं, आने–जाने के साधन नहीं हैं और आस–पास जमीन नहीं है।

यह साफ है कि समुदाय की अपेक्षाओं का पुनर्वास के दौरान कोई सम्मान नहीं किया गया। जिन 1804 परिवारों से शोधकर्ताओं ने जानकारी इकट्ठा की उनमें 1240 खेती ही करना चाहते हैं पर उन्हें मजदूरी के काम में धकेल दिया गया।

बांध से विस्थापन के बाद गांवों में मूलभूत सुविधाओं की स्थिति औार ज्यादा बिगड़ी है। 58 गांवों के सर्वेक्षण से पता चला कि जहां डूब से पहले चार गांवों में सड़क–गलियों की सुविधा नहीं थी पर अब 19 गांवों में से ये सुविधायें गायब हैं, 2 गांवों में पीने के पानी का संकट था जो अब 11 गांवों में फैल चुका है, चार गांवों में श्मशान घाट नहीं था अब 13 गांवों में अंतिम संस्कार की सुविधा नहीं है निस्तार की सुविधायें 5 गांवों में नहीं थी पर अब 18 गांवों में निस्तार की सुविधायें नदारद हैं। इस अध्ययन से यह भी पता चला है कि विस्थापन से प्रभावित परिवारों के मुख्य आजीविका के साधन 10 प्रतिशत तक और अन्य व्यावसायिक साधन 50 प्रतिशत तक प्रभावित हुए हैं। मण्डला के बीजाडांडी विकासखण्ड के 888 परिवारों का सर्वेक्षण हुआ उनमें से 590 परिवार खेती और 72 परिवार पशुपालन का ही काम करते रहना चाहते हैं। वे अपना मुख्य पेशा बदलना ही नहीं चाहते।

सिवनी के घंसौर विकासखण्ड में डूब के पहले कई स्थानों पर डिस्पेंसरी थी पर बाद में केवल 9 डिस्पेंसरी बची और स्वास्थ्य उपचार केन्द्रों के बीच औसत दूरी 30–35 किलोमीटर है। उपायुक्त (आदिवासी विकास) की रिपोर्ट के मुताबिक इतनी बड़ी फैली हुई जनसंख्या के बीच केवल 5 स्वास्थ्य केन्द्र होना पर्याप्त नहीं है। जबलपुर विकासखण्ड में विस्थापन के पहले जहां लोगों का मुख्य व्यवसाय खेती था। बाद में वे मुख्य रूप से मजदूर हो गये। सरकार ने जिन 1219 परिवारों का अध्ययन किया, उनमें से 937 परिवार खेती करते थे और केवल 186 परिवार मजदूरी का काम करते थे परन्तु डूब के बाद 817 परिवार अब मजदूर हो गये हैं। केवल 138 परिवारों के पास ही खेती रह गई है। केवल 5 गांवों के अध्ययन से पता चला कि वहां के 23 परिवारों को 996 वृक्षों का मुआवजा ही नहीं दिया गया। जब 658 परिवारों से पूछा गया कि वे कौन सा आजीविका का साधन चाहते हैं तो 513 ने खेती करने की इच्छा जताई। तीन जिलों के 5 विकासखण्डों में किया गया अध्ययन बताता है कि 75 फीसदी विस्थापित या बांध प्रभावित परिवार आजीविका के मुख्य स्रोत के रूप में खेती ही करना चाहते थे और करना चाहते हैं परन्तु जब वर्ष 2002 में राज्य की पुनर्वास नीति बनी तब यह स्पष्ट हो गया कि जमीन के बदले

जमीन पुनर्वास के तहत नहीं मिलेगी। इस नीति के तहत दर्ज पुनर्वास के सिद्धान्तों में लिखा है कि ''भू स्वामियों एवं पट्टाधारियों को यथा संभव निश्चित समय सीमा में मुआवजा भुगतान किया जायेगा। शासन की निर्धारित नीतियों के अंतर्गत पात्रता के अनुसार, उनकी भूमि आवंटन करने पर यथा संभव विचार किया जायेगा। पुनर्वास नीति के मुताबिक अतिक्रामकों को किसी भी भूमि आवंटन की पात्रता नहीं होगी। इस नीति में जहां भी आजीविका, मछलीपालन या जमीन आवंटन के बारे में नियम बनाने की बात हुई वहां ''यथासंभव'' शब्द जोड़ दिया गया है ताकि उसका क्रियान्वयन संभव न हो सके।

बांधों में डूबी गांवों की पहचान

बरगी बांध के कारण 1972 से 1980 के बीच विस्थापित हुये गांवों के परिवारों के लिये रोजगार गारण्टी कानून अब तक मूर्त रूप नहीं ले पाया है। तीन पंचायतों के 11 गांवों के लोगों को जरूरत के बावजूद पिछले दो वर्षों में मनरेगा के तहत रोजगार का अधिकार नहीं मिला है; जबकि हकीकत यह है कि बरगी बांध के जलाशय के कारण एक समय खुशहाल और सुरक्षित आजीविका का जीवन जीने वाले इस समाज के सामने आया और आजीविका के साधन बेहद असुरक्षित और अनियमित हो गये हैं। क्या आज की स्थिति की किसी को कल्पना थी? इस सवाल के जवाब में बढ़ैयाखेड़ा के शोभेलाल कहते हैं – बिल्कुल नहीं। पहले तो उम्मीद नहीं थी कि बांध का प्रभाव इतना विकराल होगा और लगता था कि थोड़ा बहुत पानी भरेगा, बाकी तो जमीन बच ही जायेगी। बींझा हो या फिर मगरधा या फिर कठौतिया; हर गांव अपने पुराने ठिकाने के एकाध किलोमीटर दूर किसी ऊंचे स्थान पर जाकर बस गया। बरगी के इलाके खासतौर पर जलाशय से प्रभावित गांवों को यह अंदाजा नहीं था कि डूब इतना बड़ा आकार लेगी इसलिये उन्होंने बहुत दूर जाकर बसने के किसी विकल्प पर विचार ही नहीं किया और आस–पास ही पुराने गांव के नाम से ही बसते चले गये। उन्होंने अपने गांव का नाम नहीं बदला; और यहीं से एक बड़ी विसंगति पैदा हो गई। जो गांव डूब रहे थे, उनमें मुआवजा बांटने के बाद राजस्व और वन विभाग ने अपने रिकार्ड से हटा दिया। ये विभाग किसी भी गांव की जमीन, प्राकृतिक संसाधनों और सामुदायिक उपयोग, वनों की स्थिति या जमीन पर अतिक्रमण से सम्बन्धित दस्तावेज, जानकारियां और रिकार्ड बनाते और उनका रख–रखाव करते हैं। जबलपुर जिले के 11 गांव (जिसमें कठोतिया, गागंदा, मिर्की, कठोतिया, मगरधा, बढैयाखेड़ा, बींझा, खामखेड़ा, घुल्लापाट, खमरिया और हरदुली शामिल हैं) विस्थापित होकर अपने पुराने नाम से ही फिर से बस गये पर रिकार्ड से उनकी पहचान मिट गईं। इन गांवों में से किसी के पास भी कोई जमीन नहीं है और भू–स्वामी से भूमिहीन होने तक की यात्रा ने उन्हें अब थका दिया है।

जिस समय यानी 1970 के दशक में इस बांध के निर्माण के लिये सरकार किसानों से जमीन का अधिग्रहण कर रही थी उस वक्त कोई पुनर्वास नीति और व्यवस्था लागू नहीं थी। जिन गांवों के परिवारों की जमीन अधिग्रहीत की जा रही थी, उन्हें 800 से 2000 रुपये अधिकतम राशि का मुआवजा प्रति एकड़ जमीन के एवज में दिया गया, और

गांव खाली करने के निर्देश दे दिये गये। सरकार ने उस वक्त यह कोई व्यवस्था तय नहीं की थी कि विस्थापन से प्रभावित यह परिवार कहां अपने आवास रहवास और आजीविका की व्यवस्था बनायेंगे। इसके परिणामस्वरूप अपनी जमीन और गांव डूब में आने पर ज्यादातर गांव अपने पहले के स्थान से ऊपरी इलाकों और पहाड़ी सतहों पर बसते गये। उन्होंने अपने गांवों के नाम भी नहीं बदले और स्वरूप भी। बींझा गांव का इलाका जब डूबा तो वह एक किलोमीटर दूर पहाड़ी के ऊपरी स्थान पर जाकर बस गया। परन्तु विसंगति देखिये कि सरकार ने बींझा गांव को वीरान गांव मान लिया क्योंकि वह डूब प्रभावित था और उसके लोगों को मुआवजा दे दिया गया था। यह जांचने की कभी कोई कोशिश नहीं की गई। वह गांव आज भी जिन्द है, वहां 85 परिवार रहते हैं पर सरकार उसे राजस्व वीरान गांव मानती है। वहां स्कूल है, आंगनबाड़ी है, पंचायत है, पंचायत के चुनाव होते हैं पर इसका राजस्व के रिकार्ड में कोई स्थान नहीं है। इस गांव के नक्शे, नजरी, खसरा–खतौनी कुछ नहीं बनाये गये हैं जिसका सीधा परिणाम गांव के विकास की संभावनाओं पर पड़ा क्योंकि राजस्व के इन रिकार्डों के अभाव में यहां विकास की कोई योजना ही नहीं बन पाई।

बींझा गांव के बुजुर्ग गोपाल उइके बताते हैं कि पुराने बींझा गांव में हर परिवार के पास 25 से 30 एकड़ जमीन होती थी, 27 तरह की फसलें (अनाज, तिल, दालें, सब्जियां आदि) होते थे। कभी भी दूध, घी, मलाई, अनाज खरीदने के लिये बींझा का निवासी बाजार नहीं गया क्योंकि हर परिवार के पास 20 से 30 मवेशी होते थे। उस गांव से नर्मदा परिक्रमा का रास्ता होकर जाता था और हर परिक्रमावासी को दो–दो किलो घी, आटा, दालें, सब्जियां देते थे और उन्हें कहते थे कि जब तक बींझा गांव में हो शुद्ध घी का ही हवन करना। गोपाल भाई कहते हैं कि अब स्थितियां बदल गई हैं। हमारे पास दान देने के लिये तो दूर, खुद के खाने के लिये भी कुछ नहीं है। लम्बी जद्दो–जहद के बाद वन अधिकार कानून के तहत 30 साल बाद डेढ़–डेढ़ एकड़ जमीन मिली है, पर उसका करेंगे क्या– समझ ही नहीं पा रहे हैं। वे कहते हैं कि मुझे 18 एकड़ उपजाऊ नरम और जिन्दा जमीन के एवज में 25300 रुपये का मुआवजा मिला था; पर वह ठौर–ठिकाना खोजने में ही खर्च हो गया। गांव के ये लोग जो कभी मालिक हुआ करते थे उन्हें तो अब मजदूरी भी मुश्किल से मिलती है।

गांव के लोग बताते हैं कि चूंकि खेती खत्म हो गई, पास में ही जलाशय और दूसरी तरफ ऐसा जंगल है जिसमें जानवरों, मवेशियों के लिये चरने के लिये कुछ नहीं है तो हमने एक–एक करके मवेशियों को दम तोड़ते अपनी आंखों से देखा है। हर मवेशी भूख से मरा। सुखराम उइके बताते हैं कि उनके पास 32 मवेशी थे पर एक–एक करके सब मर गये और एक भी मवेशी हाथ में नहीं है।

और मछली भी छिन गई!

बदली हुई परिस्थितियों में मछली पकड़ना इनका आजीविका का मुख्य साधन बन गया। 1990 के दशक में सरकार ने विस्थापितों को ही बरगी जलाशय से मछली पकड़ने और

आजीविका चलाने का अधिकार दिया था परन्तु 1996 में उनसे यह हक भी छीन लिया गया और ठेकेदारी प्रथा शुरू कर दी गई। विस्थापितों की मछली पालन सहकारी समितियों ने एक–एक साल में इस जलाशय से औसतन 400 टन मछली का उत्पादन किया, एक बार तो इन लोगों ने 536 टन का रिकार्ड मछली उत्पादन किया था। जिससे उन्हें एक हद तक जीवन चलाने का आधार मिला था। परन्तु सरकार (मछली ठेकेदारों का प्रतिनिधि बनकर) ने यह सवाल खड़ा किया कि बरगी जलाशय से तो 1000 टन मछली पकड़ी जा सकती है; विस्थापित लोग पूरी क्षमता का दोहन नहीं कर पा रहे हैं। बस इसी तर्क को आधार बनाकर उनसे हक छीनकर सन् 2001 के बाद ठेकेदारों को दे दिया गया। सच्चाई यह है कि पिछले 14 वर्षों में तीन ठेकेदारों में से एक भी ठेकेदार उतनी मछली का उत्पादन नहीं कर पाया जितनी उत्पादन गांव के लोग सीमित साधनों में करते थे। उनका उत्पादन अधिकतम 300 टन रहा है। यदि औसत उत्पादन पर निगाह डाले तो यह मात्र 200 टन के आसपास बैठेगा।

आजीविका के संकट को राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग ने वर्ष 1996 में अपनी जांच रिपोर्ट में गंभीरता के साथ चित्रित करते हुये स्पष्ट किया था कि बरगी बांध के क्षेत्र में आजीविका के पारम्परिक अधिकार का हनन् तो हुआ ही है; इसके साथ ही मौलिक मानव अधिकारों की स्थितियां भी बदतर ही हैं। यह बार–बार उभरकर आया कि बांध के कारण खेती की जमीन का अभाव पैदा हुआ और प्राकृतिक संसाधन आधारित आजीविका के साधन व्यापक स्तर पर छीने गये। सरकार की जिम्मेदारी थी कि वह सम्मानजनक और पर्याप्त पुर्नवास की सोच को लागू करती; पर ऐसा हुआ नहीं। बांध के कारण विस्थापित होने वाले परिवारों ने इन परिस्थितियों में मांग की कि बरगी जलाशय में मछली पालन और उत्पादन का अधिकार बरगी बांध विस्थापित मत्स्य सहकारी संघ को कम से कम 10 वर्षों के लिये दिये जायें। वर्ष 1994 में मध्यप्रदेश सरकार ने 5 साल के लिये विस्थापित मत्स्य संघ को मछली पकड़ने के अधिकार दिये थे किन्तु मछली उद्योग में रुचि रखने वाले प्रभावशाली समूहों के दखल के चलते सहकारिता विभाग ने इस संघ को शिकायतों और जांच की प्रक्रिया से कमजोर करना शुरू कर दिया। अंततः यह तक कर दिया गया कि राज्य मत्स्य संघ इस जलाशय पर अपने अधिकार रखेगा और जलाशय ठेके पर देकर मछली उत्पादन कराने का निर्णय ले लिया। आज भी इस क्षेत्र में विस्थापित मत्स्य संघों की 50 से ज्यादा समितियां बनी हुई हैं पर उनके सदस्य यानी विस्थापन से प्रभावित लोग ठेकेदारों के लिये मछली मजदूर के रूप में काम करने के लिये मजबूर हैं।

अगस्त 1994 में बरगी बांध विस्थापित मत्स्य उत्पादन एवं विपणन सहकारी संघ मर्यादित के तहत 2000 विस्थापित व्यक्तियों की सदस्यता वाली 54 सहकारी समितियों ने जब काम संभाला तो उन्होंने सालाना 406 से 582 टन मछली का उत्पादन चार सालों तक किया। इस कुल उत्पादन में से 80 फीसदी हिस्से पर सरकार को हर साल लगभग 20 लाख रुपये की रॉयल्टी भी दी गई।

1994 से 1997 की समयावधि में एक परिवार मछली पालन से सालाना लगभग 6600 रुपये की आय अर्जित करने के साथ–साथ अपनी रोजमर्रा की जरूरत के लिये पर्याप्त

मछली भी हासिल करता था। जो की उनकी पोषण सम्बन्धी जरूरतों को पूरा करने का बड़ा स्रोत थी। बींझा गांव के संतोष धुर्वे बताते हैं कि आज हम ठेकेदारों के लिये ही मछली पकड़ते हैं। इसके लिये हमें 20 रुपये किलो का भाव मिलता है परन्तु वही मछली बाजार में 65 से 100 रुपये किलो में बेची जाती है और मछली पकड़ने के लिये जल, बोट सहित सभी लागत वाली व्यवस्थाएं गांव के लोगों को ही करना पड़ती हैं। इस काम में कोई निश्चितता भी नहीं है। अब तो स्थिति यह है कि कभी–कभी 10 दिन तक भी काम की मछलियां नहीं मिलती हैं क्योंकि जलाशय में बीजों (छोटी मछलियां) का रख–रखाव ही ठीक ढंग से नहीं हो रहा है। बड़ैयाखेड़ा के बुजुर्ग दसरू आदिवासी बताते हैं कि खेती और मछली पकड़ने के दोनों साधन हाथ से चले जाने के बाद हमारे पास भूख मिटाने का कोई रास्ता बचता नहीं है। दसरू के लड़के, बहू और पाते–पोतियां सब कोई मजदूरी की तलाश में जबलपुर पलायन करके जाते हैं।

इस जलाशय में जो व्यवस्थाएं मछलीपालन के लिये होनी चाहिये थी वे कभी हो नहीं पाई। बरगी बांध के जलाशय में अब भी बड़े क्षेत्रफल में पानी के भीतर पेड़ो के ठूंठ हैं और वहां तक जाल नहीं बिछाये जा सकते हैं। यदि कोशिश की जाती है तो जाल फंस जाते हैं और कटकर बेकार हो जाते हैं। जाल के कटने का यह नुकसान बहुत भारी पड़ता है क्योंकि कोई भी मछुआरा 20 किलो के जाल का उपयोग करते हैं। जाल की कीमत कम से कम 400 रुपये प्रतिकिलो पड़ता है। जितना वे कमाते नहीं हैं उतना नुकसान करना पड़ता है।

सेहत भी बिगडती गई!

खेती और प्राकृतिक संसाधन आधारित आजीविका की व्यवस्था टूटने से प्रभावित समुदाय के पोषण स्तर पर गहरा प्रभाव पड़ा। और इससे स्वास्थ्य की समस्याओं में बहुत बढ़ोतरी हुई. लोग पारंपरिक रूप से बीमारियों के लिए घरेलू और प्राकृतिक जड़ी–बूटियों का उपयोग करते रहे थे। परन्तु हर्बल दवाइयां और जड़ी–बूटियाँ बाँध के भराव में डूब गयीं। इन्ही परिस्थितियों में यहाँ फाल्सीपेरम मलेरिया के प्रकरणों में भी खूब वृद्धि दर्ज की गई, इसके कारण अगस्त–नवम्बर 1996 में डूब प्रभवित गावों में 150 लोगों की मृत्यु हुई। मलेरिया शोध संस्थान, जबलपुर के नारायणगंज विकासखंड के प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र (मंडला जिला) के अंतर्गत बरगी बाँध के कारण डूब प्रभवित गावों में मलेरिया के प्रकरणों में वृद्धि और उससे होने वाली मौतों के मामले दर्ज होने पर अक्टूबर–नवम्बर 1996 में यहाँ के 20 गावों में इस स्थिति के कारणों की जांच की गई. इसके लिए बुखार से प्रभवित और उनके सम्बन्धियों के रक्त के नमूने इक्कठा किये गए. रक्त नमूनों की जांच से पता चला कि 70 फ़ीसदी लोगों को इससे पीड़ित थे। इनमे से 90 फ़ीसदी प्लासमोडियम फाल्सीपेरम से प्रभावित थे। यह परिणाम सामने आने के बाद जनसमूहों में रक्त जांच का काम किया गया। जिससे पता चला कि 39 फ़ीसदी नवजात शिशु और 62 प्रतिशत गर्भवती महिलाओं में मलेरिया का पेरासाईट मौजूद था। 2 से 9 साल के 80 फ़ीसदी बच्चों में बढ़ा हुआ प्लीहा पाया गया। मलेरिया की इतनी बड़ी पैमाने पर मौजूदगी का कारण

एनोफिलीस कल्सिफेसिया और एनोफिलीस लुवियाटिलिस थे, जिन्हें केवल निगरानी या तात्कालिक उपचार; क्लोरोक्वीन–1500 प्रिमाक्वीन–45एम्जी और डीडीटी के दो छिडकाव से भी नहीं दबाया जा सका। इसलिए यहाँ पर मलेरिया के उपचार और उसके स्रोतों पर नियंत्रण पाने के लिए के लिए एक स्थाई, सघन और ठोस रणनीति की जरूरत है।

क्या सिखाता है बरगी के विस्थापन का इतिहास्!

बरगी बताता है कि बड़े बाँध या कोई भी बड़ी परियोजनाएं जो एक छोटे समूह, छोटे गाँव, छोटे जंगल या स्थानीय पर्यावरण को नुकसान पहुचांती हैं, वे व्यापकता में मानवता और मानव समाज का भला नहीं कर सकती हैं। व्यापक समाज, ख़ास तौर पर मध्यमवर्गीय समाज को यह समझना होगा कि आज के विलास और सुख के लिए आने वाले कल की बलि नहीं चढ़ाई जा सकती है। हमें भविष्य के प्रति भी जिम्मेदार होना होगा। 20 सालों से ज्यादा समय से बरगी के विस्थापितों के हकों की लड़ाई लड़ रहे राजकुमार सिन्हा के मुताबिक सरकार ने मूल सवालों को हमेशा नज़रंदाज़ किया और संकट का आंकलन करने में असक्षम रही। नीति बनाने वाले बार–बार यह दुष्प्रचार करते रहे कि आन्दोलन या सही पुनर्वास के लिए संघर्ष कर रहे लोग या संगठन विकास विरोधी हैं। बाँध के नाम पर विकास की प्रक्रिया को रोका जाता है, और ये संघर्ष करने वाले आदिवासियों या गाँव के लोगों को पिछड़ा ही बनाए रखना चाहते हैं। पर यह सच नहीं है। जब बरगी में लोग संगठित होना शुरू हुए तब तो बाँध बन चुका था। किसी आन्दोलन या समूह ने इसके निर्माण में बाधा नहीं पंहुचाई। तब भी यह 16 साल में पूरा हुआ और लागत 10 गुना बढ़ कर 600 करोड़ तक पंहुच गई। कितनी जमीन डूबेगी, कितने गाँव डूबेंगे, कितने लोग प्रभवित होंगे, इससे कितना अनाज उत्पादन बढ़ेगा या कितने क्षेत्र में सिंचाई की सुविधाएं मिलेंगी ये सारे आंकलन या दावे तो गलत ही निकले। लोगों की जमीन के लिए बाज़ार की कीमत से 13 गुना कम मुआवजा तय किया गयाए उन्हें रहने के लिए जमीन नहीं दी गई। 1 एकड़ से लेकर 500 एकड़ तक जमीन अधिग्रहित की गई पर किसी को जमीन के एवज में जमीन नहीं दी गई हर गाँव में जाकर सरकार के नुमाइंदों ने लोगों से वायदा किया कि हर परिवार के एक सदस्य को नौकरी दी जायेगी और भी बहुत से झूठ हैं इस विनाशकारी विकास के पीछे। जब लोग संगठित होना शुरू हुए तब तक यह सारा विनाश और बर्बादी हो चुकी थी। कौन कहता है कि लोगों ने बाँध का विरोध किया। इन्ही डूब वाले गावों के सैकडों रहवासियों ने खुद बाँध के निर्माण में मजदूरी का काम किया उन्होंने खुद अपने कन्धों पर बड़े–बड़े पत्थर लाद कर दो–दो सौ मीटर ऊपर चढ़ाए। अब लोग कहते हैं कि हमें अपनी कब्र का निर्माण खुद अपने हाथों से किया है। इन परिस्थितियों में संगठन बना और संघर्ष शुरू हुआ! क्या यह संघर्ष गलत है? जिन आदिवासियों ने अपने जीवन की पूरी सुरक्षा, संभावनाएं और संसाधन इस तथाकथित विकास के नाम पर होम कर दिए, उन्हें तो केवल झूठ और धोखा ही मिला है न!

(विकास संवाद सर्वेक्षण रिर्पोट)

संदर्भ ग्रंथ

क्रम	ग्रंथ/पुस्तक का नाम	लेखक
1.	प्राचीन भारत की संस्कृति व सभ्यता	दामोदर धर्मानंद कोसबी
2.	कहे जन सिंगा	डॉ. श्री राम परिहार
3.	अमर सागर	संकलन – बाबूलाल सेन
4.	तीसरी फसल (एव्हरीवन्स लव्स ए गुड ड्राउट)	पी. साईनाथ
5.	प्राचीन भारत	राधाकुमुद मुखर्जी
6.	बिग डेम एण्ड बिगर क्वेश्यन्स	हिमांशु ठक्कर
7.	निमाड़ी संस्कृति और साहित्य	वसन्त निरगुणे
8.	वाटर लाइन्स	अमिता बाविस्कर
9.	प्रोग्रेस : एट हूज कास्ट	वाल्टर फर्नाडिस एवं अन्य
10.	कला की जरुरत	अंर्स्ट फिशर
11.	भारतीय सभ्यता की निर्मिति	भगवान सिंह
12.	भाखड़ा – परत दर परत एक पड़ताल	श्रीपाद धर्माधिकारी
13.	भीलों की सामाजिक व्यवस्था	एम–एल वर्मा
14.	बिग डेम – डिसप्लेस्ड पीपुल	संपादक – ईनाक्षी गांगुली ठुकराल
15.	यह कैसा सार्वजनिक उद्देश्य	इक्वेशंस
16.	परसीविंग फिंगर्स	जे. स्वामीनाथन
17.	कठघरे में लोकतंत्र	अरुंधती रॉय
18.	भीली कथाएं	गोविंद गेहलोत
19.	गोंड देवलोक	डॉ. धर्मेन्द्र पारे
20.	हमारा संविधान	सुभाष काश्यप
21.	ए विलेज अवेट्स डूम्सडे	जयदीप हार्डिकर
22.	प्रतिनिधि शायरी	'मजाज' लखनवी
23.	भील समाज : कला एवं संस्कृति	डॉ. सी. एल. शर्मा
24.	मानव और संस्कृति	श्यामाचरण दुबे
25.	यह हमारा स्वदेश है	इक्वेशंस
26.	परम्परा, इतिहास – बोध और संस्कृति	श्यामाचरण दुबे
27.	मानव सभ्यता का विकास	रामविलास शर्मा
28.	भील जनजीवन और संस्कृति	डॉ. अशोक डी. पाटील
29.	दि रिवर एण्ड लाइफ	संजय संगवई
30.	साफ माथे का सच	अनुपम मिश्र
31.	कहां गए वो लोग, विकास और विस्थापन	पर्सपेक्टिव
32.	आशीष तो होता ही देने के लिए है	आशीष जिंदाबाद टोली
33.	समय और संस्कृति	श्यामाचरण दुबे
34.	देश की बात	सखाराम गणेश देउस्कर